ISSN No : 2583-3855
anuswaar@gmail.com

अनुस्वार

साहित्य एवं कला की त्रैमासिक पत्रिका

सदस्यता आवेदन

सदस्यता आवेदक का नाम ______________________________

पूरा पता पिन कोड सहित ______________________________

ईमेल आईडी ____________________ **फोन नम्बर** ____________________

तारीख____________________

हस्ताक्षर

मूल्य :

सामान्य प्रति : **150 रुपये**,

वार्षिक मूल्य : **600 रुपये**,

द्विवार्षिक मूल्य : **1000 रुपये**

आजीवन सदस्यता : **6000 रुपये**

भुगतान के लिए :

India Netbooks Pvt. Ltd.

RBL Bank, Noida

A/c No : 409001020633

IFSC : RATN0000191

ISSN No : 2583-3855

अनुस्वार

साहित्य एवं कला की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष : 3 मूल्य : 150/- अंक : 12 अक्टूबर-दिसम्बर 2023

सलाहकार मंडल

सलाहकार संपादक
डॉ. प्रेम जनमेजय
डॉ. एस.एस.मुद्गिल
डॉ. सुशील कुमार त्रिवेदी

प्रबंध संपादक
डॉ. मनोरमा

कार्यकारी संपादक
कामिनी

मुख्य संपादक
डॉ. संजीव कुमार

प्रकाशक एवं स्वामी
डॉ. संजीव कुमार

प्रकाशकीय/संपादकीय कार्यालय : 'अनुस्वार', सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301 गौतमबुद्ध नगर (दिल्ली एनसीआर)
मुद्रण कार्यालय : बालाजी ऑफसेट, (न्यू-एम-28), 1/11844, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
वितरण कार्यालय : इंडिया नेटबुक्स प्रा. लि., सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301 गौतमबुद्ध नगर (दिल्ली एनसीआर)

© **स्वत्वाधिकार** : मुख्य संपादक : डॉ. संजीव कुमार

आवरण चित्र : शुभ्रामणि
आवरण एवं पुस्तक सज्जा : विनय माथुर

मूल्य : सामान्य प्रति : 150 रुपये
वार्षिक मूल्य : 600 रुपये
द्विवार्षिक मूल्य : 1000 रुपये
आजीवन सदस्यता : 6000 रुपये

भुगतान के लिए :
IndiaNetbooks Pvt. Ltd.
RBL Bank, Noida
A/c No : 409001020633
IFSC : RATN0000191
Paymtm No : 9893561826

नोट : भुगतान करने के उपरान्त रसीद के साथ अपना पता और फोन नं. हमें 9873561826/9810066431 पर व्हाट्सअप करें।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन का कोई भी हिस्सा, किसी भी रूप में या किसी भी प्रकार से इलेक्ट्रॉनिक, मशीनी या फोटोकॉपी या रिकॉर्डिंग द्वारा प्रतिलिपित या प्रेषित नहीं किया जा सकता।

डॉ. संजीव कुमार, सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301 गौतमबुद्ध नगर (दिल्ली एनसीआर) द्वारा स्वयं के स्वामित्व में प्रकाशित बालाजी ऑफसेट, (न्यू-एम-28), 1/11844, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा-110032 से मुद्रित।

संपादक : डॉ. संजीव कुमार

अनुक्रम

मुख्य संपादक की ओर से	डॉ. संजीव कुमार	7
पाठकनामा		9
आवरण कथा		8
कलाक्षेत्रे		9
विशिष्ट व्यक्तित्व : डॉ. रामदरश मिश्र		12
चिंतनधारा		
रामदरश मिश्र का होना	हरिशंकर राढ़ी	11
रामदरश मिश्र की कविता 'अनुभव की बहुरंगी और आत्मीय दुनिया'	डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी	18
सहज कहानियों का आत्मीय जगत	महेश दर्पण	26
रामदरश मिश्र के उपन्यास : जनधर्मी मूल्यदृष्टि	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ	31
पानी के प्रचारी : प्रतिबद्धता का सर्जनात्मक रूप	डॉ. ज्ञानचंद गुप्त	40
अपने लोग : आस्था और यथार्थ का द्वंद्व	विनय	48
दूसरा घर : प्रवासी जीवन की अतरंगी पहचान	आलोक गुप्त	55
आग की हँसी	पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु	58
मैं तो यहाँ हूँ जीवन दर्शन के उद्गाता : कवि रामदरश मिश्र	डॉ. वेद मित्र शुक्ल	64
ग्रामीण परिवेश से जुड़े वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र	विनोद पाराशर	69
कविता में समय के सवाल	राजा खुगशाल	71
नारी शक्ति और वर्तमान स्थिति	मनीषा आवले चौगांवकर	73
मैं कवि हूँ, क्या यह व्यंग्य नहीं...!	डॉ. दामोदर खड़से	75
हिन्दी व्यंग्य में लेखन और समसामयिकता के आदर्श प्रश्न	जवाहर चौधरी	79
संवाद		
मैंने अपने आँगन में कच्ची जमीन छोड़ रखी है	ओम निश्चल से बातचीत	82
यात्रा-संस्मरण		
प्रकृति के साथ (शिलांग यात्रा)	डॉ. रामदरश मिश्र	98
कथा-कहानी		
माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो	रामदरश मिश्र	106
काला हंस	देवीशरण भट्ट	113
एक था मंगलू	जगदीश चंद चौहान	118

मिर्ची के रंग

एक बार मिल तो लें	आचार्य राजेश कुमार	121

स्वास्थ्य साहित्य

क्या आप जानती हैं कि सवाईकल से कैसे बचें?	डॉ. आराधना सिंह बुंदेला	124

विधि साहित्य

भारतीय न्याय संहिता 2023 भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता	सन्तोष खन्ना	125

कविता/ग़ज़ल

रामदरश मिश्र की कविताएँ, आर.पी. शर्मा 'महरिष' की ग़ज़लें, आराधना सिंह बुंदेला की कविताएँ		129

पुनश्च

देवयानी उपन्यास केंद्रित	राजेश्वर वशिष्ठ	133

पुस्तक समीक्षा

'अहल्या' फनी मोहंती जी का मार्मिक काव्य संग्रह	विजय कुमार तिवारी	143

साहित्य समाचार

इंडिया नेटबुक्स एवं बीपीए फाउंडेशन सम्मान/पुरस्कार 2023		146
14वां राष्ट्रीय बाल साहित्यकार सम्मेलन	रिपोर्ट : मधु माहेश्वरी	148

अंततः

किसी दल की बैसाखी नहीं थामने वाले मेरे रामदरश मिश्र	प्रेम जनमेजय	151

मुख्य संपादक की कलम से

अनुस्वार लगातार तीन वर्षों से आपकी सेवा में प्रस्तुत की जा रही है। हमें प्राप्त सूचना, संदेशों एवं पत्रों के माध्यम से आपकी अभिरुचि ज्ञात होती रही है, और हमें हर्ष है कि आपने इस पत्रिका को विशेष पत्रिका के रूप में अपनी मान्यता दे दी है। इसी पृष्ठभूमि में अनुस्वार का यह 12वां अंक आपके समक्ष प्रस्तुत है।

अनुस्वार के 11 अंक पाठकों में निःशुल्क वितरित किए गए हैं। लेकिन पाठकों से अपेक्षा है कि पत्रिका के सृजन में प्रतिभागी बनें, और पत्रिका की सदस्यता ग्रहण करें; इस हेतु सदस्यता आवेदन पत्र पत्रिका के प्रारंभ में उपलब्ध करा दिया गया है।

विगत तिमाही में अनेकानेक गतिविधियाँ समक्ष आती रहीं और हमे उनमें शरीक होते रहे। इन उल्लेखनीय कार्यक्रमों में आपके संपादक को विधि भारती परिषद द्वारा 'साहित्य भारती पुरस्कार', उदयपुर की सलिला संस्था द्वारा 'साहित्य श्री पुरस्कार', जयपुर साहित्य संगीति द्वारा 'गुलाबी नगरी सम्मान' एवं संपर्क संस्थान द्वारा 'साहित्य श्री' पुरस्कारों से अलंकृत किया गया।

अपने वक्तव्यों में हमने रेखांकित किया कि बच्चों में हिंदी की पुस्तकों के प्रति अपेक्षा का भाव नहीं दिखता। अतः अभिभावकों का यह धर्म हो जाता है कि वे बच्चों के सही चरित्र निर्माण के लिए उन्हें ज्ञानवर्धक पुस्तकें पढ़ने के लिए उपलब्ध कराई जाएँ, उन्हें विभिन्न गैजेट से दूर किया जाए जो अपनी रेडियोधर्मिता के फलस्वरूप न केवल अस्वस्थ कर रहे हैं, अपितु विचारमंथन द्वारा कुविचारों को भी फैला रहे हैं। जिसके लिए यह सुझाया गया कि बच्चों की किताबों के लिए अपने मंथली बजट से 2 प्रतिशत का प्रावधान किया जाए। तदनुसार यदि 20 हजार रु. का मंथली बजट बनता है तो उसमें 400 रु. का प्रावधान पुस्तकों एवं समाचारों के लिए समीचीन प्रतीत होता है। इससे न केवल बच्चों में हिंदी साहित्य का ज्ञानवर्धन होगा अपितु पाठकों की संख्या में भी वृद्धि होगी। ऐसा एक सुझाव मैंने दिया कि अन्य कोई उपहार दिए जाने की बजाए आपस में जो उपहार बांटे जाए, उनमें पुस्तकों का प्रयोग किया जाए।

एक विशिष्ट साहित्यकार के व्यक्तिगत एवं सामाजिक परंपरा के अंतर्गत हम उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की प्रस्तुति करते हैं। इस बार हमारे सबसे वयोवृद्ध साहित्यकार 101 वर्षीय डॉ. रामदरश मिश्र जी का कृतित्व एवं व्यक्तित्व शामिल किया गया है। डॉ. रामदरश मिश्र जाने-माने साहित्यकार हैं। उन्होंने कविता, कहानी, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और समालोचना आदि विधाओं में अनेकों पुस्तकें लिखी हैं। उनका बहुविधागत सृजन सराहनीय एवं अनुकरणीय है। हम उनके बारे में उनके कृतित्व के कुछ अंश इस अंक में प्रस्तुत कर रहे हैं।

आशा है आपको यह प्रयास सफल लगेगा। उपरोक्त स्तंभों एवं संदर्भों के अतिरिक्त पत्रिका के स्थाई स्तंभ यथावत लिखे गये हैं। जिसमें कविता, कहानी, लोककथा, चिकित्सा साहित्य, विधि साहित्य, आदि विशेष सामग्री भी हैं। इन्हीं शब्दों के साथ अनुस्वार का यह 12वां अंक पाठकों को समर्पित है। आपकी टिप्पणियाँ और सुझावों से हम अनुग्रहीत हैं। कृपया हमें फीडबैक अवश्य दें।

डॉ. संजीव कुमार

आवरण-कथा

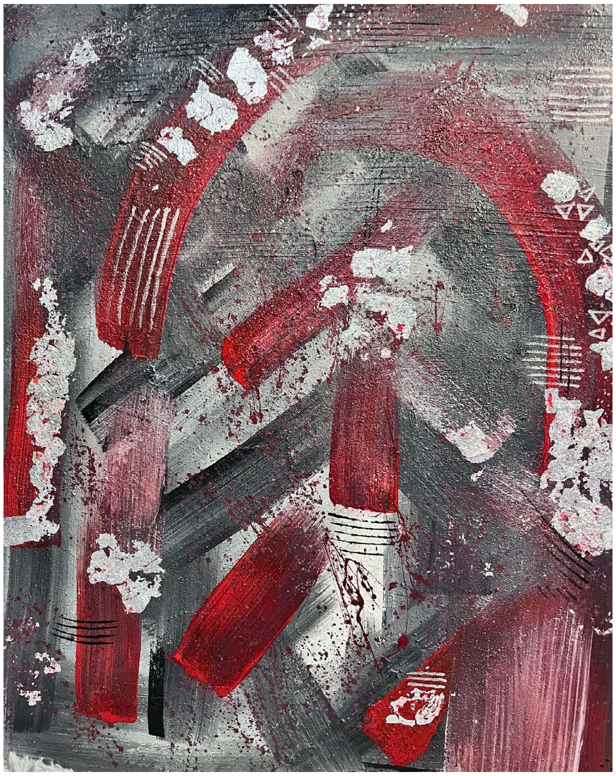

आवरण-कथा

प्रस्तुत आवरण का चित्रांकन वातावरण के सिद्धांत पर आधारित है। साहित्य में विधाओं के अनेकों वर्ग है जिसमें साहित्यकार सृजन करते हैं किन्तु इनका विरचन निर्मित प्रक्रिया में होता है। यही बात चित्र में अंकित किया गया है।

शुभ्रामणि : एक परिचय

शुभ्रामणि एक अमूर्त कलाकार हैं। उनकी प्रेरणा किसी विचार, प्रकृति, वस्तु, भावना या किसी उद्देश्य में छिपी होती है। रंगों और आकारों के माध्यम से कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करना उसे एक ऐसी स्वतंत्रता प्रदान करता है जो कई बार शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं की जा सकती है। अमूर्त कला एक ऐसा माध्यम है जिसमें कलाकार को रंगों के सहारे नए-नए आयाम, नए-नए चित्र बनाने का अवसर मिलता है और हर बार उसकी कला एक अनोखापन लेकर उभरती है। ऐसा ही कुछ नया करने का एहसास और प्रयास शुभ्रामणि की कला का आधार है। एक सलाहकार कम्पनी में काम करते हुए एक कुशल गृहिणी के साथ-साथ अपने खाली समय का सदुपयोग वह अपनी कलात्मक एवं काव्यात्मक अभिव्यक्तियों के द्वारा करती हैं। वह जहाँ एक कलाकार हैं, वहीं एक कवयित्री भी हैं।

चित्र-कथा

चित्र-कथा

चरितम रघुनाथस्य सतकोटि प्रविस्त्रम।
भगवान राम के चरित्र का विस्तार सत
कोटि तक है।
यह कलाकृति प्रभु राघवेंद्र व श्री
हनुमान जी के प्रेम, समर्पण पर आधारित है।
प्रभु श्री राम स्वयं धर्म की प्रतिमूर्ति है
और श्री हनुमान जी उस धर्म की पूर्ण व्याख्या।

नीतिका देव : एक परिचय

नीतिका का जन्म व पालन पोषण राजस्थान में हुआ है, इस प्रदेश की सौम्यता, सरलता और स्थिरता को इनकी कलाकृतियों में पाया जा सकता है।
कला के प्रति इनका आकर्षण इनके द्वारा कृतियों में सुंदरता के माध्यम से परिलक्षित होता है।
फ्रीडा काहलो के जीवन और कार्य के बारे में पढ़ना इनके जीवन का एक बड़ा बदलाव था व साथ ही साथ कला के प्रति नए आयाम और संभावनाएं भी विकसित हुई हैं।
नीतिका ने एक एकल प्रदर्शनी में अपना काम प्रदर्शित किया जिसका नाम “तावांग- द हिडन पैराडाइज” था, यह प्रदर्शनी ऑल इंडिया फाइन आर्ट और शिल्प सोसायटी (एआईएफएसीएस), नई दिल्ली जुलाई 2018 में लगाई गई थी।

डॉ. रामदरश मिश्र

डॉ. रामदरश मिश्र को किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। वह एक ऐसा व्यक्तितव है कि उन्हें समकालीन प्रायः समस्त साहित्यकार नमन करते हैं।

एक सौ एक वर्षीय डॉ. मिश्रा लगभग समस्त विधाओं में युवा अवस्था से ही सृजनशील रहे हैं। वह हृदय से सरल एवं रिश्तों को सम्मान देने वाले संवदेनशील कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, निबंधकार आलोचक आदि पर समान श्रेष्ठता के साथ लिखते रहे हैं। उनकी अनेकों कृतियाँ पुरस्कृत हुई हैं। उन्हें अनेकों पुरस्कार भी प्राप्त हुए हैं। जिसमें साहित्य अकादमी, हिंदी अकादमी दिल्ली, ऑर्थर्स गिल्ड उत्तर प्रदेश हिंदी संसीान एवं के.के. बिरला फाउंडेशन द्वारा अलंकृत किया गया है।

वह एक अनुकरणीय व्यक्तित्व हैं आइये देखते हैं—

चिंतनधारा

रामदरश मिश्र का होना

–हरिशंकर राढ़ी

शताब्दी की देहरी पर खड़े वरिष्ठतम साहित्यकार प्रो. रामदरश मिश्र। बस, अभी परसों अचानक ख़्याल आया कि हमारे समय में रामदरश मिश्र का होना भी कितना जरूरी और आश्वस्तिप्रद है! यह बात मस्तिष्क में पहले क्यों नहीं आई? कुछ पल के लिए इस प्रश्न ने शून्य कर दिया। लेकिन, आदमी के मन में कभी-कभी कितनी अजीब-सी बातें आ जाती हैं ना! भला साँस लेते समय कोई सोचता है कि वह साँस ले रहा है? वह कहाँ सोचता है कि जिस वायु को अपने फेफड़ों में भर रहा है, वह प्राणवायु है, ऑक्सीजन है। पता तो उसे तब चलता है, जब वह ऑक्सीजन के सिलिंडर खरीदता है। यहाँ तो नीम हैं, पीपल हैं, अशोक हैं, आम हैं, 'आम के पत्ते' हैं। प्राणवायु वहीं से चली आ रही है और हम अनजाने में अपने फेफड़ों में 'धीरे-धीरे' भरे जा रहे हैं, जिए जा रहे हैं। फिर मैंने रामदरश मिश्र जी के होने के बारे में क्यों सोचा? कहीं मुझ सहित बहुत से लोगों की साहित्यिक ऑक्सीजन इसी पीपल से तो नहीं आ रही!

अभी परसों ही, चार जून को, उन्हीं के यहाँ, उन्हीं के हाथों, उन्हीं पर हमारे द्वारा संपादित पुस्तक 'समकालीन अभिव्यक्ति : रामदरश मिश्र एकाग्र' का लोकार्पण था। दो साल पहले हमने उन पर केन्द्रित 'समकालीन अभिव्यक्ति' का अंक निकाला था। वह कोरोना काल था, विवशताओं के चलते उसका लोकार्पण आभासी पटल पर हुआ था। अब वही अंक पुस्तकाकार रूप में आया है। उसी का लोकार्पण!

पुस्तक लोकार्पण से पहले हम सब बैठे मिश्र जी से बातें कर रहे थे। कुछ लोग अभी नहीं आए हैं, इसलिए बातों का अवसर निकल आया है। वैसे, मिश्र जी से बातों के अवसर सायास नहीं निकालने पड़ते। वे सायास वाले व्यक्ति ही नहीं हैं। बिलकुल प्राकृतिक हवा-पानी की तरह। हल्के-हल्के बहते रहते हैं, बीच में किसी प्रसंग को याद करके जोर से हँसते हैं। साथ में माता सरस्वती जी बैठी हों तो बीच-बीच में अपनी बेबाक टिप्पणियों का तड़का लगाती रहती हैं। बस, मिश्र जी के होने की बात दिमाग में यहीं बजी। अभी तो मिश्र जी एक बड़े हादसे से होकर निकले हैं। इस उम्र में उसे बड़ा हादसा ही कहा जाएगा। फरवरी में यह पुस्तक आई ही थी कि मिश्र जी एक सुबह फिसलकर गिर गए थे। इस आयु में गिरना! लेकिन तमाम डर और शंकाओं से मिश्र जी की जिजीविषा, सकारात्मकता और साहित्य जीत गए। जिसने किसी को कभी गिराया न हो, वह गिरा थोड़े ही रह जाएगा। देखते-देखते ही उनकी प्रसिद्ध गजल की पंक्तियाँ याद आने लगीं-

किसी को गिराया न खुद को उछाला
कटा जिंदगी का सफर धीरे-धीरे।

बड़ा तिलिस्म है मिश्र जी का और उनकी इस गजल का। चूहा दौड़ और खरगोश दौड़ के तमाम मठाश्रयी साहित्यकार उनकी 'धीरे-धीरे' से हार गए। वे आज भी चले जा रहे हैं, ठहरे भी हैं और अपने 'धीरे-धीरे बनाए घर' में सुकून से हैं। उस घर पर साहित्यिक दस्तकें होती रहती हैं, कमरे में कविताओं और गीतों की गूँज बरकरार रहती है। स्नेह और अपनत्व की निश्छल बारिश होती रहती है। जो भी चाहे, भीग सकता है। लेकिन चाहना शुद्ध मन से होता है। कितना स्निग्ध मन है उनका, बिलकुल उन्हीं की कविताओं और कहानियों की तरह।

ओम निश्चल जी भी आ गए। आखिरी प्रतीक्षा उन्हीं

की थी। ज्यादा देर नहीं हुई है उन्हें भी। उनके आते ही मिश्र जी प्रसन्न हो जाते हैं। बड़ा सुखद संयोग बन पड़ा है, अब लोकार्पण हो जाए। अभी मिश्र जी को चोट से उभरे ज्यादा दिन नहीं हुए हैं। बहुत देर तक बैठ पाना उनके लिए सहज नहीं।

न जाने कितनी पुस्तकों-पत्रिकाओं का लोकार्पण उनके इसी कमरे में, उन्हीं के सदाशयी हाथों से हुआ होगा। मुझे तो लगता है कि उनके हाथ या तो साहित्यिक लेखनी पकड़ने के लिए उठे होंगे, या फिर शुभाशीष में। न जाने कितने लोग होंगे, जिन्हें ये दोनों मिले होंगे। लेकिन पहले मेरा मन उनकी लेखनी से निःसृत साहित्य से बँधा, जो अनेक विधाओं में निर्झर की तरह झरता रहा। उनके बारे में एक बड़ा कठिन-सा प्रश्न प्रायः खड़ा हो जाता है। यह है कि मिश्र जी का कवि रूप बेहतर है या गद्यकार का? न जाने जीवन में ऐसे बेमानी प्रश्न कहाँ से सिर उठाए चले आते हैं? यह तो वही बात हुई कि आपको बायीं आँख ज्यादा प्रिय है या दायीं? जब हमने मिश्र जी पर 'समकालीन अभिव्यक्ति' का एकाग्र अंक निकाला था, तब भी यह प्रश्न खड़ा हो गया था। यह बात अलग है कि उन पर लिखने वाले अधिकतर लेखकों ने उनके कविरूप को बेहतर माना था।

लेकिन मुझे पता नहीं क्यों यह अवधारणा बहुत हजम नहीं हुई। चलिए, कुछ देर को बहुमत के साथ हो लेता हूँ। उनके कविरूप बेहतर मान लेने में मुझे कोई गुरेज या संकोच नहीं है। निस्संदेह वे एक संवेदनशील, समय से जुड़े सरल कवि हैं। उनकी कविता में मानवता, प्रकृति, ग्राम्यांचल, समाज का अंतिम व्यक्ति मुखरित होता है। लेखकों ने यह भी तर्क दिया कि मिश्र जी को अब तक के समस्त बड़े सम्मान और पुरस्कार उनकी कविताओं पर मिले। काव्य-संग्रह 'आम के पत्ते' को व्यास सम्मान, 'आग की हँसी' को साहित्य अकादेमी सम्मान, और 'मैं तो यहाँ हूँ' को सरस्वती सम्मान मिला। इन संग्रहों की कविताओं से गुजरने, उनका आस्वादन करने तथा उन पर लिखने का सौभाग्य मुझे भी मिला है। जीवन की छोटी-छोटी संवेदनाओं से स्पंदित ये कविताएँ अकविता के इस युग में भी कविता होने का विश्वास पैदा करती हैं। लेकिन, इस आधार पर मिश्र जी के गद्य साहित्य को कमतर मान लेना दुखदायी, असंतोषजनक होगा।

मुझे कवि का गद्य बहुत लुभाता है। वह गद्य चाहे कथा-साहित्य हो या निबंध; होता है बहुत मीठा और स्पंदनयुक्त। जयशंकर प्रसाद, हरिवंश राय 'बच्चन' एवं प्रो. रामदरश मिश्र का गद्यलोक कहीं से कम प्रभाव का नहीं है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में तो 'गद्य कवीनां निकषा वदन्ति' कहा ही गया है। यही नहीं, वहाँ तो गद्यकार, कथाकार, लेखक को भी कवि ही कहने की परंपरा है। बाणभट्ट और दंडी की गणना कवि के रूप में की जाती है, जबकि इनकी ख्याति क्रमशः 'कादंबरी' और 'दशकुमार चरित' के आख्यान पर है। दंडी के पदलालित्य को अनुपम माना गया है। माना वह समय फंतासी कथाओं का था, किंतु आज भी गद्य की पठनीयता आधुनिक कविता से अधिक है। कुछ तो होगा जो इतने बड़े-बड़े आख्यानों को पढ़वा ले जा रहा है! आख्यान ही क्यों, निबंध भी कम मोहित नहीं करते, बशर्ते उनमें ज्ञान की गठरिया के बजाय संवेदना हो, प्रवाह हो, लालित्य हो और विषय से जुड़े रहने की शक्ति हो।

मिश्र जी के गद्य साहित्य की बात हो तो सबसे पहले उनके उपन्यास सामने आ खड़े होते हैं। 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' अपनी पृष्ठभूमि पर लिखी हुई जीवंत महागाथाएँ हैं। गोरखपुर जनपद में राप्ती और गोर्रा नदियों के कछार में स्थित मिश्र जी का गाँव इन नदियों के जलप्रलय का साक्षी रहा है। उसी गाँव में मिश्र जी का बचपन बीता, माध्यमिक शिक्षा तक मानसून की बाढ़ में उन्हीं नदियों में गले तक डूबकर अपने गाँव आना-जाना रहा। अभावों एवं असुविधाओं के उस त्रासदकाल की पीड़ा व परेशानी जिसने भुगती होगी, वह उस दर्द को जानेगा। मिश्र जी ने अपने उन्हीं अनुभवों को अनुभूतियों के साथ गूँथकर जो गाथा लिखी, वह उस काल को और दर्द को, वहाँ के सुख-दुख को बेहद मार्मिक व सकारात्मक मानसिकता के साथ प्रस्तुत करती है। यह

बात अलग है कि उनके इन दो उपन्यासों को कुछ लोगों ने सायास एवं सोद्देश्य आँचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखकर उन्हें सीमित करने का प्रयास किया। लेकिन, यह भी सत्य है कि जिस कृति को पाठक का प्यार मिल जाता है, जो उसे अपनी गाथा लगने लगती है, उसके विरुद्ध आलोचनाएँ और समीक्षाएँ कुछ नहीं कर पातीं।

इसके बाद तो मिश्र जी के उपन्यासों की जो आमद शुरू हुई, वह अपनी तमाम आलोचनाओं को दरकिनार करती हुई एक विस्तृत संसार बनाती गई। 'दूसरा घर' से चलकर हाल के वर्षों में लिखे गए आत्मकथात्मक उपन्यास 'एक था कलाकार' और 'एक बचपन यह भी' अपनी भाषा-शैली और कथानक की जीवंतता से पाठकों से बतियाते हुए लगते हैं। जहाँ 'एक था कलाकार' रक्त संबंधों की सूक्ष्म संवेदना को स्पर्श करता है, वहीं 'एक बचपन यह भी' की नायिका अपने साधारण जीवन एवं आत्मविश्वास के दम पर नारीशक्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

डॉ. रामदरश मिश्र जी आजीवन किसी वाद और झंडे के नीचे नहीं रहे। उनके साहित्य की विषयवस्तु आम आदमी रहा। वह उसके सुख में सुखी और दुख में दुखी होते रहे। उसकी पीड़ा और अधिकार को लेकर अपनी सशक्त लेखनी चलाते रहे। आमजन की बात करने वाले तमाम समकालीन लेखक किसी न किसी मठ-समुदाय से जुड़े रहे। पहले उनका एजेंडा निर्धारित होता, नीतियाँ निर्धारित होतीं और फिर उनमें से अधिकतर उन्हीं घोषणापत्रों के अनुसार अपना लेखन करते। कहना न होगा, इनमें से अधिकतर मठ वामपंथ से मान्यताप्राप्त थे, जिनकी नजर में सर्वहारा जन के कल्याण का ठेका सिर्फ उन्हें ही मिला था। यदि कोई उनसे लाइसेंस लिए बिना इस वर्जित क्षेत्र में घुसने का प्रयास करता तो उस पर हमला होना ही था। यह बात अलग जिज्ञासा की हो सकती है कि ऐसे लाइसेंसधारी लेखक स्वयं आमजन से कितना जुड़े रहे!

मिश्र जी की कहानियों का संसार कम बड़ा नहीं है। यह बड़ा ही नहीं, गहरा और गंभीर है, सोद्देश्य है। उनकी कहानियाँ जमीन पर उगी कहानियाँ हैं, जिनमें मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग एवं दलित-मजदूर वर्ग केंद्र में है। वे समाज की विसंगतियों को बखूबी उकेरना जानते हैं। 'सर्पदंश', 'सड़क', 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' ऐसी कहानियाँ हैं, जो किसी भी संवेदनशील-न्यायप्रिय व्यक्ति या सत्ता को हिला देने के लिए पर्याप्त हैं। रामदरश मिश्र समाज के हर उस वर्ग की आवाज उठाने का प्रयास करते हैं, जो किसी भी प्रकार से दबा, कुचला और पीड़ित है। यदि उनकी कहानियों के थीम और कथ्य की बात की जाए तो वे हाशिये पर खड़े हर मनुष्य की बात करते हैं। वर्ण व्यवस्था एवं सामंती प्रथा का क्रूरतम चेहरा देखना हो तो मिश्र जी की कहानी 'सर्पदंश' को जरूर पढ़ना चाहिए। इस कहानी में विडंबना और सामंतवाद का जो भयानक रूप दिखता है, वह किसी भी समतावादी व्यक्ति को बेचैन कर जाएगा। कहानी के मुख्य पात्र गोकुल का सर्पदंश से बच जाना, किंतु सामंती प्रथा के प्रतीक प्रधान के हाथों मारा जाना अपने आप में एक तीक्ष्ण व्यंग्य है, जो चीख-चीखकर समता और मानवता का आह्वान करता है।

वे स्त्री-विमर्श के नाम पर पौराणिक या ऐतिहासिक चरित्रों का नाम लेकर भाषण नहीं झाड़ते, अपितु वर्तमान समाज की किसी पीड़ित औरत के दुख-दर्द को इतनी शिद्दत से उभारते हैं कि उनका अंदाजे बयाँ अपने आप में एक स्त्रीवादी विमर्श बन जाता है और पाठक के मन में परिवर्तन का एक संदेश छोड़ जाता है। मिश्र जी किसी अहल्या, सीता या द्रौपदी के वकील बनकर नहीं खड़े होते। वे उन महिलाओं के साथ खड़े दिखते हैं, जो अपने घरेलू कार्यों को निपटाते हुए पुरुषों के हिस्से का भी काम कर रही हैं। समाज चाहता है कि वह पुरुष की देहरी पर नाक रगड़े, उससे सहायता की भीख माँगे और उसी पर आश्रित रहे। इसके लिए उसे भले ही अपने तन का सौदा करना पड़े। मिश्र जी की नायिका प्रेम में है, तो प्रेम करेगी, लेकिन अपने प्रेमी पति के जुल्मों को एक हद तक ही सहेगी। उसका स्वाभिमान जागृत है और प्रथम वरीयता पर है।

वाणी और कर्म की एकरूपता मानव चरित्र की एक आदर्श स्थिति है, जीवन की सरलता है। इसके उलट कुछ है तो वह पाखंड कहलाएगा। मिश्र जी के साहित्य एवं निजी जीवन में यह समता स्पष्टत: परिलक्षित होती है। वे उन लोगों में नहीं हैं, जो मंचों से या अपने लेखन में स्त्रीवाद की प्रखर वकालत करते हैं, लड़ने-मरने को तैयार हैं, किंतु अपने निजी जीवन में स्त्री को कोई महत्व नहीं देते। महत्व देते हैं तो किसी महिला की मांसलता को, किसी नवोदिता कवयित्री के तीखे नैन-नक्श को। जब अपनी पत्नी की बात आती है तो उसे अपने घर की चारदीवारी में कैद छोड़कर स्वयं विमर्श या पर्यटन पर निकल लेते हैं। मिश्र जी के यहाँ ऐसा नहीं है। मैं जब से उनके संपर्क में आया, हमेशा ही देखता रहा हूँ कि वे तमाम कार्यक्रमों में माता सरस्वती जी को साथ लिए रहते हैं। वय के इस वार्धक्य में भी वे साथ-साथ रहती हैं। अभी पिछले वर्ष 'सरस्वती सम्मान' के अर्पण समारोह में वे साहित्य अकादमी के सभागार में साथ आई थीं। इससे पहले दिल्ली के प्रगति मैदान में आयोजित शायद ही कोई विश्व पुस्तक मेला रहा हो, जिनमें मिश्र जी के साथ उनकी उपस्थिति न रही हो या किसी पुस्तक के लोकार्पण में वे प्रसन्नचित्त होकर सम्मिलित न रही हों।

मिश्र जी के आवास पर पहुँचते ही आँखें माता जी को तलाशने लगती हैं। वैसे तो वे मिश्र जी के साथ ही बैठी मिलती हैं, किंतु उम्र के नौ दशक पूरे कर लेने पर भी वे एक सफल गृहिणी की भाँति घर के कामों में लगी रहती हैं। जब वे वहाँ नहीं होती हैं तो मिश्र जी आवाज लगाते हैं-अरे सुनो, देखो कौन आया है! वे पूरी उत्कंठा से आती हैं और प्रसन्नता भर देती हैं, हँसते हुए आशीषों की झड़ी लगा देती हैं। ऐसा उस हर आगंतुक के साथ होता है जो प्राय: जाता रहता है, अनुराग से भरा हुआ जाता है। ऐसा हो नहीं सकता कि माता जी घर पर हों और वे स्वयं चाय-पानी लेकर न आएँ। इस उम्र में उन्हें चाय-पानी लाते देखकर संकोच होता है। पहले और भी होता था, लेकिन उनका स्वभाव जान लेने के बाद अब मना नहीं किया जाता, बस प्रसाद मानकर ग्रहण कर लेने में ही सुख होता है। अभी हमारी इसी पुस्तक के लोकार्पण के अवसर पर उनके हाथ का बना विशिष्ट हलवा सभी लोग खाते ही रह गए।

चाय-पानी के बाद मिश्र जी माता जी को बुलाकर अपने साथ बिठा लेते हैं। अब शुरू होती हैं माता जी की साहित्यिक टिप्पणियाँ, जो एक-दो वाक्य में किसी रचना या रचनाकार को ठिकाने लगाने के लिए पर्याप्त होती हैं। अच्छा है तो अच्छा, बुरा है तो बुरा। माता जी बहुत बेबाक और निर्भीक हैं, मिश्र जी संकोची हैं। लेकिन माता जी कुछ भी कहें, उनकी साहित्यिक सूझ-बूझ और हास्य-प्रियता की प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी। मैं कई बार उनके यहाँ बैठे-बैठे सोचता और सीखता हूँ कि स्त्री विमर्श तो घर से ही शुरू होना चाहिए। स्त्री विमर्श सिगरेट की ठूँठों के बिना भी हो सकता है, और शायद बेहतर!

सामान्यत : स्त्री विमर्श की बात हो, या आधुनिक साहित्य में स्त्रियों पर केंद्रित साहित्य की बात हो या स्त्रीलोक में हुई प्रगति की, तो लोग बड़े या मध्यम शहरों की स्त्रियों की ओर मुखातिब होते हैं। कितनी महिलाएँ नौकरीपेशा हुई, कितनी ऊँचे पदों पर पहुँचीं, कौन-कौन राजनीति और प्रशासन में बुलंदी के झंडे गाड़ रहीं, यह उनकी प्रगति का मानदंड होता है। टीवी-दूरदर्शन पर आने वाली महिलाएँ भी प्रगतिशीलता की प्रतीक हैं। फिल्मी नायिकाएँ तो खैर एकमात्र मानक बनी ही हैं। साहित्य जगत में अच्छा लेखन कर रहीं महिलाएँ सम्मान की पात्र हैं ही, बड़े आलोचकों एवं संपादकों की गणेश परिक्रमा से स्थापित लेखिकाएँ भी इक्कीसवीं सदी की प्रतिमान हैं। इसमें आपत्ति वाली कोई विशेष बात नहीं है, किंतु डॉ. रामदरश मिश्र के साहित्य की कई नायिकाएँ अंतिमजन के समाज से आती हैं। वे नगरीय भी हैं, किंतु उनके ग्राम्यलोक में ऐसी अनेक नारियाँ हैं, जो सदियों से चले आ रहे पितृसत्तात्मक समाज, लिंग आधारित भेदभाव और शोषण के विरुद्ध खुली चुनौती हैं। ज्यादा नहीं, यदि मिश्र जी की एक कहानी 'एक औरत : एक जिंदगी' की अकेली औरत भवानी का साक्षात्कार कर लिया जाए तो

स्त्री विमर्श ही नहीं, नारीशक्ति का संपूर्ण दर्शन सामने आ जाता है। पुरुषवादी समाज में भवानी फावड़ा लेकर जमीन का सीना तोड़ती दिखती है, और वह भी डंके की चोट पर! नगरीय-उपनगरीय परिवेश की स्त्री विषयक कहानियों की बात करें तो 'आखिरी चिट्ठी', 'एक भटकी हुई मुलाकात', 'डर' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं, जो पढ़ने के बाद जेहन में देर तक गूँजती रहती हैं। किशोर

डायरियाँ सामने पड़ती हैं। यदि आप रामदरश मिश्र जी के साहित्य से प्रेम करते हैं तो ये विधाएँ भी आपको ठहराएँगी। पिछले डेढ़ दशकों में मिश्र जी की शायद ही कोई ऐसी पुस्तक आई हो, जिससे गुजरने का सौभाग्य मुझे न मिला हो। उनकी अनेक पुस्तकों पर मैंने अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया दी हैं, समीक्षाएँ लिखी हैं, अलग-अलग, दूर-सुदूर तक की पत्रिकाओं में वे समीक्षाएँ प्रकाशित हुई

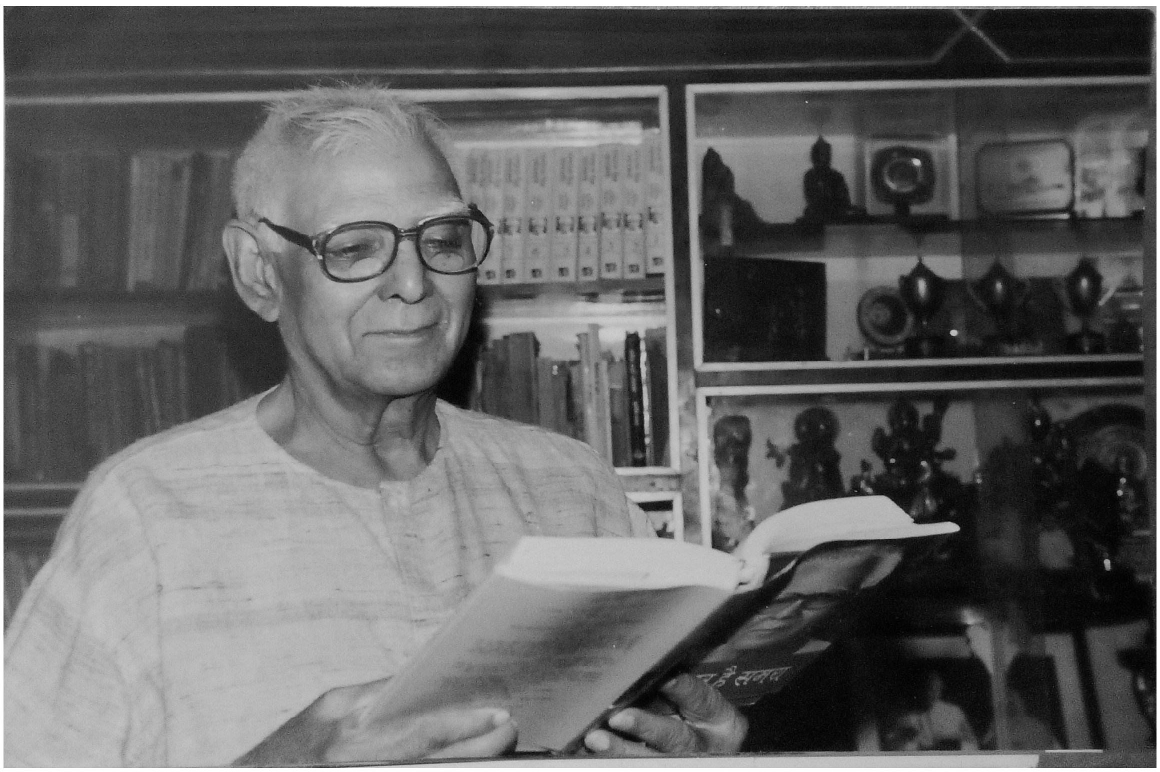

मनोविज्ञान, एक विकलांग लड़की का मानसिक संत्रास एवं वर्णन की कुशलता देखनी हो तो 'सीमा' कहानी ही पर्याप्त है। इन कहानियों के नाम से अब तक मिश्र जी के कई स्वतंत्र संग्रह आ चुके हैं।

मिश्र जी के गद्यलोक की यात्रा इतनी जल्दी समाप्त होने वाली नहीं है। अभी तो इसमें कई पड़ाव हैं। उपन्यास और कहानी से आगे बढ़ते हैं तो आलोचना, निबंध, ललित निबंध, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा संस्मरण और

हैं। स्नेह की लालसा में हर महीने-दो महीने मिश्र जी के घर पहुँच जाता हूँ और वे अपनी कोई सद्यप्रकाशित पुस्तक, अपने हस्ताक्षर सहित सस्नेह भेंट कर देते हैं। हैरानी होती है, इस वय में भी वे पुस्तकों के प्रति, पुस्तकों के प्रकाशन के प्रति इतना अनुराग रखते हैं। पुस्तकें देते ही नहीं, कितनी बार देखा है कि एकदम से नवोदित लेखकों की पुस्तकें ससम्मान लेते भी हैं। उन्हें पढ़ते हैं और पढ़कर प्रतिक्रिया भी देते हैं। अब भला एक

नवोदित लेखक को इससे अधिक क्या चाहिए?

मेरी दृष्टि में अब तक मिश्र जी के दो यात्रा संस्मरण आए हैं- 'घर से घर तक' और 'देश यात्रा'। वे स्वयं स्वीकारते हैं कि वे यात्रा भी हैं। फिर भी जो यात्राएँ की हैं, उनमें साहित्यिक यात्राएँ अधिक हैं। अधिक नहीं हैं तो भी उन्होंने उसे साहित्यिक यात्रा बना दिया है। बात उनके निबंधों या ललित निबंधों की करें तो पिछले दशक में आए तीन संग्रहों ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। 'बबूल और कैक्टस', 'बाहर-भीतर' तथा 'नया चौराहा' से मैं भलीभाँति गुजरा हूँ। इन संग्रहों के निबंधों में चिंतन, विमर्श, आलोचना, लालित्य और सकारात्मक सोच का अद्‌भुत गुंफन मिलता है। वे छोटी-छोटी बातों को जिस सूक्ष्मता से पकड़ते हैं, वही पाठक को वृहत्तर रूप से बाँध लेती हैं। 'मेरा कमरा' निबंध में वे कमरे से आत्मीयता का बोध तो कराते ही हैं, एक ऐसे सूक्ष्म अवयव को पकड़ते हैं जो उपभोक्ता उपेक्षित कर चुका होता है। वे कितना सत्य कहते हैं कि ग्राम्यांचलों में पुरुष का कोई अपना कमरा नहीं होता। उसके लिए कमरे की अवधारणा ही नहीं होती थी। मिश्र जी का मन उन सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति स्नेह एवं धन्यवाद से भरा हुआ है, जो उनके आसपास हैं और उन्हें कितना भी छोटा सुख देते हों। अपने कमरे के प्रति वे आभारी हैं; चाकू, कलम, मेज जैसी वस्तुओं पर उन्होंने कविताएँ लिखी हैं, इन सबका मानवीकरण किया है।

मिश्र जी का बचपन खाँटी ग्रामीण परिवेश में बीता है, इसलिए वे ऋतुओं की पदचाप सुनकर ही पहचान लेते हैं। वैसे तो वसंत उनकी प्रिय ऋतु है, किंतु अन्य ऋतुओं के वर्णन में कहीं से पक्षपात नहीं दिखता। उनकी यह वसंतप्रियता उनसे मिलने और उन्हें पढ़ने वालों को बखूबी पता है। फागुन, वसंत पंचमी, वसंत ऋतु पर उन्होंने खूब लिखा है, हाल के वर्षों तक लिखा है। 'बाहर वसंत आ गया है' वासंतीपन की इतनी अच्छी कविता है कि इसी शीर्षक से डॉ. सविता मिश्रा के संपादन में मिश्र जी की कविताओं का एक संग्रह ही आया। वसंत उन्हें बाहर भी दिखता है और भीतर भी। जनवरी, 2012 में उनकी लिखी कविता 'वसंत पंचमी' की अंतिम पंक्तियाँ देखें तो मन उजास से भर जाता है :

तो बाहर अभी पगध्वनि
भले न सुनाई दे रही हो
मेरे भीतर तो वसंत आ चुका है।

कोरोना काल में मिश्र जी की सुपुत्री प्रो. स्मिता मिश्रा ने साहित्यिक दृष्टि से एक अत्यंत उपयोगी काम किया था। उन दिनों उन्होंने मिश्र जी की लंबी साहित्यिक यात्रा के अनेक स्वनामधन्य सहयात्रियों के संस्मरण सुनकर लिखे और फेसबुक पर पोस्ट किए थे। 'सुरभित स्मृतियाँ' नाम से धारावाहिक के रूप में फेसबुक पर पोस्ट ये संस्मरण अब इसी नाम से पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होकर आए हैं। सबसे अच्छी बात है कि नाम के अनुरूप इस संस्मरण में केवल सुरभित स्मृतियाँ ही हैं, मिश्र जी ने कहीं भी किसी के विषय में कुछ भी कटु नहीं बोला है।

मिश्र जी स्वयं कहते हैं कि उम्र के वर्तमान दशक में अब बड़े वितान की रचनाएँ नहीं हो पातीं, हालाँकि इसी अवधि में छोटे ही सही, दो उपन्यास भी आए। अब वे कविताएँ, डायरियाँ और छोटे आकार की रचनाएँ देते हैं। लेकिन यह कम नहीं है कि वे न तो रुके हैं और न स्वयं को दुहरा रहे हैं। उनकी डायरियाँ निजी होकर भी साहित्यिक एवं सामाजिक परिवेश की झाँकी हैं। शीर्षक ही देख लेने से मिश्र जी की सकारात्मकता का परिचय मिल जाता है। अब उनकी एक डायरी का शीर्षक देखिए- 'विश्वास जिंदा है'। जब गद्य में उनकी पुस्तकें अभी तक आ रही हैं तो उनका कवि पीछे कैसे रह जाएगा? ओम निश्चल के संपादन में उनकी कविताओं का एक संग्रह 'प्रतिनिधि कविताएँ' राजकमल प्रकाशन से आया है तो दूसरा इंडिया नेटबुक्स की प्रताप सहगल द्वारा प्रस्तावित शृंखला 'कवि के मन से' के अंतर्गत आया है। दोनों में ही उनकी चुनिंदा कविताएँ हैं, एक साथ हैं।

मिश्र जी ने व्यंग्य नहीं लिखे हैं। व्यंग्य अर्थात स्वतंत्र व्यंग्य निबंध जिसे अब व्यंग्य विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। उनके साहित्य से गुजरते हुए मुझे कई

बार व्यंग्य की गहरी उक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ मिलीं। हो सकता है मैंने अपने व्यंग्यकार होने के स्वभाव के कारण ऐसा नोटिस किया हो, बाकी लोगों ने इसे नजरअंदाज कर दिया हो। न जाने ऐसे कितने व्यंग्य वाक्य मिले जिसे मैंने स्वभावत: रेखांकित कर लिया था। उनका रचना संसार लोक से जुड़ा है, जमीन से जुड़ा है, इसलिए व्यंग्य आना ही था। और व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने पर लगा कि उनके साहित्य में व्यंग्य कम नहीं है, हालाँकि मेरे इस कथन पर सहजता से विश्वास कुछ लोग ही कर पाएँगे।

मिश्र जी ने निश्चित रूप से स्वतंत्र व्यंग्य लेखन नहीं किया है, किंतु उनकी रचनाओं में कई जगह व्यंग्य का घातक प्रहार मिलता है। उनका व्यंग्य न तो जान-बूझकर लिखा होता है और न तो शब्दों की हेराफेरी होता है। उसका उद्देश्य छिछला हास्य पैदा करके मनोरंजन करना भी नहीं होता। वस्तुत: एक संवेदनशील कवि होने के कारण मिश्र जी पाखंड, विसंगतियों और चारित्रिक विरोध ाभास से बहुत विचलित होते हैं। उनकी रचनाओं में सत्य के धरातल पर लोकजीवन के दंश उभरते हैं और वे बिना किसी रंग-रोगन के सहज भाव से उसे प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार के सहज उद्यम में परिस्थितिजन्य व्यंग्य और चारित्रिक व्यंग्य (irony of situation and irony of character) स्वयं उभर आते हैं।

साहित्यिक शैली और गुणों से प्रेरित होना अच्छा होता है, किंतु उनकी नकल मारना नहीं। साहित्यिक चरित्र के साथ-साथ मिश्र जी से यदि कुछ सीखने की लालसा हो तो उनकी सकारात्मकता जरूर सीखी जानी चाहिए। थोड़ा-सा और सीखना चाहें तो उनका 'घर' सीख लेना चाहिए। उनका घर ऐसा वितान है, जो एकांत होते हुए भी सबसे जुड़ा हुआ है। वह घर वही है जो सुकून देने वाला घर होता है, जिसके दरवाजे इतने खुले होते हैं कि बार-बार खोलने नहीं पड़ते। वह घर बहुत धीरे-धीरे बनता है, बनाना पड़ता है। यह घर वह घोंसला होता है, जो चिड़िया एक-एक तिनके से बनाती है; आजकल बाजार में बिकने वाला नकली घोंसला नहीं होता।

उस घर में हम मिश्र जी के साथ बैठे हुए हैं। ओम निश्चल जी भी आ गए हैं। अब विलंब क्यों, 'समकालीन अभिव्यक्ति : रामदरश मिश्र एकाग्र' पुस्तक के लोकार्पण का कार्यक्रम शुरू कर देना चाहिए। ऐसी मिश्र जी की इच्छा है और कुछ हद तक शारीरिक विवशता है। माता जी भी आकर मिश्र जी के साथ आकर बैठ जाती हैं। डॉ. वेद मित्र शुक्ल जी संचालन का दायित्व सँभालते हैं। हम सभी मिश्र जी और माता जी के सान्निध्य में पुस्तक लोकार्पण का सुख लेते हैं। संक्षेप में पुस्तकों पर बोलने का क्रम चलता है। अपने वक्तव्य में वे कहते हैं कि उन्होंने कभी किसी से आग्रह नहीं किया कि उन पर लिखे, उन पर अपनी पत्रिका का एकाग्र अंक निकाले या उन पर कोई पुस्तक संपादित करे। सब कुछ लोगों ने स्वयं अपनी प्रीति के वश में होकर किया। उनके इस कथ्य में संदेह की गुंजाइश जरा-सी भी नहीं। हमने भी उन पर एकाग्र अंक स्वत: निकाला था। वे उपस्थित-अनुपस्थित सबका धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। एक सुखद संध्या अवसान की ओर बढ़ती है।

मैं बैठा सोच रहा हूँ। मिश्र जी का होना प्रतीत होता है, मिश्र जी का होना मुखर होकर बोलता है। उनके सामने बैठना, उनको सुनना और उनसे बतियाना एक युग के सामने बैठने, सुनने और बतियाने के बराबर है। इस घर में कितनी साहित्यिक गोष्ठियाँ हुई होंगी, कितनी पुस्तकों का विमोचन हुआ होगा, कितने साक्षात्कार हुए होंगे, कितनी रचनाएँ बनी होंगी, कितनों ने आशीष और स्नेह पाया होगा, कितनों को माता जी के हाथ का हलवा मिला होगा, चाय मिली होगी तथा साथ में बेबाक स्नेह और टिप्पणियाँ। सब कुछ कितना अपना रहा होगा कि यह आभास ही नहीं हुआ कि मिश्र जी का होना कितना जरूरी है! साहित्य एवं संबंधों का यह अश्वत्थमूल कितना छायादार है, वही समझेगा जो इसकी छाया में बैठेगा। वाकई, मिश्र जी का होना एक बहुत बड़ा होना है।

रामदरश मिश्र की कविता
'अनुभव की बहुरंगी और आत्मीय दुनिया'

–डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी

छायावादोत्तर विभिन्न काव्यान्दोलनों के तीव्र प्रवाह में बहे बगैर अपनी जमीन से जुड़े रहकर नित नवीन पथ का संधान रामदरश मिश्र की कविता के परिसर को व्यापक और बहुआयामी बनाता है। छायावादी संस्कार वाला मिश्र जी का आरंभिक भावुक मन प्रकृति की छवि से लेकर मानवीय सुषमा तक उड़ान भरता हुआ जब मार्क्सवादी दृष्टि से संवलित होता है तब वह प्रयोगवादी काल-खण्ड में भी जीवन-बोध की रचनायें करता है। व्यष्टि से लेकर समष्टि के सुख-दुख और अभाव की पीड़ा से लेकर संघर्ष के उल्लास तक को अपनी कविता का विषय बनाता है। नई कविता को परिवेश के अनुभव का सेतु मानते हुए गाँव, कस्बा अथवा शहर के जिये हर क्षण पर अपनी संवेदनात्मक दृष्टि टिकाता है। विचारों के विदेशी चिथड़ों से बना आधुनिकता का कोट पहनने की अपेक्षा अपनी ठाठ फकीरी को सर्वोत्तम मानता है। अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का साहित्यकार कहलाने की दौड़ में गमले का फूल बन जाने के खतरे से परिचित वह अपने को खास जमीन में उगा हुआ पेड़ कहता है–"मैं गमले का फूल तो नहीं/कि एक सुरक्षित कमरे से/दूसरे कमरे में रख दिया जाऊँ/मैं तो पेड़ हूँ एक खास जमीन में उगा हुआ।" (रामदरश मिश्र रचनावली, पृष्ठ V)। मिश्र जी पर क्षेत्रीयता, देशीयता अथवा सतही होने का आरोप लगे तो लगे लेकिन उन्हें अपनी इस जमीन को छोड़कर पराये आकाश में टँगना स्वीकार्य नहीं है। दूर सागर पर भटकना अथवा चिकने पत्थरों के बीच जी सकना उनके लिए कठिन है और इसीलिए वे अपनी खास जमीन पर अक्सर लौट आते हैं। "यह धूल/यह रेत/ये खेत/ये कच्चे रास्ते/ये मिट्टी के मकान/मुझसे लिपटकर मुझे गंदा कर देते हैं/लेकिन इनसे छूटकर/चिकने पत्थरों के बीच कब तक जी सकता हूँ/लौट आया हूँ मेरे देश/तुम्हारी मैली पगडंडियों से तुम्हारे पास।" (वही, पृष्ठ X)। कहना न होगा कि इसी जमीन ने मिश्र जी को अनुभव की बहुरंगी और आत्मीय दुनिया प्रदान की है जिससे संश्लिष्ट सामाजिक जीवन की सर्वाधिक सक्षम कलात्मक अभिव्यक्ति संभव हुई है।

रामदरश मिश्र की कविता समय-साहचर्य की उपज है। वह विभिन्न आन्दोलनों के झंडे के नीचे नहीं आयी लेकिन समय के साथ गतिमान होती हुई नये-नये अनुभवों, मूल्यों, प्रश्नों और शिल्पगत मुहावरों से सहज जुड़ती हुई अपनी जमीन और मानवतावादी दृष्टि से खिसके बिना परिवर्तन की नवता को अपने में आत्मसात करती रही। यही कारण है कि 'पथ के गीत' से लेकर 'दिन एक नदी बन गया' तक की यात्रा में उनकी कविता नये-नये रंग धारण करती गई है। उनका हर काव्य-संग्रह दूसरे से कहीं न कहीं भिन्न है तो इसका कारण बदलता हुआ समय, बदलता हुआ अनुभव और बदलती हुई समझ है। इसीलिए उनके पास जीवन के ठोस और वैविध्यपूर्ण अनुभवों का एक भरा-पूरा संसार है। जिसमें एक ओर भाव-संवेदनों के शीतल और पारदर्शी निर्झर हैं तो दूसरी ओर विचार और विवेक के उन्नत शिखर। एक ओर कल्पना की उड़ान के लिए उन्मुक्त आकाश है तो दूसरी ओर यथार्थ के मरूस्थल का दुर्गम विस्तार।

एक ओर प्रकृति का मनोहर संसार है तो दूसरी ओर मानव-मन की जटिलता का पारावार। मिश्र जी की काव्य-चेतना का वस्तु-जगत धीरे-धीरे मनस्तत्व की ओर गतिमान हुआ है तो इसमें भी समय की बदलती धारा की ही भूमिका है।

मिश्र जी की कविता का आरंभिक चरण भावावेग की कविताओं का है। जिसमें सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, रोमांस, कौतूहल, जिज्ञासा और प्रश्नाकुलता की भरमार है। छायावादी कवियों की भांति अतिशय कल्पनाशीलता और वायवीयता भी है। वैसे तो 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ', 'पक गई है धूप', 'कंधे पर सूरज' तथा 'दिन एक नदी बन गया' जैसे काव्य-संग्रहों में भी प्रकृति विविध रूपों में उपस्थित है लेकिन उसके प्रति कौतूहल और जिज्ञासा का जो भाव उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'पथ के गीत' में है वैसा उनमें नहीं है। मिश्र जी की कविता की यही विशेषता उन्हें छायावादी कवियों के सन्निकट लाती है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की भाँति उस पार के संसार के बारे में जानने की अभिलाषा उनमें भी जगती है–

''दूर पर्वत-पंथ पर जब साँझ घिरती धूल से भर दिवस ढल जाता वनों में चीड़ के तरु पात मरमर पूछता तब मैं स्वयं से पंथ के उस पार क्या है? मूक चोटी से निरन्तर झर रहा है एक निर्झर इन निराशा के क्षणों में पंथ मिल जाता न वन में नव किरण की राह सी तब कौन छा जाती नयन में।।''

(वही, पृष्ठ 9)

'पथ के गीत' का आरंभ 'चल रहा हूँ' शीर्षक गीत से हुआ है जिससे यह ध्वनित है कि चलना ही जिन्दगी है। मिश्र जी को विश्वास है कि उर्मियों के बन्धनों में भी निरंतर बढ़ने से ही युग का जागरण गतिमान होगा। कहना न होगा कि उनकी काव्य-चेतना का यह एक महत्वपूर्ण प्रस्थानक है जिसे लेकर वे अपनी काव्य-यात्रा के हर मोड़ पर विद्यमान रहते हैं। इससे ही निराशा में आशा और अनास्था में आस्था की किरण जगमगाती दिखाई देती है। जीवन को एक पहेली मानते हुए भी मिश्र जी अन्य चिंतकों, दार्शनिकों, तत्वज्ञानियों की भाँति उसका रहस्यावरण भेदने की अपेक्षा जीवन-संघर्ष तथा अविराम कर्म-साधना पथ पर बढ़ते रहने को ही महत्व देते हैं। इसे ही वे 'जिन्दगी' के रूप में परिभाषित भी करते हैं। उनका मानना है कि तूफानों से लड़ने वाला जीवन कभी हारता नहीं है। इसी विश्वास से वे फूल अथवा शूल की परवाह किये बगैर अपने पाँव आगे बढ़ाते रहे हैं–

''रेत पर लिखता गया हूँ मौन अन्तर की कहानी घाटियों में सो रहा रव बाँध झंझा की जवानी राह पर चलना अगर तो प्रीति क्या है भीति क्या है? फूल हो या शूल हो मैं पाँव धरता जा रहा हूँ''

(वही, पृष्ठ 5)

'जिन्दगी की राह पर', 'अभय जीवन', 'जीवन कभी न हारा', 'सबने जीवन को दान दिया' आदि कविताओं में जीवन की जिस संघर्षशीलता को उभारा गया है उसमें अनुभूत सत्य ही अधिक है। जीवन के बारे में सोचने की दृष्टि मिश्र जी को उनके परिवेश के जीवन से ही प्राप्त हुई है। जाहिर है उनका आरंभिक जीवन, दुःख, अवसाद, अभाव और गरीबी का रहा है। पग-पग पर उन्हें विघ्न-बाधाओं तथा समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है लेकिन उनका जुझारू मन संघर्ष-पथ पर आगे बढ़ते हुए उन सबको अपने अनुकूल बनाने में सफल हुआ है–

''सघंर्षों का जीवन मेरा, पुण्य न जाना पाप न जाना पथ पर शूल मिले अनजाने, मैंने छूकर

फूल बनाया जिसको तुम सागर कहते हो, मैंने हँसकर कूल बनाया तट पर मौन खड़े रहने वालों क्या जानो जीवन क्या है?

जिस पग को तुम समझ न पाये उसको मेरी भूल बनाया। मैंने तो चलने के पथ पर प्रतिक्षण प्रति स्वर को अपनाया किरणों में वरदान, तिमिर के चरणों में अभिशाप न जाना।''

(वही, पृष्ठ-77)

रामदरश मिश्र की कविता का सीधा संबंध जीवन से है–खासकर सामाजिक जीवन से। सामाजिक जीवन-यथार्थ और उसके मूल्यों में उनकी गहरी आस्था रही है। समता मूलक समाज की स्थापना और वर्ग-भेद मिटाने की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही उन्होंने मार्क्सवाद की ओर अपना झुकाव किया। वहाँ से ऊर्जा ग्रहण की लेकिन उसे उपजीव्य नहीं बनाया बल्कि जीवन को समझने की एक दृष्टि के रूप में अपने विचारों में शामिल किया। चूँकि उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन को वस्तु के रूप में नहीं बल्कि अन्तर्दृष्टि के रूप में अपनाया इसीलिए उनकी कविता पर मार्क्सवाद कभी हावी नहीं हुआ–''मैं मार्क्सवादी हूँ किन्तु मार्क्सवाद दृष्टि बनकर जीवन को देखने-समझने में मेरी मदद करता है, वह विचारधारा के रूप में मेरी कविता पर लदता नहीं है। इसलिए मैं उससे आतंकित भी नहीं हूँ, उसमें कैद भी नहीं हूँ।'' (रामदरश मिश्र रचनावली, खण्ड-ग्यारह पृष्ठ 231)। उनका यह भी मानना है कि कविता विचारों से नहीं अनुभवों से बनती हैं। अनुभवों के लिए मिश्र जी के पास गाँव से लेकर महानगर तक का परिवेश है। खेत-खलिहान, नदी-झरने से लेकर जिन्दगी की भागमभाग और आपाधापी का रेगिस्तान है। स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हुए मूल्यधर्मी समय से लेकर राजनीति से दूषित और जटिल होते गये समय तक फैला हुआ एक सुदीर्घ काल-बोध है। लोक-सम्पृक्ति के स्वरों में समाहित लोक-जीवन की विभिन्न छवियाँ हैं–

''पिछले पहरों में गूँज उठे खेतों में हलवाहों

के स्वर नीहार-जाल सा गया हमारा भिनसारे का स्वप्न बिखर बज उठी घंटियाँ बैलों की, भीगी निशि में भैरवी जगी मेरे तंद्रिल सपनों में भी वे ही स्वर काँप रहे थर-थर ढल रहा याद ज्यों अलस चाँद, बीते वियोग की व्यथा लिए चक्की के स्वर पर काँप रहा यह ग्राम-वधू का करुण गीत खुल पड़ा चाँदनी का शतदल झर पड़ा सुरभि सा स्वर्ण शीत।''

(रचनावली, खण्ड-1, पृष्ठ-70)

रामदरश मिश्र की कविता लोकधर्मी है। लोक के विभिन्न तत्वों से उनकी कविता का संसार निर्मित हुआ है। यह बात अलग है कि नागार्जुन आदि प्रगतिशीलों की भाँति उसका रंग प्रगाढ़ नहीं है। विस्तृति और अभिव्यक्ति की सपाटता भी नहीं है। मिश्र जी की कविता में लोक-जीवन और उसका संघर्ष अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता लेकर आया है लेकिन उनकी कविता के भीतर प्रवेश करते ही पाठक उस जमीन को पा लेता है जिस पर कविता का भवन निर्मित हुआ है। जाहिर है मिश्र जी किसी आन्दोलन से न तो चिपके और न ही उसके प्रवर्तक बने। प्रवक्ता बनना भी उन्हें स्वीकार्य नहीं था। इसीलिए उनकी कविता में वह मुखरता नहीं है जो किसी आन्दोलन के झंडाबरदारों में रही है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वे अपनी युगधारा से अप्रभावित रहे हैं। लोक की मौजूदगी नागार्जुन-केदार से कम रामदरश मिश्र के यहाँ भी नहीं है। लोक उनकी काव्य-यात्रा में सहयात्री हैं। वह उनकी काव्य-चेतना को खाद-पानी देता है। विचारों को संवेदनाओं से जोड़ने में मददगार बनता है। वह उनके लिए मुहावरों का खजाना जुटाता है। ऐसा इसलिए संभव हुआ है कि उनके जीवन का एक बड़ा लम्बा समय लोक-परिवेश में बीता है। खेती-किसानी, वर्षा-धूप में व्यतीत हुआ है। तीज-त्यौहार, होली-दिवाली की उत्सवता से सराबोर हुआ है। यही कारण है कि महानगर के बदलते परिवेश, बदलते प्रश्नों और मूल्यों तथा आपाधापी और भागमभाग के बीच उनका रचनाकार लोक जीवन से ऊर्जा और रस ग्रहण करता रहा है। लोक का आँचल ही छाया और विश्राम देता रहा है। उसकी स्मृति उन्हें उनके बचपन में पहुँचाती रही है–

''लगता है।
अब भी मैं बच्चा हूँ
अपने गँवई गरीब मित्रों से खेल रहा
डूब रहा तीसी-सरसों के फूले वन में
धूसर सड़कों पर कुत्तों के संग लोट रहा
भागता मदरसे से छिप-छिपकर
भूख से तड़पते चेहरे अब भी ताजा हैं
सपनों में आते हैं मरे हुए मित्र अभी
लगता है अब भी मैं क्वाँरा हूँ
कस्तूरी मृग सा आकुल सौरभ के पीछे
हरसिंगार झरता है
हरकली महकती है
चाँदनी बरसती है
अब भी मन के भीतर।

(वही, पृष्ठ-131)

वातानुकूलित कमरों से झाँककर 'लोक' को अपनी कविता का विषय बनाने का जो फैशन चला है उसमें स्वाभाविकता, सहजता और विश्वसनीयता के लिए क्या उतनी ही संभावना होगी जितनी लोक को अपने में जीने से संभव है? जिसने भूसे की बछिया से गाय को जुगाली नहीं देखी होगी उसकी कल्पना में वह दृश्य उपस्थित कैसे होगा? और अगर अन्त: चक्षु से हो भी जाए तो क्या उसकी अभिव्यक्ति सक्षमता वैसी ही होगी जैसी मिश्र जी की कविता 'उपलब्धि' में

संभव हुई है। 'पेन्हाने' और 'बिसुकने' शब्दों के माध्यम से उन्होंने जीवन की व्यर्थता की सटीक अभिव्यक्ति की है। यहाँ भूसे की बछिया का प्रयोग अदभुत है–

''भूसे की बछिया से
पहनाती हुई गाय सी मेरी रातें
अपने को निचोड़-निचोड़कर
कुछ और बिसुंक गईं।''

(वही, पृष्ठ-122)

सर, सरिता, सिन्धु, बादल की जितनी और जिस रूप में आवृत्ति रामदरश मिश्र के यहाँ है उतनी और उस रूप में आवृत्ति उनके किसी अन्य समकालीन के यहाँ नहीं है। इसका कारण भी उनका 'लोक' से जुड़ाव ही है। 'लोक' के बिना रचना को सार्थक नहीं मानने वाले मिश्र जी के जीवन में नदी, नालों, ताल-तलैयों के लिए जो जगह है उसे उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। खेती-किसानी में जल की जो भूमिका है, जल से उत्पन्न जो समस्यायें हैं, अतिवृष्टि और अनावृष्टि की जो मार है उसे मिश्र जी ने आम आदमी की संवेदना से जोड़कर सामान्यीकृत कर दिया है। 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' उपन्यासों में भी उन्होंने जल और उससे संबंधित विभिन्न समस्याओं को ही केन्द्र में रखा है। कछार-जीवन से जुड़े हुए उनके सुख-दुख के अनन्त अनुभवों के केन्द्र में जल भी है जिसके बारे में उनका स्वयं का कहना है–''पानी का भी मेरे लेखन में केन्द्रीय बिम्ब बन जाना अत्यंत स्वाभाविक था। मेरा गाँव कछार में बसा है। जो दो-दो नदियों से घिरा है और जहाँ हर साल बाढ़ आती थी। नदियों के अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े नाले बहते रहे हैं। तमाम ताल-तलैया, गड्ढे-पोखर पानीमय होकर हमारे जीवन से जुड़े रहे हैं। बरसात में यह कछार आकाश से लेकर धरती तक पानीमय हो उठता था। पानी के अनेक रंग-रूप थे–मूसलाधार पानी, रिमझिम पानी-पखवारे तक लगातार बरसता पानी, उमस को चीरकर ठंडक की फुहार बन झरता पानी, लगातार बरसता हुआ नंगी देह में कंपन भरता पानी, खपरैलों से चूता पानी, फिर नदी में उफनता पानी, बाँध तोड़कर नदी-नालों में फैलता पानी, फिर बाढ़ बनकर फसलों को निगलता पानी पानी पानी पानी....। यही पानी आँखों में पानी बन जाता था जिसमें प्रतिबिम्बित होने लगते थे कछार की भूख, अभाव, दरिद्रता, पीड़ा के कितने ही छिन्न-भिन्न चित्र।'' (वही, पृष्ठ)। यही कारण है कि उनकी रचना में पानी विभिन्न भूमिकाओं में दृश्यमान है।

पावसगीत–'सावन की साँझ', 'शरद के बादल', 'बादल चले जा रहे', 'बदरवा रे', 'बादल घेर घेर मत बरस', 'बादरवा बरसे', 'यायावर बादल', 'रात भर बारिश' आदि गीतों/कविताओं में रामदरश मिश्र ने वर्षा की विभिन्न छवियाँ तथा मुद्रायें अंकित की हैं। कहीं बादलों की कालिमा और भयंकरता डराने की भूमिका में है तो कहीं जेठ की तपती धरती को आशा बँधाने की भूमिका में कहीं विरह की टीस बढ़ाने के लिए उनका उद्दीपन के रूप में चित्रण है तो कहीं तरु तृण लता गुल्म को नवजीवन देने के सन्दर्भ में उनका वर्णन हुआ है। 'बादल और सागर' शीर्षक गीत में आषाढ़ का पहला बादल समुद्र से तिरता हुआ भूभाग की ओर आते हुए सागर से पानी भर लेने का आग्रह करता है। इसके लिए वह जो कारण गिनाता है उससे धरती से अम्बर तक भीषण गर्मी की दारुण व्यथा-कथा तो व्यंजित होती ही है मानसून के पहले बादल से चराचर की अपेक्षा और आशा की पूर्णता का विधान भी रचता हुआ दृष्टिगत होता है–

''भरने दो पानी, भरने दो पानी देख क्षितिज की ओर चिता सी जलती है प्यासी चिनगारी जलते जीवित प्राण, मचलते धुएँ उठ रहे बारी-बारी पश्चिम से पूरब तक झक-झक छींट रहा आग समीरण उन्मुख लोचन कहती 'आ घन' देख रही नभ धरती रानी भरने दो पानी।''

(वही, पृष्ठ-61)

तपती धरती और प्यासे आसमान के बीच उठते आषाढ़ के पहले बादलों की ओर आशा भरी निगाहों से देखती और हाथ उठाकर बुलाती कृषक-बालिकाओं का सहज-स्वाभाविक चित्र (कृषक बालिकाएँ खेतों में आज न हँस-मुख रहती होंगी 'आओ जलधर आओ जलधर' हाथ उठाकर कहती होंगी' पृष्ठ-61) खींचने में मिश्र जी की सफलता का कारण उनका लोक का अविभाज्य अंग होना रहा है। उन्होंने अनावृष्टि और अतिवृष्टि की भीषण त्रासदी देखी है। बादलों का अत्यधिक कृपालु होना भी संकटदायी है। पानी अत्यधिक बरसने की स्थिति में एक ओर कवि का हृदय काँपता है तो दूसरी ओर खेत में धान काँपते हैं। पेड़-पौधे, पंछी सब काँपते हुए से प्रतीत होते हैं इसीलिए मिश्र जी का बादलों से आग्रह है–

''बादल घेर-घेर मत बरस कि मेरे लाज-बसन
डूबे रह-रह काँपे हिया हवा में,
खुले खेत में धान
आँखों में परदेशी काँपे, रोम-रोम में बान
याद का बाँध उठा है टूट कि बिरहा के ये
छन डूबे काँप रहे हैं फूल कदम के,
काँपे पियर कनेर
नीब-शिखा पर पंछी काँपे, मेड़ पर झरबेर
लोटती काली छाहों बीच कि मेरे गोर सपन
डूबे।''

(वही, पृष्ठ 240)

सूरज और धूप भी रामदरश मिश्र की काव्य-संवेदना के केन्द्रीय बिम्ब हैं। 'कंधे पर सूरज' उनका काव्य-संग्रह है। सूरज के प्रति उनकी रागात्मकता का कारण भी उनका लोक-जीवन से जुड़ाव ही है। उन्होंने यह स्वीकार किया है–''सूर्य कहीं बचपन से ही मेरे भीतर धँस चुका था। किसान का पुत्र होने के कारण मैं सूरज का साथी बन गया था। खेतों, खलिहानों की दुनियाँ में सूरज मेरे साथ-साथ चलता था। रोशनी देकर फसलों को पकाता हुआ भी और खेत खलिहान में काम करते समय मेरे सिर पर चढ़कर जलाता हुआ भी। जो रोशनी देगा वह जलायेगा भी। यह जलाता हुआ सूरज किसानी जिन्दगी के लिए अपरिहार्य सत्य और सौन्दर्य बन गया था।'' (वही, पृष्ठ XI) इसीलिए कंधे पर उगा हुआ सूरज उनके लिए जीवन-मूल्यों का विधायक भी है। चूँकि वह उनके भीतर से उगा है इसीलिए वे उसे फेंक नहीं सकते–''कितनी बार चाहा कि/कंधे पर से पटक दूँ इस सूरज को/लेकिन हर बार लगा/कि यह सूरज ऊपर से बैठा नहीं है/कंधे पर उगा है मेरे ही भीतर से/और मैं इसे नहीं/कहीं अपने को ही लगातार ढो रहा हूँ।'' (वही, पृष्ठ 376)। कहना न होगा कि रामदरश मिश्र इस सत्य के सूरज को अपनी सर्जना में लगातार ढोते रहे हैं।

'पक गई है धूप' में अनुभूति की अखण्डता भिन्न-भिन्न रूप धारण कर उभरी है। इस काव्य-संग्रह के तीन खण्ड हैं–'होने न होने', 'समय जल सा', और 'मेरा आकाश'। पहले खण्ड में संक्रान्त अनुभव की कविताएँ हैं जिसमें पारस्परिक सहयोग, कटाव और टकराहट सभी कुछ है जिसे आज का हर संवेदनशील व्यक्ति ढोने के लिए अभिशप्त है। दूसरे

खण्ड में वस्तु-जगत और मन के बीच के तनाव को व्यक्त करने का प्रयास है। व्यापक फलक पर लिखी गई तीसरे खण्ड की कविताओं की अनुभूतियों में सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्बन है। जाहिर है–'पक गई है धूप' काव्य-संग्रह सन् साठ के बाद का है। यह मोह भंग और उससे उपजी अनास्था, अस्वीकार, टूटन-घुटन, पलायन तथा यौन स्वेच्छाचार वाली काव्य-प्रवृत्ति का दौर है।

समय-साहचर्य के कारण इन प्रवृत्तियों से मिश्र जी का यह काव्य-संग्रह अप्रभावित नहीं रह सका है लेकिन मोह भंग के नाम पर यौन प्रसंगों से सन्दर्भित अश्लीलता, जिज्ञासा और निषेध में रस लेने की प्रवृत्ति यहाँ नहीं है। इस संग्रह की कविताओं में अभिव्यक्त, टूटन, घुटन, निराशा, अकेलापन और अस्वीकार बोध सामाजिक जीवन सन्दर्भों का है जिसमें मूल्यों का निषेध नहीं मूल्यों के टूटने की पीड़ा है। रिश्तों में गरमाहट की जगह घुस आये अपरिचय से मानव मूल्यों का क्षरण चिन्ता का विषय है।

आमने-सामने मकान तो हैं लेकिन बीच की सड़क पार कर आत्मीयता का संसार रचने की फुर्सत किसी को नहीं है। आमने-सामने मकान/बीच में एक सड़क है/मकान रोज देखते हैं एक-दूसरे को/किन्तु सड़क पार नहीं करते/सड़क से गुजरते हैं लोग/जिन्हें न सड़क जानती है न मकान।'' (वही, पृष्ठ-260)। महानगरीय सभ्यता की त्रासदी तो यह है कि कोई भी किसी को उसके असली नाम से नहीं पुकारता। ऐसे में अपना असली नाम भूल जाना भी अस्वाभाविक नहीं है–''अब कोई भी मुझे/मेरे नाम से नहीं पुकारता/असली नाम से/मगर मेरा असली नाम/ओह, वह तो अब/मुझे भी नहीं मालूम।'' (वही, पृष्ठ 268) 'महानगर में बसन्त', 'गलियाँ और सड़कें', 'और एक दिन', 'कहाँ है समाज', 'भाग्यशाली' आदि कविताओं में महानगरीय जीवन की त्रासदियों की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। 'लाशों के बीच-जीवित होने की पीड़ा' शीर्षक कविता में नगर अपनी विद्रूपता, संत्रास, भय, पीड़ा, ठगी और अजनबीयत के साथ उपस्थित है–

''कचहरियाँ बाजार-सी बजबजा रही हैं
न्याय-कक्षों की दीवारों पर
क्रॉस पर टँगी हैं
सत्य, अहिंसा और न्याय की ऋचायें
छाया में, चारों ओर
कुरसियों पर तख्तों पर
मुरदे बिछे हैं
जिनके बीच से
जीवित होने की पीड़ा लिये
गुजरते हैं कुछ लोग
मुरदों के हाथ फैले हैं
जिनमें चुपचाप नोट ठूस कर
अभ्यस्त लोग आगे सरक जाते हैं।''

(वही, पृष्ठ-256)

अपने अनुभवों को मानवतावादी दृष्टि से सृजित करने वाले रामदरश मिश्र बेहतर मनुष्य और बेहतर समाज की संकल्पना के कवि हैं। इसीलिए वे जीवन और समाज में व्याप्त हर प्रकार की कमजोरियों, न्यूनताओं, भ्रष्टाचारों तथा कुरूपताओं का विरोध करते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति परवर्ती रचनाओं में क्रमशः बढ़ती गई है। 'दिन एक नदी बन गया', 'जुलूस कहाँ जा रहा है', 'आग कुछ नहीं बोलती', 'बारिश में भीगते बच्चे' तथा 'ऐसे में जब कभी' काव्य संग्रहों में युगजीवी यथार्थ के सही अंकन और अव्यवस्था पर प्रहार के लिए व्यंग्य का सहारा लिया गया है।

लध्वाकारीय कविताओं में विसंगतियों और विडम्बनाओं के प्रति आक्रोश और तल्खी का लावा अधिक धधका है। 'दिन एक नदी बन गया' संग्रह की 'नदी बहती है' कविता अपने आकार में लघु होते हुए भी भ्रष्टाचार की चरम अभिव्यक्ति की कविता है–''हमेशा आकाश से झरती है एक नदी/और हमेशा ऊपर ही ऊपर कोई पी लेता है/धरती प्यासी की प्यासी रहती है/और कहने को आकाश से नदी बहती है।''

(वही, पृष्ठ-455)

इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि सम्पन्नता और विपन्नता के बीच की खाई और चौड़ी हुई है। अमीर और अधिक अमीर तथा गरीब और अधिक गरीब हुआ है। इतना ही नहीं अमीरों द्वारा उसकी गरीबी का मजाक भी उड़ाया जाता है।

हद तो तब हो जाती है जब दुर्गन्धयुक्त वातावरण में कच्ची दीवार की टूटी छाया में कुत्ता-बकरी के साथ रहने को अभिशप्त गरीब बेचारा सामने के राजमार्ग से गुजरते हुए हाथी-घोडों के जुलूस का जयगान करने के लिए विवश होता है–''बजबजाती हवाओं के बीच/कच्ची दीवार की टूटी छाया/उसके तले/उसी तरह बैठा हुआ वह/उसके साथ एक कुत्ता एक बकरी/और उसका साया/सामने के राजमार्ग से/बार-बार गुजरते/हाथी-घोड़ों के जुलूस की/वह जय बोलता है।''

(वही, पृष्ठ 460)

मिश्र जी की कविताएं यथार्थ कथन तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि वे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध प्रतिरोध की चेतना जगाने का कार्य भी करती हैं। इसी सन्दर्भ में उन्हें हमसे अच्छी धूल लगती है क्योंकि उसमें दमन के विरोध का साहस है–''कोई जितनी ही तेजी से कुचलता है/वह उतना ही ऊँचे उठती है/और दूर तक पीछा करती है मधुमक्खियों की तरह/हमसे तो अच्छी यह धूल ही है न/जो हर दमन का प्रतिरोध करती है। (वही, पृष्ठ 476)। मिश्र जी की प्रतीकाश्रित अभिव्यंजना कभी-कभी सीधी ललकार बन जाती है। 'आग कुछ नहीं बोलती' संग्रह की इन पंक्तियों में धनपशुओं के प्रति यही भाव व्यक्त हुआ है–''चारों ओर का जल समेटकर/अगाध बने/अपनी गहरी चुप्पियों में डूबे सरोवर/तुम यकायक थर्रा क्यों उठे?/मैने तो एक छोटी सी कंकड़ी फेंकी थी।''

रामदरश मिश्र की कविता में अनुभव-वैविध्य तो है ही अभिव्यंजना पद्धति की विविधता भी है। उन्होंने अगर लध्वाकारीय कविताएँ लिखी हैं तो उनकी कुछ लंबी कविताओं ने भी उनके कवि सामर्थ्य को प्रमाणित किया है। उन्होंने छांदस रचना द्वारा अपनी काव्य-प्रतिभा का श्रेष्ठ निदर्शन किया है तो मुक्त छंद में भी अपने अनुभवों और विचारों को प्रकट करने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है।

अगर उन्होंने श्रेष्ठ गीतों की रचना की है तो गजल की दुनिया में भी अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है। इतने के बावजूद उन्होंने कभी भी छलांगें लगाकर शिखर पर पहुंचने की कोशिश नहीं की लेकिन धीरे-धीरे ही सही उनकी रचनात्मक श्रेष्ठता ने उनको उस जगह पहुँचाया अवश्य–''जहां लोग पहुंचे छलाँगें लगाकर/वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे।''

सहज कहानियों का आत्मीय जगत

–महेश दर्पण

एक समय हिंदी कहानी मनुष्य की तरह सरल थी। उसमें छल-छंद भरी जटिलता के लिए जीवन की तरह कोई स्थान न था। संवेदनशीलता ही मनुष्य की पहचान थी और जीवन में भावनाएँ ही उतार-चढ़ाव लाया करती थीं। यह स्थिति छठे दशक के पूर्वार्द्ध तक काफी हद तक बनी रही। ऐसे बहुत कम कथाकार हैं अब, जो तब से आज तक कहानी लेखन करते चले आ रहे हैं। मूलतः एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित और 'कवि' के दस विशिष्ट कवियों में एक रामदरश मिश्र ऐसे वरिष्ठ कथाकारों में प्रमुख हैं।

'मनोज जी' जैसी कहानी से कथा में प्रवेश करने वाले रामदरश जी एक सहज कथाकार हैं। यदि 'सहज कहानी' का आंदोलन जड़ें जमा सका होता, तो विष्णु प्रभाकर के बाद वह इसकी प्रमुख पहचान बनते। दीर्घ कहानी-जीवन से जुड़े होने के कारण, इनकी रचनाओं में परिवर्तित हो रहा समय स्वतः मुखरित हो उठा है। जो पाठक उनके कथाकार के मानस को समझना चाहते हैं, वे यदि रामदरश जी के अठारह महत्वपूर्ण कहानी संग्रह न भी पढ़ सकते हों, तो 'एक भटकी हुई मुलाकात' पढ़कर बहुत कुछ जान सकते हैं। इस कहानी संग्रह में मिश्र जी की सत्ताइस कहानियाँ संग्रहीत हैं।

जीवन अनुभव इस कथाकार के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा है तो उसकी प्रमुख अभिलाषा है अपेक्षित यथार्थ। जो नहीं है, वह क्यों नहीं है और समाज में परिवर्तन आखिर हो कैसे? अपनी पहली ही कहानी से इस चिंता को सामने रखने वाले इस कथाकार के बाद की कहानी है–'जमीन'। इसका आठवीं कथा का हरिजन छात्र देखता है कि राजनेता जिस समाजवाद की बात करता है, वह वायवी है। समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ तक की बात होती, तो शायद कोई बर्दाश्त भी कर जाए, लेकिन भूख से व्याकुल यह किशोर फल तोड़कर भी खाने की हिम्मत नहीं जुटा सकता क्योंकि उसका जन्म सवर्ण परिवार में नहीं हुआ है।

छीमियाँ तोड़ते देख ही तो ठाकुरों के लड़के उसे पीट डालते हैं। वह प्रश्न उठाता है–कैसे है जमीन सबकी और पानी सबका? कहानी बताती है कि जिसका खेत, उसका पानी, उसकी मछरी। क्यों है ऐसा? क्यों बनी हुई है पाप और पुण्य के आधार पर अगले जन्म की व्यवस्था? मंत्री की आदर्श भरी बातें यह किशोर घर पर आकर बताता है, तो बपई का जवाब वस्तुस्थिति खोलकर रख देता है। उनका कहना है–'छोड़ इन बातों को। तब से सुन रहा हूँ जब सुखती झंडा लेके घूमता था।'

समाज में ही बराबरी नहीं, तो व्यवस्था में हिस्सेदारी कहाँ से मिलेगी? कथांत में बपई की चुप्पी और चिलम की बुझती आग की आखिरी चमक बहुत कुछ कह जाती है। अधिक विस्तार में न जाकर भी कहानी स्पष्ट कर देती है कि अलग है चमरौटी। वह कुत्ते के नंगे और भूखे स्वर को सुनकर कैसे थर्रा उठी है।

स्वतंत्र भारत में बनी व्यवस्था तो जो है, सो है किंतु यदि 'रहमत मियाँ' सरीखी कहानी का प्रमुख पात्र इंसानियत की मिसाल बनना भी चाहे, तो उसे कैसे संघर्ष करना पड़ता है। यह बेऔलाद दरजी 2 अक्टूबर को जन्मे एक बच्चे को मोहन अली नाम

इसलिए देता है कि उसे कहीं यह यकीन है कि इस देश में गांधी मार्ग पर चलना अच्छा माना जाएगा, पर उस बच्चे का स्कूल में प्रवेश कराना तक एक टेढ़ी खीर बन जाता है। समाज चाहता है कि यह बच्चा इंसान से भी पहले किसी हिंदू या मुस्लिम का हो। कथाकार नैरेटर तो रहमत और बच्चे की कहानी लिख गया, पर यह समाज भी लिखेगा कभी? रविंदर यहाँ एक भविष्य की उम्मीद की तरह है। जब वही लिखेगा सच्ची कहानी, जीवन से निकली। यह लेखक की सदिच्छा है नई पीढ़ी से।

कथाकार को मनुष्य की हर प्रकार की भेद-दृष्टि मनुष्यों के लिए अस्वीकार है। 'सीमा' कहानी में सरल संवेदना व तीव्र बुद्धि वाली इस नाम की लड़की अंगविकृति के कारण असहाय हो जाती है। उसके प्रति समाज के बर्ताव पर कहानीकार आलोचना करना चाहता है। उसके दर्द को बस जन्म देने वाले माँ-बाप ही समझ पाते हैं। कहानी बगैर हो-हल्ला किए कह जाती है कि असहाय भी मनुष्य हैं। उनके प्रति सहृदय हों। 'एक भटकी हुई मुलाकात' उस समय की स्त्री की कथा है, जब वह पुरुष की इच्छा पर ही रहने पर विवश थी। इस कहानी की अंजना, पहली पत्नी की तकलीफ समझता है रचनाकार। उसका सामना अपने ही पति की दूसरी पत्नी से संयोगवश ट्रेन में हो जाता है जिसके साथ उसका बेटा भी है जिस पर कानून ने पिता का हक दिया हुआ है। कहानी घटनाओं के बीच पुरुष सत्ताकत्मक कानून-व्यवस्था पर प्रश्न खड़ा करती है। पूछती है कि क्या बच्चे और वस्तु में कोई अंतर नहीं? क्या इस समाज में नैतिक अधिकारों के लिए जगह बनेगी? स्त्री की आजादी के बारे में तो बहुत बाद में आवाज उठनी शुरू हुई लेकिन रामदरश जी इस पर अरसा पहले सोच रहे थे। इस कहानी में अंजना का ही नहीं एक स्त्री के रूप में दूसरी पत्नी सीमा का दर्द भी सामने है, जहाँ उसे सुधांशु कुछ समझता ही नहीं। स्त्री उसके लिए दोयम दर्जे की नागरिक है। उपेक्षा भरे रवैये की भारी। इस सबके बावजूद कथाकार मनुष्य के कमजोर मन को खूब पकड़ लेता है, जहाँ सुधांशु कुछ पूछ तक नहीं पाता। पर कुछ है, जो छूटता नहीं। यह बहुत बारीक-सी चीज है। यह बारीक-सी चीज संवेदन तंत्र की वह भावुकता है जहाँ पुराने रिश्ते टूट भले जाएँ, खत्म समूल नहीं होते। इसे

अंजना द्वारा छोड़े गए उस पैकेट से भी समझा जा सकता है, जो मनोज नामक उसके बेटे के लिए है।

इससे भी अधिक प्रभावशाली है कहानी 'आखिरी चिट्ठी'। इसकी प्रभा मानवीय संबंधों पर विश्वास रखती है।

बेहद संवेदनशील इस चरित्र को परिस्थितियाँ सहज नहीं रहने देतीं। यह वाचक के ननिहाल की एक पड़ोसी लड़की है जो उसे अपना भाई मान लेती है। उसके पिता का निधन जिस तरह उसके और माँ के जीवन को नरक बना देता है, वह हमारे समाज में स्त्री की वस्तुस्थिति को उजागर करता है। यहाँ संबंध बोझ बन जाते हैं क्योंकि उनका आधार अर्थ है, भावनाएँ नहीं। स्त्री की इच्छा का यहाँ कोई महत्व नहीं। न मायके में और न ससुराल में। इसकी नियति तो जो है, सो है, उसकी बेटी क्या अपनी राह बनाएगी? प्रभा के विद्रोह की आकांक्षा को सुनता है कथाकार। वाचक का यकीन है कि वह अपनी राह बनाएगी।

यह कहानी का विचार का एक पक्ष है। पर यहाँ वाचक की आत्म स्वीकृति भी गौरतलब है जहाँ वह यह महसूस करता है कि वह कुछ नहीं कर सका। वह बस कारणों से बंधा रहकर अपने लिए तर्क खोज लेता है। दरअसल, यहाँ समाज का वह चेहरा बेनकाब होता है जिसके चलते स्त्री का जीवन में व्यस्त रह जाता है, पर उसकी यह सदिच्छा जरूर कि प्रभा की कहानी की पुनरावृत्ति न हो। अपनी कायरता भी वह उजागर कर जाता है कि वह इतना साहसी भी नहीं कि प्रभा की बेटी को अपने साथ ले आये।

इस कहानी की तरह रामदरश जी की अनेक कहानियाँ औपन्यासिक बनावट लिए वहाँ कथा वर्तमान से प्रारंभ होकर फ्लैश बैक में जाती है। अतीत की स्मृतियाँ ऐसे ही कहानी को आवश्यक विस्तार देती हैं। उदाहरण के लिए कहानी 'विदूषक' ही लें। यह गाँव की स्मृतियों से उभरा चरित्र है। बचपन का साथी जोगीराय खिलंदड़ स्वभाव का है। सबका तरह-तरह से मनोरंजन करता है। उसका यह स्वभाव किंतु स्थितियों की मार में बिला जाता है। वाचक श्रीधर उसके जीवन पर सोचता है तो पाता है कि अवसर मिता तो जोगीराय भी परसाई की तरह कुशल व्यंग्यकार बन पाता। उसे तो सातवीं तक की पढ़ाई ही नसीब हो सकी। और फिर करनी पड़ी रेलवे में खलासी की नौकरी।

परिवार ऐसा खड़ा हुआ कि बेटियों की शादी के बोझ ने उसे दबाकर रख दिया। किस्सा-दर-किस्सा बुनी गई यह कहानी पढ़ने में एक ओर रसमय लगती जरूर है पर इसका संबंध जोगीराय के जीवन की त्रासदी से गहरा है। उसके इकलौते बेटे का होली के दिन लगाई आग में एक बच्चे को बचाने के प्रयास में निधन हो जाता है। जब जोगीराय के साथ बेटे की यादें हैं। वह भैंसों को बहुत प्यार करता था, इसलिए उन्हें बेच भी नहीं पाता। मिश्र श्रीधर के गाँव पहुँचने पर लंबे समय बाद होली हो रही है। इस दौरान वाचक यह समझने की चेष्टा करता है कि जोगीराय के उलगस से दर्द फूट रहा है या दर्द से उल्लास। कथांत इतना मार्मिक है कि जैसे यहाँ पहुँचकर कहानी एक नई ही ऊँचाई पा जाती है।

जीवन स्थितियों की विवशता में फंसे पात्र रामदरश जी की कहानियों में बार-बार आते हैं। 'निर्णयों के बीच एक निर्णय' में भी मध्यवर्गीय विवशताओं के बीच कैसे एक व्यक्ति सहज नहीं रह जाता और उपेक्षा का शिकार होने लगता है।

कवि होते हुए भी, कवियों के बीच भी उसे यही

देखना पड़ता है। यही नहीं, उसे अपने ही सिद्धांतों से हटकर दूसरी राह पकड़नी पड़ जाती है। मार्क्सवाद से हटकर, वह न सिर्फ 'कल्याण' पढ़ता है, उसके आधार पर विवाद तक करने लगता है। रचना का उसका मार्ग ही परिवर्तित हो जाता है। बाहर तो बाहर, घट तक में कोई उसे सहजता से स्वीकार नहीं कर पाता। खुद से भी पत्नी पर यकीन नहीं रह जाता। वह विचित्र फैंटेसी में जीने जरूर लगता है। पर उसे यह बर्दाश्त नहीं कि कोई औरतों को छेड़ता फिरे।

यह कहानी, दबाव में बने मनुष्य के मनोविज्ञान को समझती है। दरअसल, यह ज्ञान नाम का व्यक्ति जीवन में खुद पर लाद दी गए निर्णयों को भोगने पर अभिशप्त है। उनमें उसकी कोई सहभागिता ही नहीं रही। यहाँ तक कि उसका विवाह भी उस पर लादा गया एक निर्णय ही है। यही कारण है कि वह दूसरे विवाह के बारे में सोचने लगता है। पर वह खुद पर भी निर्णय नहीं ले पाता। ऐसे में लोगों की दृष्टि में बेचारा बन जाता है। यह स्थितियाँ उसे दिखावे के व्यवहार पर खींच लाती हैं। यहाँ आते-आते वह मनोवैज्ञानिक असंतुलन से घिर जाता है। अपनी स्थिति से असंतुष्ट होते हुए भी प्रधानमंत्री के कहने पर भी उसका मैनेजर बनना स्वीकार नहीं करता। ख्यालों में ही सही, अपनी अच्छा पर जीता है।

इस कहानी का दूसरा पक्ष वाचक का है, जिसे दुख है कि वह अपने मित्र के लिए ही कुछ न कर सका। पर कथांत में उसे उन लोगों से वितृष्णा हो आती है जो ज्ञान से जोर-जोर से बात कर यह जाहिर करता है कि उसे साथ के लोगों की कोई परवाह नहीं। यदि व्यक्ति समाज की एक इकाई है, तो समाज के लिए वह उपहास का पात्र कैसे हो सकता है। हम उसकी तकलीफ के कारणों को समझने और उन्हें दूर करने की कोशिश के बजाय उससे या तो कन्नी काटने लगते हैं या उसे नगण्य समझ लेते हैं। यह एक तरह की स्टडी स्केच भी है।

रामदरश जी का कथाकार अपने समय और उसके प्रभावी कारकों की पहचान भी बड़ी गंभीरता से करता है। बताता है कि कैसे जेनुइन को तो महत्व मिलता नहीं और नेतागण प्रमुख बन बैठते हैं। 'नेता की चादर' जैसी कहानी बताती हैं कि शिक्षा संस्थानों के अतिथि गृह में भी पढ़े-लिखे व्यक्ति की सुविधा का ध्यान कोई नहीं रखता, जबकि नेता को उसकी मनपसंद सुविधाएँ

बराबर मिलती रहती हैं। यह कहानी ऐसे समाजसेवकों की असल छवि भी उजागर करती चलती है। अच्छी बात यह है कि ऐसे चरित्रों के प्रति आम आदमी की वितृष्णा भी सामने हो आती है।

इसी क्रम में वह एक बुजुर्ग की एक दिन की डीटेल्ड डायरी लिखते हैं–'आज का दिन भी' में। अपनी डेढ़ वर्षीय पोती का साथ है और है दिनभर में तमाम कार्य व्यापार। पोती मिट्ठू की इन कार्यों के बीच एक रसवान उपस्थिति है। प्रथम पुरुष की इन कहानी का वाचक यांत्रिक ढंग से बँधकर काम करना नहीं चाहता। लेखक अवश्य हैं, पर अपने अब तक के लेखन पर ही संतुष्ट है। उसे यह भ्रम नहीं दूसरों की तरह कि अभी उसका श्रेष्ठ लेखन आना शेष रह गया है। उसके लिए मिट्ठू की बाल मुद्राएँ रिलीफ का काम करती हैं। यह वाचक साहित्य, समाज और उसके चलन पर आलोचना दृष्टि रखता है। उसे छोटे-छोटे व्यवधानों से उलझन हो जाती है, पर वह आत्मलोचना भी करता दीखता है कि कुछ को वह उपेक्षा भाव से क्यों देखता है। उसकी मान्यता है कि लेखन सरल कार्य नहीं, साधना है। उसका समूचा दिन इसी सब में निकल जाता है। पोती सो रही है, तो उसके उठने की फिक्र होने लगती है। फिर एक हयाल प्रकाश फैलता है कि लिखना पढ़ना ही तो सब कुछ नहीं होता, पोती का साथ भी तो हर घड़ी जीवंतता का एहसास कराता है।

यही है रामदरश जी की सहजता। यह जीवन से जोड़ती है। जहाँ जीवन के सहज लक्षण नहीं, यह विमुख हो जाती है। 'उत्सव' ऐसी ही कहानी है। यहाँ उत्सवहीनता, दिखावे और अनुत्साह को वाचक एक्सपोज करता है। वह पाता है कि रंगीन भ्रमों की चमक में सत्य खो जाता है। उसके भीतर का सरल, अकृत्रिम देहात कसमसाता है, लेकिन माहौल की निष्प्राणता और दिखावटी भंगिमाओं में झूठ खुलता जाता है और मुखौटे अनावृत्त होते रहते हैं। अपरिचय के इस माहौल में मुख्य चरित्र खुद को असहज पाता है। उसे लगता है कि सर्वनामों की एक लंबी भीड़ में वह भी एक सर्वनाम बन गया है। उसे घुटन महसूस होने लगती है। अपरिचित भीड़ से निकल वह जल्दी से जल्दी मुक्त हो, निकल जाना चाहता है। उत्सव जैसे एक बोझ में बदल गया है। रामदरश जी कहानियों में कहीं चरित्र तो कहीं स्थितियाँ स्मरणीय बन जाती हैं। वह प्रायः उपलब्ध यथार्थ से असंतुष्ट है। उनके साथ गाँव, कस्बे, शहर और महानगर के अनुभवों का एक बड़ा संसार है, पर उनकी कथा-दृष्टि उस जीवन को परिवर्तित करने की पक्षधर है जो संकट में जीने को विवश है। बोधगम्य कथा भाषा में वह खोते जा रहे शब्दों को सहेजते दिखाई देते हैं जो अलग ही तरह से आकर्षित करते हैं। वे ध्वनियों से उत्पन्न होते हैं, परिवेश की गंध से अनुप्राणित हैं और गवई होते हुए भी अपनी ठसक के साथ चमकते हैं।

आप इन कहानियों को पढ़ेंगे, तो रुलाई को चाँपना, छूत छुड़ाना, हूँसा देना, भरभट्ट हो जाना, फिलॉसफी पहनकर घूमना, हूल-सी मारना, डंक मारती हुई सुबहें, चमोरने बैठ जाना, झझक्क में सब कुछ डूब जाना, भेंट अंकवार, जोरू की करनी, हबसकर रोना, कोइरी ससुर पढ़ने चले हैं। सरीखे अनेक प्रयोग भाषा का समृद्ध करते नजर आएँगे। यहाँ बनावटी भाषा नहीं, जीवन व्यवहार से उपजी सहज-सरल जुबान है जिसका मूलरूप हिंदुस्तानी जुबान में बसा है।

रामदरश मिश्र के उपन्यास : जनधर्मी मूल्यदृष्टि

–डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

प्रकाश मनु के साथ बातचीत में रामदरश मिश्र ने अपने उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया के संबंध में लिखा है–"आँख के सामने बस यह होता है कि किस जमीन की रचना है–उस जमीन की अपनी गंध, अपना परिवेश, अपनी मुश्किलें... बस कोई भी एक चीज लेकर लिखना शुरू कर देता हूँ।'' जाहिर है, मिश्र जी के लिए प्रमुख चीज वह जमीन है, जहाँ वे खड़े रहे हैं, जिसे उन्होंने कई तरह से जिया और अनुभव किया है। लेकिन उन्होंने अन्यत्र यह भी संकेत किया है कि केवल स्थान-विशेष सब कुछ नहीं होता, आखिरकार वे संवेदनाएँ और वे मूल्य ही महत्वपूर्ण और विचारणीय होते हैं, जो सर्वदेशीय और टिकाऊ होते हैं। 'आँचलिक उपन्यास' पर लिखते हुए उनका कथन है–"उपन्यास का अर्थ है, कथा (सूक्ष्म या सघन) के माध्यम से व्यक्त होने वाला जीवन-चित्र जो स्थान विशेष या स्थान सामान्य से संबद्ध होकर सर्वदेशीय मानव-संवेदनाओं और मूल्यों की प्रतिष्ठा करे।... किसी उपन्यास में द्रष्टव्य जीवन अपनी कितनी सच्चाई: संश्लिष्टता और समग्रता के साथ व्यक्त हुआ है और यह अपनी संवेदना की गहराई तथा मानवीयता के कारण वृहत्तर मानव-सत्य को कहाँ तक स्पर्श करता है।'' अपने पहले उपन्यास 'पानी के प्राचीर' से लेकर अब तक के सबसे नये उपन्यास 'बीस बरस' तक की यात्रा में मिश्र जी जीवन-संदर्भों की प्रामाणिक पहचान के साथ-साथ अपने मूल्य-बोध के लिए जाने गए हैं। उनके उपन्यासों में प्रामाणिक स्थितियाँ हैं, जीवन चरित्र हैं. प्रासंगिक विचार हैं, लेकिन सर्वोपरि मानवीय मूल्यों को गौरवान्वित करने वाली जीवन-दृष्टि है, जिसकी दीप्ति न केवल उनके उपन्यासों बल्कि समग्र साहित्य को सार्थक, पठनीय और विचारणीय बनाती है। यह साधारण बात नहीं है। यहाँ पंजाबी के प्रसिद्ध कहानीकार महेंद्र सिंह सरना का यह कथन गौरतलब है: ''... जिस साहित्य के पास स्वस्थ मूल्यों की पूँजी नहीं, साहित्य की मंडी में उसका व्यापार खोटा है।''

मिश्र जी का पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' सन् 1961 ई. में प्रकाशित हुआ... था। मिश्र जी ने स्वीकार किया है कि इसे लिखने की प्रेरणा उन्हें 'रेणु' कृत 'मैला आँचल' को पढ़कर मिली : ''मुझे लगा, ऐसा तो मैं भी लिख सकता हूँ। अपने गाँव के बारे में एक ऐसा उपन्यास क्यों न लिखूँ, जिसमें जो देखा-सुना हुआ है, अनुभव का हिस्सा बन चुका है–वह भरपूर आए।'' इस उपन्यास में 'राप्ती' और 'गोर्रा' नदियों के बीच का ग्रामीण अंचल जीवंत रूप में है : और समग्र रूप में भी। डॉ. प्रभाकर माचवे ने इस उपन्यास के संदर्भ में लिखा है–''रामदरश चाहते हैं, गाँव की अच्छाई- बुराई सबको अपनी पूरी गोलाई के साथ स्वीकार करना। वे सिर्फ एक पक्षीय होकर गाँव में सबकुछ मधुरामधुर नहीं देखना चाहते, न प्रगतिवादी सिद्धांतग्राहियों की भांति वहाँ की गंदगी और बुराई और मुफलिसी को ही उभारकर सामने लाना चाहते हैं।'' यही वजह है कि 'पानी के प्राचीर' में यथार्थबोध और मूल्यबोध साथ-साथ संश्लिष्ट रूप में हैं। हर बार आने वाली बाढ़ की विभीषिका ग्रामीण जीवन को किस तरह विपन्न, अभावग्रस्त, झगड़ालू, अंधविश्वासी और शोषित बना रही है, इसका जितना प्रामाणिक चित्रण मिश्र जी की ग्रामांचलिक कृतियों–'पानी

के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' में मिलता है, हिंदी उपन्यास में अन्यत्र दुर्लभ है। उनके उपन्यासों में आयी बाढ़ केवल प्राकृतिक आपदा नहीं है, अव्यवस्था, अन्याय, अनैतिकता का गंदला प्रवाह भी उसे भयावह बनाता है। 'पानी के प्राचीर' का अंत आजादी मिलने पर हुआ है। नीरू जहाँ ग्रामीणों की नियति का भाष्य करता है, वहीं आजादी से जुड़ी उसकी आशा जनतांत्रिक मूल्यों में विश्वास को जताती है–"गाँव के चारों ओर पानी की ये दीवारें जो आप देख रहे हैं, इन्हें गुलामी ने और बलवान बना दिया है–ये हमारी फसलें लूट लेती हैं–आज हमें आजादी मिली है। अब ये पानी की दीवारें टूटेंगी खेतों में नये सपने खिलेंगे।''

नीरू ने किसानों के तड़पते चेहरे, आँसू से भीगी सूनी आँखें, खून से चिपचिपी पीठे, क्षमायाचना करते हाथ देखे हैं। अत: आजादी न केवल नीरू अपितु किसानों के लिए भी मुक्ति का द्वार बनकर आती है। 'जल टूटता हुआ' में संदर्भ आजादी मिलने के बाद का है। उपन्यास के प्रारंभ में ही सुग्गन मास्टर के जरिए यह सवाल उठता कि 'आजादी ने क्या दिया हमें?' हमें अर्थात् विशेष रूप से पिछड़े अंचल के किसानों को। बाद में आजादी के मिलने के बाद गाँव की दशा और बेहाल हो जाने पर चिंता उभरी है। आजादी से जुड़े समता, समानता, न्याय आदि मूल्य संकटग्रस्त दिखायी देते हैं। महीप सिंह जैसे जो लोग कल तक साम्राज्यवादी सत्ता के मजबूत पाये थे, अपने दमनचक्र से जनता को पीसा करते थे, आजादी के बाद वे स्वदेशी बाना धारण कर लेते हैं। और आजादी के लिए जूझने वाला आम आदमी जहाँ का तहाँ उपेक्षित और ठगा-सा रह जाता है। मिश्र जी ने जग्गू हरिजन के माध्यम से वास्तविक स्वाधीनता सेनानियों की उपेक्षा का बयान किया है। यह बयान एक देशव्यापी हादसे को खोलने वाला है। जग्गू हरिजन आजादी के संग्राम में तिरंगा उठाए घूमे थे। लेकिन आजादी मिलने पर उनकी स्थिति गरीबी की रेखा के नीचे का जीवन जीने वाले वर्ग की ही रही। पत्तल उठाना और गोबर की रोटी खाना उनकी विवशता है। उनके अपने दलित समुदाय की आर्थिक-सामाजिक स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ा है–''सभी बाभन उनके मालिक हैं-ये बाभन चाहे बाहर भीख ही क्यों न माँगते हों, मिलों की दरबानी, चपरासीगीरी और कुलीगीरी ही क्यों न करते हों, रिक्शा ही क्यों न हाँकते हों, चोरी-डकैती ही क्यों न करते हों, लेकिन गाँव में सभी हरिजनों के मालिक हैं।''

डॉ. विवेकी राय ने 'जल टूटता हुआ' की चर्चा देशव्यापी मोहभंग के संदर्भ में की है। इसमें संदेह नहीं कि इसमें व्यक्त यथार्थ 'स्वतंत्रता' से जुड़ी आशाओं को तार-तार कर देने वाला है। लेकिन इसमें तथ्यचेतना के समानान्तर जो मूल्य चेतना है वह पाठक को हताश-निराश करने के बजाय अवमूल्यों के प्रतिवाद का बल प्रदान करती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस उपन्यास के पात्रों के संबंध में जो लिखा है, वह गौरतलब है। ''ये पात्र टूटते हुए मूल्यों और बढ़ती हुई विसंगतियों को उभारते हैं और परिवर्तन की झंझा के पद संचारों का आभास देते हैं। परंतु ये सारे पद-संचार अलक्षित रह जाते-जैसा कि कई व्यंग्य प्रधान आधुनिक उपन्यासों में रह गये हैं, यदि सतीश, उमाकांत, बदमी और कुंजू जैसे अविचल दृढ़ चरित्रपात्र इसमें न आये होते।'' यहाँ आचार्य द्विवेदी ने जिस अविचल दृढ़ता की चर्चा की है, वह पात्रों की जीवन- मूल्यों में गहरी आस्था और वचन-कर्म की एकता से निर्मित है। इस उपन्यास में लवंगी ने जो सवाल पूछा है, वह वर्तमान दलित चेतना का एक

प्रखर अंग है–"चमार का खून-खून नहीं है, बाभन का खून खून है। हमारी कोई इज्जत नहीं होती, क्या बाभनों की ही इज्जत होती है?' सतीश आदि चरित्र इस उपन्यास में अवमूल्यों से जूझ रहे हैं और लहूलुहान हो रहे हैं, लेकिन सकारात्मक मानवीय मूल्यों में उनका विश्वास बना हुआ है–'सत्य के लिए मूल्य तो देना ही पड़ता है। और जब तक कुछ लोग संगठित होकर मूल्य देने को तैयार नहीं होंगे और दूसरों की देखा-देखी असत्य की ओर उन्मुख होते रहेंगे, तब तक गाँव का क्या देश का और पूरे विश्व का उद्धार नहीं होगा?' वस्तुतः 'जल टूटता हुआ' युगबोध, मूल्यबोध, भाषिक रचाव, कथनपद्धति–सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1969 ई. में हुआ था, हालाँकि यह लिखा पहले ही जा चुका था। इसके आसपास छपे उपन्यासों–'आधा गाँव', 'राग दरबारी', 'अलग-अलग वैतरणी' आदि की जितनी चर्चा हुई है, उतनी 'जल टूटता हुआ' की नहीं। आलोचकों की बाड़ेबंदी के अलावा मिश्र जी का शिविरबद्धता से अलग रहना भी शायद इसका कारण रहा था। 'राग दरबारी' आदि से वह कहीं से भी उन्नीस नहीं है, बल्कि अपनी सकारात्मक मूल्य-दृष्टि के कारण यह कहीं इक्कीस ही ठहरता है। 'आधा गाँव' आदि इन सभी उपन्यासों के अंत में समझदार और संवेदनशील व्यक्ति गाँव की भयानकता से टकराकर भाग खड़े होते हैं। लेकिन 'जल टूटता हुआ' में गाँव में ही रहकर गाँव की। बेहूदगियों से जूझने का संकल्प आश्वस्त करता है। मिश्र जी के तीसरे उपन्यास 'बीच का समय' में कथ्य बदला हुआ है। इसमें काम-संबंधों के संदर्भ में नैतिकता का सवाल सिर उठाए खड़ा है। प्रोफेसर शील और छात्रा रीता के लगाव में कई वर्जनाएँ-बाधाएँ हैं। तमाम द्वंद्व के बीच में प्रो. शील को अपनी उस पत्नी के प्रति जिम्मेदारी का अहसास है, जो गाँव में है। पत्नी अनपढ़-सुंदर भी नहीं है, शिक्षित पति की वास्तविक सहचरी बनने में अक्षम है लेकिन पति विवाह-विच्छेद जैसा कोई कदम नहीं उठाता। इसी तरह रीता भी नहीं चाहती कि क्षणिक उबाल में उसके पूज्य की प्रतिमा टूटे और चकनाचूर हो जाये। विवाहेतर देह संबंध मिश्र जी के उपन्यासों में हैं, लेकिन वे बहुत अपरिहार्य होने पर ही स्वीकृत हैं। 'जल टूटता हुआ' में कुंजू-बदमी का संबंध इसी प्रकार का है। इस संबंध के माध्यम से नयी मूल्यवत्ता को प्रतिष्ठित करने का आग्रह भी सक्रिय है। लेकिन 'बीच का समय' में मिश्र जी ने यौन-वर्जनाओं के उल्लंघन की जरूरत नहीं समझी है। 'बीच का समय' का शील प्रेम को उसके असली रूप में 'जंगली' मानता है लेकिन उपन्यासकार का स्टैंड रीता की मानसिकता के मेल में है। वह शील से पूछती है–'कैसा लगता है सर, जब एकाएक कोई आदर्शमूर्ति टूटकर वहीं गिर जाती है, जहाँ हजारों-लाखों सामान्य मूर्तियाँ गिरी होती हैं। मिश्र जी के प्रायः सभी उपन्यासों में प्रेम एक उदात्त मूल्य के रूप में है, यह यदि देहभोग में परिणत हुआ भी है तो किसी विसंगति को चुनौती देने के लिए या किसी नयी मूल्य मर्यादा की ओर संकेत करने के लिए। 'सूखता हुआ तालाब' में गाँव के भविष्य की चिंता प्रमुख है: क्या होगा गाँव का, जहाँ जड़ता इतनी कि एक बेवकूफ आदमी भी सोखा-ओझा बनकर ठग ले और जहाँ चालाकी इतनी कि हर आदमी अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को बेच खाये। 'सूखता हुआ तालाब' एक तरह से 'जल टूटता हुआ' का संक्षिप्त संस्करण है। इसमें गाँव को तोड़ने वाली ताकतें और भी मजबूत हुई हैं। इसलिए मूल्यों में विश्वास रखने वाले देवप्रकाश को गाँव से पलायन

करना पड़ता है। लेकिन शंकर का सरपंच बनना संकेत है कि बेहूदगियों से जुझने के रास्ते बंद नहीं हुए हैं। यथार्थ बोध के स्तर पर देवप्रकाश और चेनइया का गाँव छोड़ना निराशा का व्यंजक है लेकिन मूल्यबोध के स्तर पर अभी बहुत कुछ बचा हुआ है। यह विश्वास मिश्र जी के एक अन्य उपन्यास 'अपने लोग' में भी दिखायी देता है। 'अपने लोग' में एक संवेदनशील बुद्धिजीवी प्रमोद के कोण से अभाव और असमानता के प्रसार को चिंता की दृष्टि से देखा गया है। आजादी के बाद एक खास तबका खूब फला-फूला है। उसकी समृद्धि में जनसाधारण का घनघोर श्रम और दुर्गति का योगदान है—जहाँ कहीं वैभव है, वहाँ उसके नीचे एक उजड़ा हुआ जीवन पड़ा है, वैभव की कल्पना गरीबों के जीवन के उजाड़ के बिना हो ही नहीं सकती।' प्रमोद मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित है। लेकिन इस उपन्यास-अन्याय को प्रश्रय देने वाली व्यवस्था के प्रति छुटपुट आक्रोश के अतिरिक्त कोई सामूहिक जुझारू अभियान देखने में नहीं आती। हाँ, उमेश और पवन के सहारे भविष्य के परिवर्तन की संभावनाएँ इस उपन्यास में जरूर इंगित हुई हैं। जहाँ उपन्यासकार ने दो महत्त्वपूर्ण संकेत छोड़े हैं। उमेश पागल हो गया है। इस व्यवस्था में हर भावुक कितु जुझारू व्यक्ति की नियति अंततः पागल होना है। अकेला संघर्ष इसी नकारात्मक बिंदु तक पहुँचाता है। यहाँ पर भी संकेतित है कि मौजूदा दौर में सत्य बोलने का साहस शायद पागलों में ही रह गया है। पवन के माध्यम से रचनाकार ने युवा पीढ़ी के विद्रोह-भाव और नव-निर्माण शक्ति में अपनी आस्था जतायी है। 'आकाश की छत' में कामरेड जगत् का निम्न वर्ग को अन्याय, शोषण के विरोध में तैयार करना सही कदम है। 'आकाश की छत' में प्रत्यक्ष हिंसा या वर्ग शत्रु के वध का निषेध है, क्योंकि रचनाकार जानता है कि एक शोषक के मरने से लड़ाई खत्म नहीं होगी। एक शोषक के मरने पर उसकी जगह दूसरा शोषक उठ खड़ा होगा। 'अपने लोग' का मध्यवर्गीय प्रमोद अपने बेटे को जुझारू शक्तियों के साथ जुड़ते देखकर प्रसन्न होता है। उसे खुशी है कि उसकी भीरुता और निष्क्रियता या प्रायश्चित एवं प्रतिवाद नयी पीढ़ी द्वारा होने जा रहा है—'कभी-कभी तड़प होती है कि काश मैं इस मिट्टी की गरीबी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। मैं सक्रिय संघर्ष नहीं कर सकता। यह मेरी सीमा है, इसलिए वह चाह लिये मैं बराबर तड़पता रहा हूँ। यह चाह तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्ति पा ले तो मुझे परम तृप्ति होगी।

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपने लोग के संदर्भ में पाया है कि सामाजिक स्थितियों का चित्रण करते समय रामदरश मिश्र की प्रगतिशील दृष्टि उभरकर सामने आती है। इस कृति में रचनाकार ने बी. लाल-मंजरी, किसनलाल-इमरतिया के प्रेम के माध्यम से जातिगत ऊँचनीच को तोड़ना चाहा है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में—"यह भी कि लाँछित ब्राह्मण और गरीब ईसाई या चमार एक धरातल पर खड़े होकर सामाजिक विषमता को झेल सकते हैं, नये समाज की सृष्टि कर सकते हैं। यह दृष्टि स्वस्थ और गहरी नैतिकता से युक्त है और सच्चे अर्थों में जनवादी और प्रगतिशील है, वह बहुत मूल्यवान है।"

बाद के उपन्यासों में 'रात का सफर', 'बिना दरवाजे का मकान', 'थकी हुई सुबह', मुख्यतः नारी के संघर्ष की कहानी कहते हैं अतः इनमें नारी संबंधी रूढ़ियों और अवमूल्यों का प्रतिकार स्वाभाविक तौर पर काफी जगह घेरता है। 'रात का सफर' में पत्नी के साथ छल और अत्याचार को खारिज किया गया है।

इस उपन्यास में ऋतु का अपने डॉक्टर पति को चांटा मारना पुरुष के सनातन एकाधिकार को चुनौती के साथ-साथ 'सतीत्व', 'पतिव्रत' आदि मूल्यों को नये संदर्भ में देखने-परखने की शुरूआत भी है। इस उपन्यास के एक पात्र का यह कथन सकारात्मक दिशा में संक्रमण का द्योतक और प्रेरक है-"प्रेम के शव को ढोने से कोई फायदा नहीं है ऋत! जीवन अमूल्य होता है। इससे संबंधित जब किसी वस्तु का मूल्य चुक जाये तो उसे छोड़ नहीं देना चाहिए?" नारी के संबंध में 'जिजीविषा' और अपने अस्तित्व-व्यक्तित्व को बचाये रखने की चिंता 'बिना दरवाजे का मकान' आदि कृतियों में भी व्यक्त हुई है। मिश्र जी के उपन्यासों में 'मंजरी' (अपने लोग), 'बदमी', 'लवंगी' (जल टूटता हुआ), 'दीपा', (बिना दरवाजे का मकान), 'रूपमती' (आकाश की छत), 'लक्ष्मी' (थकी हुई सुबह) आदि अनेक नारी चरित्र अपनी प्रखरता के चलते ध्यान खींचते हैं। इनके माध्यम से मिश्र जी ने यौन-नैतिकता से लेकर नारी मुक्ति तक के सवालों पर विचार किया है। इस विचार-विमर्श में 'मुक्ति', 'सहयोग', 'सतीत्व', 'पातिव्रत', 'श्रद्धा-सम्मान' आदि मूल्य कठिन आजमाइश के दौर में हैं। इनमें से अधिकतर नारियाँ शक्ति पुंज हैं और पुरुष-प्रधान व्यवस्था द्वारा लादे गये मूल्यों से असहमति जताती हैं। 'बिना दरवाजे का मकान' की दीपा पेट की भूख, संतान की भूख, औरत की अपनी भूख के साथ-साथ सुरक्षा की भूख से एक साथ लड़ रही है। मल्लाह जाति की ये युवती महानगर में मेहनत-मजूरी करके जी रही है और अपने अपाहिज पति का भी पालन कर रही है। गाँव में रूपन सिंह का हाथ दाँतों से काटकर वह जिस 'यौन शुचिता' की रक्षा करती है, वह उसके महानगरीय जीवन में भी अक्षुण्ण रहती है। ऐसा नहीं कि देह की भूख उसे पीड़ित नहीं करती, लेकिन वह उससे जूझ पाने में सफल होती है। बसंत को वह समर्पित ही जाती है। लेकिन यहाँ 'यौन शुचिता' की रक्षा करने में पहल बसंत करता है। 'स्वाभिमान' और 'स्वावलंबन'-दीपा के व्यक्तित्व के दो आकर्षक पक्ष हैं और दोनों मिले हुए है। इनके बूते पर वह किसी भी असंगति और अन्याय का प्रतिवाद कर पाती है। एक जगह उसका कथन है-श्'हाथ-पाँव सलामत होने पर अपने मरद की भी धौंस नहीं सहते बीबी जी! हम लोग खुद अपने बल पर जी सकती हैं। एक मरद बिगड़ैल निकलेगा, उस ससुरे को छोड़कर दूसरा कर लेंगे। लेकिन आप लोग तो वहीं सड़ती रहेंगी, घर के अंदर सारा नरक भोगती रहेंगी और इज्जत का परदा टाँगे रहेंगी।' इस अवतरण में मध्यवर्गीय नारी और मेहनतकश नारी के सोच और कर्म के अंतर को समझा जा सकता है। मेहनतकश नारी को 'पातिव्रत', 'सतीत्व' से ज्यादा 'श्रम की शक्ति' में विश्वास है। यह कथन कथित नारी मुक्ति की दिशा नारी के आर्थिक स्वावलंबन में निहित होने का संकेत भी देता है।

'थकी हुई सुबह' की लक्ष्मी कई अवसरों पर नारी के लिए निर्दिष्ट 'अवमूल्यों के प्रति विद्रोह करती है। समाज में पुरुष को श्रेष्ठ और नारी को अधम मानने वाली विचारधारा को खारिज करते वह कहती है-'बेटी-बेटे का भेदभाव माँ-बाप के प्रति संतान के कर्तव्य को भी बाँट देता है। पता नहीं किसने यह नियम बना दिया कि बेटी की हर चीज माँ-बाप के लिए अछूत है। तो सुन लीजिए, मैं भी कोई निर्जीव चीज नहीं हूँ कि जहाँ जैसे डाल दी जाऊँ, पड़ी रहूँगी।' लक्ष्मी का विद्रोह भाव उसके अपने कटु अनुभवों के भीतर से उपजा है और वह सोचती रही

है–'क्या स्त्रियों को दूसरा ईश्वर पैदा करता है या उसके यहाँ नारी-पुरुष के लिए दो नियम हैं?' पति के पलायन कर जाने के बाद वह अपनी शिक्षा पूरी करती है और स्वावलंबन की शक्ति से संपन्न हो जाती है। हालाँकि रामधन मिश्र के प्रति समर्पित होना उसके तेज को कम करता है। वह पुरुषों की लोलुपता को देखते हुए एक ताकतवर पुरुष के साथ खुद को जोड़ लेना 'सुरक्षा की दृष्टि' से ठीक समझती है। यह निर्णय किसी नये 'मूल्य' के उदय का द्योतक नहीं है, बल्कि विकल्पहीनता की विवशता मात्र है।

नारियों की तरह ही रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आये दलित चरित्र भी मानवीय और जनतांत्रिक मूल्यों के लिए जूझ रहे हैं। उपन्यासकार ने अपनी उपन्यास-यात्रा के प्रथम चरण से लेकर आज तक दलितों के उत्पीड़न का न केवल खुला विरोध किया है। अपितु समता, समानता, न्याय आदि मूल्यों का जबर्दस्त समर्थन भी किया है। 'जल टूटता हुआ' में हरिजनों या दलितों में अपने प्रति होने वाले अन्याय की चेतना जड़ पकड़ चुकी है वे सामंती शक्तियों से जूझने भी लगे हैं। जगपतिया का खेत महीप सिंह नहीं कटवा पाते क्योंकि वह गरीब, अछूत और पिछड़े वर्ग के वंचितों को एकजुट संघर्ष- सक्षम बनाने में सक्षम होता हैं। उपन्यासकार की यह चिंता उपन्यासों में कई जगह सिर उठाती है कि लोग अकेले-अकेले क्यों प्रतिवाद करते हैं? यह निर्धान्त है कि बिना सामूहिक संघर्ष के कुछ भी हासिल नहीं होगा। 'बिना दरवाजे का मकान' में कहा गया है : 'डी.टी.सी. हो या और कोई व्यवस्था जब तक उसे एक बड़े समूह से टकराने का भय नहीं होता, कुछ नहीं करती। 'आकश की छत' में दलित जन कामरेड जगत के नेतृत्व में एकजुट हो रहे हैं। कामरेड जगत अकेली लड़ाई और किसी एक के प्रति केंद्रित लड़ाई के अंतर्विरोधों से अवगत हैं। वे अंतिम विकल्प के तौर पर हिंसा को त्याज्य नहीं मानते–'हमें तो उस व्यवस्था को खत्म करना होगा, जिसमें सेठ पैदा होते रहते हैं, लेकिन यह भी तुम ठीक ही कहते हो कि हमें कभी-कभी सेठ को भी मारना होता है।' शिक्षा और संगठन ने दलित वर्ग को जो मजबूती दी है, इसका प्रमाण 'बीस बरस' उपन्यास में भी है। इस उपन्यास में हरिजन युवती पढ़-लिखकर अध्यापिका बन गई है और सवर्ण लफंगों से डरती नहीं है–'अब वे दिन गए जब ऊँची जाति के लफंगे हमें इस्तेमाल की चीज समझते रहे हैं।' आर्थिक स्वावलंबन ने दलितों को शक्ति प्रदान की है। 'बीस बरस' में दलितों के टोलों की आर्थिक स्थिति सुधर रही है और सुखदेव जैसे लोग उन्हें समता-समानता का पाठ पढ़ाकर अधिकारों के लिए लड़ना सिखा रहे हैं। 'मैं अपने लोगों को सिखाता हूँ कि तुम किसी से छोटे नहीं हो। तुम लोग अपनी मेहनत की कमाई खाते हो, फिर किसी के आगे झुकने का क्या मतलब? वे भी इंसान हैं, तुम भी इंसान हो। तुम्हें सारे इंसानी हक मिलने ही चाहिए।' आज हिंदी में दलित- लेखन का अलग संकाय बन गया है। लेकिन हिंदी के आँचलिक उपन्यासों में दलितों की नियति और संघर्ष का जितना प्रामाणिक और मार्मिक बयान मिलता है, वह आज भी दुर्लभ है। मिश्र जी के उपन्यासों में आया दलित जीवन उनकी प्रत्यक्षानुभूति और पक्षधरता का संश्लिष्ट रूप लिए हुए है। यहाँ मूल्यबोध कहीं भी आरोपित न होकर कथात्मक रचाव में रचा-बसा हुआ है।

'अपने लोग' में मिश्र जी ने अनेक मुद्दों के साथ शिक्षा जगत् की आपाधापी पर भी गंभीरता से विचार किया है। उनके बाद के उपन्यास 'दूसरा घर' में भी

शिक्षा की कुरूपता एक अहम् मुद्दा है। इस कृति में रामदरश मिश्र का अपना भोगा हुआ सच प्रतिबिंबित है। जिन परिस्थितियों में मिश्र जी गुजरात छोड़ने को विवश हुए थे उन्हीं स्थितियों में 'दूसरा घर' के डॉ. गौतम वहाँ से विदा होते हैं। प्रबंधतंत्र की निरंकुशता, योग्यता पर अयोग्यता को वरीयता, चाटुकारिता का माहौल, शिक्षक राजनीति के संदर्भों के बीच उपन्यासकार ईमानदारी, न्याय, संघर्ष आदि सकारात्मक अवधारणाओं को अपना समर्थन देता है। यह सकारात्मकता जातिवाद, दहेज, सांप्रदायिकता आदि विकृतियों को लेकर भी सामने आती है। जातिवाद का कड़ा विरोध करते हुए कहा गया है–'जातिसूचक पुंछल्ले को काट फेंकना चाहिए और यह काम उन्हें शुरू करना चाहिए जिनके पुंछल्ले उनके अपमान के सूचक हैं।' इस उपन्यास में समाज को जिन दो वर्गों–सुखी लोगों की कतार, लहूलुहान लोगों की जमात में बाँटा गया है, उनमें लहूलुहान वर्ग के साथ उपन्यासकार अपनी आत्मीयता अनुभव करता है। इसे उपन्यास ही नहीं अपनी समग्र उपन्यास यात्रा के दौरान उपन्यासकार की प्रतिबद्धता दुखी और लहूलुहान जमात के साथ रही है।

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में जो मूल्यवादी चिंतन उभरता है, वह प्राय: शिक्षित मध्यवर्गीय व्यक्तियों के माध्यम से आया है। नीरू, सतीश, प्रमोद, यश, डॉ. गौतम आदि को जो सकारात्मक मूल्य मिले हैं, वे कहीं से उधार लिए हुए और आरोपित नहीं हैं। वे पात्र अपनी जमीन से कमोबेश जुड़े हुए हैं और इन्होंने जो दृष्टि प्राप्त की है, उसमें पूर्वांचल के कछार के परिवेश का बहुत हाथ है। प्रत्यक्ष अनुभव जब किसी बोध या दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं, तब वह ठोस और टिकाऊ होता है। 'अपने लोग' का प्रमोद स्वीकार करता है कि जिस नदी की बाढ़ विभीषिका बनती है, वही टूटन से बचने की ताकत देती है।

'तुम्हीं ने हमारे बचपन को गढ़ा है, तुम्हीं ने हमें सपने दिए हैं और तुम्हीं ने अपने फन फुफकार-फुटकारकर हमें अपने गुंजलक में लपेटा है और हमें लड़ने की अपार ताकत दी है, तुम्हारा प्यार और मार सबके लिए बराबर रहा है माँ।'

अवमूल्यों से जुड़ने का बल उपन्यासकार को लोकजीवन के विश्वासों से भी मिला है। 'जल टूटता हुआ' का एक प्रसंग यहाँ द्रष्टव्य है : दशहरे के दिन 'नीलकंठ' के दर्शन शुभ और मंगल होने की लोक-मान्यता है। गाँव के बच्चे नीलकंठ के माध्यम से सीता को अपना संदेश भेजते हैं–*'नीलकंठ निलबारी बारी/सीता से कहिअ भेंट अंकवारी/हमार नांव किसन मुरारी।'* इसकी व्याख्या उपन्यासकार ने जिस प्रकार की है, उससे उसका मूल्यवादी चिंतन मुखर हुआ है 'सीता कैद है रावण के यहाँ आज ही मुक्त होगी। सीता धरती की बेटी है, धरती की बेटी कैद है धरती के शोषक के यहाँ। धरती के बेटे बेचैन हैं, अपनी बहन से मिलने के लिए, उन्हें मालूम है कि राम आज उद्धार करेंगे सीता का। भेंट अंकवार कह देना सीता से ओ भाई नीलकंठ। तुम्हीं कह सकते हो, परिंदे हो और शिव के प्रतिरूप हो।

इस व्याख्या में कई संकेत छिपे हैं, जो शोषणमुक्ति, समता, समानता आदि मूल्यों के पक्ष में जाते हैं। ''ग्रामवासियों के लिए परंपरागत दशहरा एक तरह से शोषण-मुक्ति का पर्व है। धरती-पुत्री सीता तो शोषक के पंजे से मुक्त हो गयी थी लेकिन धरती पुत्री की बहुत-सी धरती आज भी शोषकों के चंगुल में है। स्थिति के इस विपर्यय के बावजूद लोकजीवन में शोषण सरीखे नास्तिमूल्य को खारिज करने तथा

समानता-समता स्थापित होने का आशावाद सबल है। वास्तविक स्थिति-शोषण की भयावहता को दिखाते हुए जन-मन में संचित शोषण मुक्ति की आकांक्षा को व्यक्त करना नकारात्मक मूल्यों की ओर प्रयाण करना है।'' उपन्यासकार ने इसी प्रसंग में 'नीलकंठ' के दर्शन की महानगरीय स्थिति को भी 'कंट्रास्ट' में रखा है और परंपरा पर व्यावसायिकता के हावी होने की भर्त्सना की है-'किंतु यह नीलकंठ शहरों में बंद कर लिया गया। बहेलिया उसे पिंजड़े में बंद करके दर-दर घुमाता है और धर्मप्राण नगरजन दर्शन करते हैं, अपने पाप-ताप का शमन करते हैं... बहेलिए का नीलकंठ दो पैसे में धर्म बाँटता फिर रहा है। इस तरह के प्रसंग वृहत्तर मानव सत्य को स्पर्श करने की गवाही देते हैं।

रामदरश मिश्र ने अपनी मूल्यदृष्टि को प्रायः 'कंट्रास्ट' में प्रस्तुत किया है। वे एक ओर स्याह अंधेरे की भीषणता बयान करते हैं, दूसरी ओर रोशनी की चमक को अपना समर्थन देते हैं। उन्होंने हर उपन्यास में कुछ चरित्र नास्तिमूल्यों के प्रतीक रूप में रचे हैं और उनकी तुलना में सकारात्मक मूल्यों का कोई 'मॉडल' अवश्य है, जिसे उपन्यासकार का विश्वास और समर्थन प्राप्त है। 'दीनदयाल', 'महीप सिंह' (जल टूटता हुआ), गजेन्द्र सिंह (पानी के प्राचीर) 'सूर्यकुमार' (अपने लोग), 'मोतीलाल' (सूखता हुआ तालाब) 'रूपक सिंह', (बिना दरवाजे का मकान), 'बुद्धिसागर' (थकी हुई सुबह), 'पारस भाई' (दूसरा घर) आदि नास्तिमूल्यों के संवाहक खल चरित्रों के मुकाबले 'सतीश' (जल टूटता हुआ), 'नीरू' (पानी के प्राचीन), 'प्रमोद' (अपने लोग), 'देवप्रकाश' (सूखता हुआ तालाब), 'दीपा' (बिना दरवाजे का मकान), 'डॉ. गौतम' (दूसरा घर) आदि चरित्रों की उपस्थिति मनुष्यता और उससे जुड़े मूल्यों में उपन्यासकार के विश्वास को पुष्ट करती है।

कई विचारसरणियों ने रामदरश मिश्र के उपन्यासों में व्यक्त मूल्यवादी चिंतन को पुष्ट किया है। डॉ. विवेकी राय की दृष्टि में श्री मिश्र मूलतः गांधीवादी हैं और समाजवादी विचारों से गहरे प्रभावित हैं। डॉ. विवेकी राय के अनुसार-''कथाकार रामदरश मिश्र के सृजन-व्यापार में मूलधन गांधीवाद है और समाजवाद अनेक स्तरीय बढ़ोत्तरी के साथ ब्याज रूप में आया है। यह ब्याज चिंतन राष्ट्रीयता और मानवीयता की अपनी जमीन से जुड़ा होता है, अतः उपन्यासों में अनेक स्थलों पर मुखौटावादी कम्युनिस्टों की निंदा की गई है और जनवादी रंगलाने के लिए कहीं भी चालू राजनीतिक फार्मूलों का प्रयोग नहीं किया गया है।'' सत्य, करुणा, अहिंसा आदि को महत्व देने तथा कहीं हृदय परिवर्तन के प्रमाणों से लगता है, मिश्र जी कुछ गांधीवादी मूल्यों के प्रति आस्थावान् हैं। लेकिन जैसा कि डॉ. महावीर सिंह चौहान ने लिखा है कि युग की किसी महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक समस्या के समाधान में वे हृदय परिवर्तन की अवधारणा का उपयोग नहीं करते हैं। इसलिए उन्हें, गांधीवादी नहीं कहा जा सकता है। वर्ग, शोषण, संपत्ति का संचय आदि को लेकर उनके विचार निश्चय ही समाजवादी हैं। मिश्र जी ने अपने साक्षात्कारों में स्वयं को 'मार्क्सवादी' कहा है और यह स्पष्ट किया है कि 'मार्क्सवाद' उन पर एक सीमा से अधिक नहीं छाने पाया है। उन्होंने इसे 'नारे' के रूप में न लेकर एक दृष्टि के रूप में लिया है, गरीबी के अपमान और दर्द को समझने और लिखने के निमित्त लिया है। लेकिन अधिकतर वामपंथी समीक्षक मिश्र जी को बिरादरी-बाहर ही मानते हैं। प्रायः उन्होंने रामदरश मिश्र के उपन्यासों की चर्चा ही नहीं की है। डॉ. नित्यानंद तिवारी, डॉ.

विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे सहृदय समीक्षकों ने अवश्य मिश्र जी के उपन्यासों पर लिखा है। 'अपने लोग' पर लिखते हुए डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का विचार कुछ ऐसा है कि कथाचरित्र प्रमोद की तरह रामदरश जी भी अपने को मार्क्सवादी घोषित तो करते हैं, लेकिन राजनीति से कहीं नहीं जुड़ते। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने यह आप की है कि इस उपन्यास में 'व्यक्ति' को राजनीति के चरित्र मानने की गलती की गई है।

वस्तुतः रामदरश के उपन्यासों में आये कथित मार्क्सवादी चरित्र अवसरवादी और कथनी-करनी में फर्क वाले हैं। स्व. सव्यसाची जैसे मार्क्सवादी लेखक इस बारे में दृढ़ थे कि मार्क्सवाद को मानने वाला 'कम्युनिस्ट' एक श्रेष्ठ व्यक्ति होता है-"कम्युनिस्ट होना संसार का सबसे बेहतरीन इंसान होना है क्योंकि दुनिया में कम्युनिस्ट ही ऐसे जीव हैं जो अपने लिए न जीकर समाज के लिए जीते हैं..." लेकिन जहाँ कम्युनिस्ट अपने लिए ही जी रहे हों, दूसरों के शोधप्रबंध से 40-50 पृष्ठ उड़ाकर अपना शोधकार्य पूरा कर रहे हों, हर अकादमी, हर सरकारी संस्थान के दोहन में जुटे हुए हों, जातिवाद को खुलेआम बढ़ावा दे रहे हों, क्या तब भी उन्हें दुनिया के बेहतरीन आदमी के तौर पर चित्रित किया जाना चाहिए? मिश्र जी के उपन्यासों में आये रामकुमार, मोतीलाल, जनार्दन आदि तनिक भी अवास्तविक नहीं हैं। यदि उनके मन में कम्युनिस्टों के प्रति कोई पूर्वाग्रह होता तो वे 'कामरेड जगत्' (आकाश की छत) जैसे जुझारू और सकारात्मक चरित्र की सृष्टि नहीं करते। वर्गभेद, शोषण, वर्ग संघर्ष आदि से संबंधित उनकी जीवन दृष्टि पर मार्क्सवाद का बहुत गहरा असर है। मार्क्सवाद एक ऐसा मानवीय विचारवाद है कि कोई भी प्रबुद्ध जागरूक समकालीन लेखक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। मिश्र जी की मूल्यदृष्टि भी कई स्तरों पर मार्क्सवाद के चिंतन सूत्रों से प्रेरित, प्रभावित और निर्मित है। उनके उपन्यासों में बार-बार समता और समानता की माँग उभरती है। 'आकाश की छत' के अंत में आया कथन 'और जवार को जीना है तो सेठ को खत्म करना होगा' संकेत देता है कि सेठ अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था का खात्मा बहुत जरूरी है। मिश्र जी के हर उपन्यास में व्यवस्था-विरोध के तेवर हैं। पूँजीवादी तंत्र से लेकर आज के नवधनाढ्य वर्ग के हित में जुटी लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्विरोध, उपन्यासकार के प्रहार की सीमा में हैं। परिवर्तनकामी व्यक्तियों और शक्तियों को अपना खुला समर्थन देते हुए रामदरश मिश्र ने जता दिया है कि वे जनहितकारी और सकारात्मक परिवर्तन में गहरा विश्वास रखते हैं।

झूठ, बेईमानी और प्रपंच की मुखर भर्त्सना, शोषण और अत्याचार का विरोध, वर्ग संघर्ष का आह्वान, दलितजन की पक्षधरता, रूढ़ि, जड़ता, अंधविश्वास से असहमति, परिवर्तनकामी शक्तियों का समर्थन-रामदरश मिश्र के उपन्यासों में व्यक्त मूल्य-चिंतन के प्रमुख पक्ष हैं। इन्होंने उनकी कृतियों को विचारोत्तेजक, पठनीय, विचारणीय, प्रासंगिक और बहुत कुछ स्थायी महत्त्व का बनाया है। यह उपन्यासकार का कौशल है कि उसने मूल्यों को संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया है, इससे कृतियों की संप्रेषणीयता बढ़ी है। हिंदी उपन्यास का कोई पाठक या समीक्षक यदि कुछ पूर्वाग्रहों से युक्त होकर भी विचार करेगा तो मिश्र जी की उपन्यास-यात्रा के तीन पड़ाव–'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', 'अपने लोग' संपूर्ण हिंदी उपन्यास की स्थायी उपलब्धियों के रूप में दिखायी देंगे। उनके लघु उपन्यासों के महत्व पर आलोचकों का ध्यान कम गया है। 'आकाश की छत', 'बिना दरवाजे का मकान' आदि कृतियों में भी बहत दिन तक जीवित रहने की शक्ति विद्यमान है, क्योंकि वे न केवल अनुभवों की गहरी जमीन धँसी हुई अपितु महत्वपूर्ण जनधर्मी मूल्यदृष्टि से भी संपन्न हैं।

पानी के प्रचीर : प्रतिबद्धता का सर्जनात्मक रूप

–डॉ. ज्ञानचंद गुप्त

रचनाकार रामदरश मिश्र ने अपनी सृजन-यात्रा की शुरुआत तो गीत और कविता से की पर साहित्य में अपनी एक विशिष्ट पहचान आँचलिक उपन्यासकार के रूप में बनाई। उनके उपन्यासों में प्रतिफलित आँचलिकता उनके प्रामाणिक अनुभवों एवं दृष्टि की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसमें ग्राम जीवन की आंतरिकता प्रकृति, प्रवृत्ति, ऊष्मा, लय, लोक-संपृक्ति, विसंगति, कुरूपता से जीवन यथार्थ की बहुआयामी तथा समग्र पहचान उजागर हुई है। अनुभव और मूल्यों के बदलते धरातल पर गहरे सामाजिक सरोकार और प्रतिबद्धता का सर्जनात्मक रूप यहाँ दृष्टिगत होता है। आँचलिकता उनके अनुभव और दृष्टि की सीमा नहीं, दिशा है जो संभावनाओं के नए द्वार खोलती है।

'पानी के प्राचीर' रामदरश मिश्र का पहला उपन्यास है जिसका प्रकाशन सन् 1961 में हुआ। यह उपन्यास पांडेपुर गाँव के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्ति तक के भारतीय ग्राम की एक विशिष्ट एवं प्रामाणिक गाथा प्रस्तुत करता है। मिश्र जी ने इस उपन्यास के रचाव में संवेदना के इकहरे विधान की जगह अपनी कलात्मक दृष्टि से गाँव के संश्लिष्ट और समग्र यथार्थ को बड़ी गहराई से रूपायित किया है। इस उपन्यास का प्रारंभ गाँव के प्राकृतिक परिवेश में फागुनी पूनों की डह-डही चाँदनी में नगाड़े पर चौताल गाते पांडेपुर के लोगों के हर्षोल्लास के समवेत स्वरों से होता है और अंत देश के स्वतंत्रता प्राप्ति के उपलक्ष्य में हुए स्वागत समारोह में नारे लगाते लोगों की हर्षित भीड़ से। लोगों का जुलूस बाढ़ की ओर हाथ उठा-उठा कर घोषणा कर रहा था–"पानी की दीवारें टूटेगी! नये, सपने खिलेंगे, नई रोशनी लहराएगी"। नारों के इन समवेत स्वरों में गाँव का हर्षोल्लास बोल रहा था। इस आजादी के लिए इन गाँव वालों ने क्या-क्या नहीं किया और क्या-क्या नहीं झेला। प्रारंभ और अंत के हर्षोल्लास के बीच गाँव के अंधविश्वास, दुःख-दर्द, जड़ता, शोषण, उत्पीड़न, ऊँच-नीच, नए-पुराने मूल्यों की टकराहट, फटेहाली, आर्थिक परेशानियाँ, बाढ़ की मार से उजड़ते कछार, अंचल के लोगों को कथा-सूत्र में पिरोने का प्रयास किया है। पांडेपुर गाँव की भौगोलिक स्थिति भी अपने परिवेश की रेखाओं से उस जीवन के दुखदों को भी इंगित करती है। गाँव पांडेपुर के विषय में लेखक कहता है कि, 'पानी के प्राचीर' का कथांचल गोरखपुर जिले में राप्ती और गोर्रा नदियों की धाराओं से घिरा हुआ एक विशाल भू-भाग है, जो युगों से अपनी सारी हरियाली इन नदियों की भूखी धाराओं को लुटाकर केवल विवशता, अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संसार के सारे सूत्रों से कटा हुआ यह प्रदेश अपने आप में एक संसार है। यहाँ न सड़कें हैं, न शिक्षण संस्थाएँ, न सुविधापूर्ण डाकखाने हैं, न सुरक्षा के लिए पुलिस चौकियाँ, न चिकित्सालय हैं, न खेतों के सुधार या विकास के लिए कोई सरकारी या गैर सरकारी व्यवस्था है। यहाँ है असूझ गरीबी, व्यापक शिक्षा अजगरों की तरह बल खाते, दौड़ते, ऊँचे-नीचे नाले, बीमारी, बेकारी, आपसी फूट और सर्दियों पुरानी जर्जर नैतिक मान्यताएँ।" इस तराई के क्षेत्र में राप्ती और गोर्रा नदी तो आर्थिक जिंदगी को तोड़ती ही हैं यहाँ अनेक तरह की विसंगतियाँ, अभाव और विवशताएँ

जिंदगी को तनावपूर्ण बनाए रहती हैं। अपने नवीन कथा-विन्यास में मिश्र जी ने जड़ मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों की स्थापना कर तथा सामंती शक्तियों के ह्रास को दिखाकर प्रगतिशील जीवन दर्शन की महत्वपूर्ण पक्षधरता की है। जीवन के समस्त तत्वों और पक्षों को उभारने के पीछे लेखक का लक्ष्य इस भूभाग की चेतना का साक्ष्य प्रस्तुत करना रहा है जो विभिन्न कोणों और आड़ी-तिरछी रेखाओं के द्वारा रूपायित हुआ है। मिश्र जी के अनुभवों की अभिव्यक्ति अभिप्राय की अन्वति के बिना नहीं होती। जीवन यथार्थ के विभिन्न प्रसंगों के जरिए इसे समझा जा सकता है। उपन्यास के प्रारंभ में ही वे होली के प्रसंग में नीरू से यह कहलाकर कि, ''यह हमारा अन्याय है कि हम निरबल तेली का गोहरा भी उजाड़े और उसे मारें भी।'' मिश्र जी अपने विवेक, समझदारी एवं प्रगतिशील दृष्टि का परिचय देते हैं। होली में जलाने के लिए जब गाँव के शरारती लड़के रामदीन की झोंपड़ी उजाड़कर और बाद में उसे भी चारपाई सहित उठाकर होली में डाल देते हैं, तो वह होली जलने के समय तक वहीं पड़ा रहता है और जब गाँव के लोग तथा मुखिया उससे निकलने का आग्रह करते हैं तो वह कहता है, 'मुखिया बाबू किस लिए निकलूँ? बाल-बच्चों को भगवान ने छीन लिया, जो रही सही झोंपड़ी थी उसे आपके इन राजकुमारों ने उजाड़ कर होली मैया में डाल दिया। अब इससे बढ़िया चिता कहाँ मिलेगी, आज आप लोगों को आशीष देती हुई साँस उड़ जाएगी।। रामदीन के इस कथन में असहायता और विरोध के साथ-साथ सत्याग्रह की वह चेतना छिपी है जिसने देश के स्वातंत्र्य संघर्ष में एक महत्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका निभाई। मिश्र जी ने रामदीन के जरिए गांधी जी के राजनीतिक अस्त्र सत्याग्रह की खोज ग्राम चेतना में की है। एक अन्य संदर्भ में जब नीरू का छोटा भाई केशव आगे पढ़ने के लिए मना करता है और अप्रत्यक्ष रूप से उसके क्रिया-व्यवहार को पसंद नहीं करता है तो नीरू कहता है, "मैं हमेशा ऐसा नहीं था केसू पहले यदि मैं भूल से किसी किसान को एक चपत मार देता था तो रात-रात भर रोता था; इधर पता नहीं एकाध साल मुझे क्या हो गया कि मैं अपने को भूल गया। इंसानियत को भूल गया, रह गया राक्षस रूप में। ...इनके भूखे परिवारों की याचना भरी आँखें मेरे कलेजे में पैठ गई कितनों का बकाया लगान छोड़ दी है... कितनों को इस जुल्मी जमींदार से बचाया है, किंतु नहीं मालूम मुझे इन दिनों क्या हुआ जा रहा है?'' नीरू का अपने ऊपर खींझना और सोचना मिश्र जी की अभिप्राय अन्विति का एक और रूप है।

रामदरश जी गाँव की अच्छाई-बराई सबको अपनी आँख से देखते हैं। पांडेपुर की गरीबी का हाल उन्हें बाहर-भीतर दिन-रात मथता है।... ''इस अंधकार में किसानों के अनेक तड़पते चेहरे, आँसू से भीगी खोह-सी शून्य आँखें धूप में तपती हुई रक्त से चिपचिपी पीठे, क्षमा-याचना करते हुए हाथ, खाली झोपड़ियाँ, बिलखते हुए बच्चे, अहकती हुई नारियाँ नजर आ रही हैं...।'' गाँव की इस विडंबनापूर्ण स्थिति आर्थिक फटेहाली एवं रोजी-रोटी के सीमित साधनों के कारण सारा गाँव ही टूटकर बिखर गया। कोई गाँव से निकलकर भिखारी बना तो कोई महात्मा, कोई मुंशी बना तो कोई कोयलरियों का मजूर। नीरू मुंशी जी के साथ दूसरे गाँव में लगान वसूल करने गया हुआ था। उस गाँव में शुक्ल जी के यहाँ एक बड़े महात्मा के आगमन का शोर मचा हुआ था। मुंशी जी भी नीरू को साथ लेकर उस ओर निकल पड़े। मार्ग में देखता

है कि उसी के गाँव का टीसुन गाँव में 'भज लो रामचंद्र का नाम' कह कहकर भीख माँग रहा है। कन्नू पांडे और रग्घू उस गाँव के लिए बड़े महात्मा बनकर आये थे। यह सब देख नीरू अंदर-ही-अंदर रो उठता है और कहता है, ''हाय रे पांडेपुरवा गाँव, तेरी यह हालत? कन्नू पांडे महात्मा बने हुए हैं, दोनों पक्के गँवार, किंतु महात्मा बनकर लोगों को ठग रहे हैं। टीसुन और पांडे में क्या अंतर है? दोनों ही भीख माँग रहे हैं, किंतु टीसुन को गाली मिल रही है और कन्नू पांडे को आदर, यश और धन तीनों। आजीविका की खोज में पांडेपुर गाँव कहाँ से कहाँ पहुँच गया। पांडेपुर के दर्द से दुखी नीरू स्वयं भी अपने जीवन की असफलताओं से धीरे-धीरे निराश होकर टूटता है और उसे लगता है, यह समूची जिंदगी निमित्त मात्र बनकर एक दिन जाये। जिंदगी में कहीं भी एक क्षण लिए विराम तृप्ति न दिखाई पड़ी।'' बचपन में गरीबी के कारण मुखिया का लड़का महेश होली पर उसे अपमानित कर उसकी कमीज फाड़ देता है, जवानी में संध्या (जिसे वह दिल से प्यार करता था) से शादी नहीं कर पाता, नौकरी के लिए कहाँ-कहाँ नहीं जाता और अंत में आदर्शों से समझौता कर जमींदार गजेन्द्र सिंह के यहाँ नौकरी करता है, और नौकरी में जब उसे मजदूरों पर अत्याचार करने पड़ते हैं तो वह भी करता है और अंत में जब उसका छोटा भाई केशो उसके अत्याचारों को देख पढ़ने से मना करता है, तो वह आश्वस्त करते हुए कहता है, "विश्वास मान केशो अब तेरी पढ़ाई के रुपयों में किसानों के रक्त की गंध नहीं आएगी।'' नीरू की सारी जिंदगी में संघर्ष के स्वर शुरू से अंत तक बिखरे पड़े। कहीं वह मुखिया के बेटे से, कहीं मुखिया से, कहीं फटेहाली से तो कहीं गाँव की अन्य बेवकूफियों से टकराता दृष्टिगत होता है। इसी संघर्ष में उसका अपना घर फूंकता है, जेल जाता है, मानसिक यातनाएँ झेलता है और इन्हीं सबसे उसका प्रगतिशील व्यक्तित्व उभरता है।

लेखक गाँव घर की एक-एक सच्चाई से वाकिफ है। वह उन्हें खोलता है और उनके जरिये अपने सामाजिक सरोकारों को वाणी देता है। पांडेपुर गाँव में छोटी-बड़ी जातियों के लोगों में यौन-संबंधों को लेकर अनेक तरह की विसंगतियाँ हैं। कहीं वे शोषण के कारण हैं, कहीं स्वेच्छा से तो कहीं आर्थिक मजबूरियों के कारण। 'पानी के प्राचीर' के गाँव पांडेपुर की बिंदिया चमारिन के पीछे सारा गाँव पागल है। क्या जवान क्या बूढ़े सभी की लार टपकती है कोई चोरी-चोरी आँख मिलाने की ताक में है तो कोई जोर जबरदस्ती से ही मतलब साधने के चक्कर में है। बिंदिया चमारिन ने गाँव के बैजनाथ का हाथ पकड़ लिया है और उसी के साथ रहती है। गाँव की उच्च जातियों के लोगों का यथार्थ एवं नारी चेतना उसकी इन पंक्तियों में व्यक्त होती है, ''इन छोकरों और बूढ़े बैलों की आसक्ति केवल मेरी देह के लिए है। अंधेरे में उसे चूसकर ये बामन लोग उजाले में पंडित बने घूमेंगे और उसकी छाया से भी बचने के ढोंग रचेंगे। इनमें देने की कसक बिल्कुल नहीं है बस सब लेकर हजम कर जाने का हौसला है। कैसे हैं ये बामन कुत्ते, रात में विष्ठा तक खा लेंगे और दिन को ओठों पर पान की पीक पोतकर महकने की कोशिश करेंगे।'' गाँव के यौन-संबंधों की यह एक बेबाक सच्चाई है। इसकी पुष्टि पांडेपुर की एकमात्र छात्रा संध्या जो गोरखपुर पढ़ने जाती है, अपने बाल-प्रेमी नीरू के गाँव लौटने के आग्रह पर दिये जवाब से होती है, "गाँव में क्या रखा है नीरू, देखो न सखियों के नाम पर गेंदा चमेली जैसी आवारा छोकरियाँ हैं। गाँव के

लौंडे हैं, जो बिंदिया चमारिन के पीछे पड़े रहते हैं और गाँव की लड़कियों पर बुरी निगाह गड़ाये फिरते हैं। गाँव के लोग चोरी करते हैं, खेत उखाड़ते हैं, घर फूँकते हैं, चुगली करते हैं–ऐसा गाँव में क्या रखा है? और तो दिल बहलाने के लिए कोई तरीका नहीं। किसी से बात करो तो वह दूसरों की शिकायत करता है। औरतें हैं तो उन्हें एक-दूसरे के घर की पोल खोलने में ही मजा आता है।'' पांडेपुर गाँव के सामाजिक जीवन में व्याप्त यौन संबंधों की यह कटु वास्तविकता है। संध्या पढ़ी-लिखी जागरूक लड़की है, जो गोरखपुर में रहकर गाँव की इस हालत से परिचित है। गाँव में पारस्परिक झगड़े में शामधारी की मौत भी एक तरह से संध्या के उपर्युक्त कथन को ही पुष्ट करती है। गाँव का सामाजिक परिवेश विभिन्न प्रकार की विसंगतियों के कारण रहने लायक नहीं रह गया है। गाँव जो सदाशयता, पारस्परिकता, सामूहिता के केंद्र माने जाते थे अब बदल रह हैं। कुछ तो परिस्थितियाँ कुछ नया मूल्यबोध गाँव को तोड़ रहा है। गाँव में पुलिस और जमींदार शोषण के नये-नये तरीके रच रहे हैं। ग्राम पंचायत के मुखिया और सरपंचों को पुलिस ने अपने गिरोह का सक्रिय अंग बना लिया है, 'पानी के प्राचीर' उपन्यास के पांडेपुर के मुखिया कुबेर पांडे पुलिस के दलाल बन गये हैं। अपने ही गाँव के वैजनाथ को पुलिस को बुला पकड़वाते हैं, बाहर-बाहर दोस्ती का दम्भ भरते हैं। पुलिस द्वारा बुलाये जाने पर ऐसा नाटक रचते हैं, मानो उन्हें इसकी कोई खबर नहीं। और फिर अपने ही आप उसे छुड़ाने की बात चलाते हैं। बैजू की माँ की चाँदी की 80 भर की हँसुली को सुमेस्सर साहू के यहाँ पचास रुपये में रखकर चालीस की बताता है तथा यह कहता है कि चालीस रुपये उसने पुलिस को पटाने में लगा दिए। इस दलाल की जबानी सफाई देखते बनती हैं ''बैजू! क्या बताऊँ, दरोगा किसी तरह मानता नहीं है, पचास रुपये से नीचे आ ही नहीं रहा था, बड़ी मुश्किल से चालीस पर तै किया है। अब तुम लोग कहीं से इंतजाम करो।'' गाँव घर की चंटई कितनी चक्करदार है कि आदमी अपना बनकर अपनों को ठगता है और चेहरे पर शिकन तक नहीं आने देता। परिवेश की क्रूरता में आदमी की आदमियत लगातार टूटने को अभिशप्त है। रामदरश जी ने 'पानी के प्राचीर' के गाँव पांडेपुर में राजनैतिक चेतना का उभार गाँव के गरीब लोगों में दिखलाया है। गाँव में स्वतंत्रता संग्राम में अपनी भागीदारी दिखाने के लिए तथा गांधी जी के प्रति अपनी गहरी निष्ठा व्यक्त करने के लिये जुलूस निकलता है। जुलूस का नेतृत्व गाँव के ब्राह्मण टोली के नेता गनपति के हाथों जरूर है लेकिन उनके सहयोगी हैं हरिजन नेता फेंकू, निरबल तेली, दधिवल यादव और भीखम गडेरी। गाँव के ये सामान्य नेता राष्ट्रीय जागरण में भले ही कोई प्रभावकारी भूमिका ने निभा पाते हों लेकिन गाँव में सुराजी चेतना के प्रचार-प्रसार के साथ अपनी समझदारी के संकुचित दायरे में पारस्परिक वैमनस्थ बोते रहते हैं। इन राजनेताओं का व्यक्तित्व भी अपने हानि-लाभ से ही अधिकतर परिचालित रहता है। दो-चार अवसरों पर उनमें चेतना उभरती है। नीरू गाँव का प्रकाश पुंज है जो शुरू से अपने सिद्धांतों का पुजारी है, किसी का मुखापेक्षी न होकर राष्ट्रीय चेतना से आंदोलित है। जमींदार गजेन्द्र सिंह जैसे प्रतिक्रियावादी के यहाँ कारिंद्रे की नौकरी करते हुए भी चुपके-चुपके क्रान्तिकारियों के साथ गुप्त मंत्रणा कर स्टेशन फूँकने की योजना को बड़े ढंग से नियोजित करवाता है। गाँव में जन-जागरण की अनेकों घटनाएँ घटती हैं जैसे सन् 1942 में स्टेशन

फूँकने की घटना, बार-बार गाँव में जुलूस निकालना, गाँव के मुखिया के अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाना आदि। हरिजन नेता फेंकू गाँव के हरिजनों को समझाते हुए कहते हैं, ''भाइयो तुम करान्ती करो सुराज अब मिल ही जाएगा। तब फिर क्या पूछना तुम्हारे पास भी खेत होंगे मकान होंगे, तुम्हारे भी लड़के इस स्कूल में पढ़ने जाएँगे। हाँ, गांधी जी कहते हैं–सुराज मिलने पर कोई भूखा न रहेगा।''

राजनीतिक चेतना जगाने वाले फेंकू गाँव में कितने असहाय हैं इसका पता हमें तब लगता है जब मुखिया उन्हें बुलाकर डाँटता है और घर फूँकने की धमकी देता है और वह जी मसोसकर इतना ही कह पाता है–''अरे मालिक इतना नाराज होने की कौन-सी बात है? मैं तो अभी जिंदा हूँ। मैं खुद ही काम करूँगा आपका।'' नेता गनपति की भी गाँव में लगभग ऐसी ही स्थिति है। पट्टीदारी की वैमनस्यता में बँटा गाँव जन- जागरण की वास्तविक चेतना से कोसों दूर है। सुराजियों के विभिन्न क्रियाकलापों की सफलता और असफलता के विभिन्न मुद्दों पर विचार करने से यह तो स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि मिश्र जी ने स्वातंत्र्य संघर्ष में जन-चेतना की सक्रियता को स्पष्ट रेखांकित किया है। सामंतवादी शक्तियाँ और शोषक शक्तियाँ आजादी मिलते ही कांग्रेसी नेताओं के पास घेरा डालने लगीं। 'पानी के प्राचीर' में आया एक दृश्य मुखिया की गिरगिटी प्रवृत्ति को बखूबी उजागर करता है। कुछ क्षण पहले हरिजन नेता फेंकू को डाँटने वाला मुखिया जब गनपति नेता से आजादी की खबर सुनता है, तो एकदम जुलूस के आगे खड़े होकर भाषण देता है और नेतृत्व की बागडोर संभालने लगता है। तभी गाँव का नीरू उसके बेटे की गिरफ्तारी का समाचार देकर उसे जुलूस की अगुवाई से हटाता है। मिश्र जी की राजनीतिक चेतना में गाँव की सहज स्वाभविकता, कलात्मक संयम और साहित्यकार की गहरी समझदारी है। हालाँकि यह उपन्यास राजनीतिक जिंदगी की अनेक विसंगतियों को उजागर करता है लेकिन मिश्र जी ने तो प्रगतिवादी सिद्धांताग्रहियों की भांति वहाँ की गंदगी, बुराई और मुफलिसी को ही उभारते हैं, और न गाँव को आदर्शवादी दृष्टि से ही देखते हैं। लेखक ने विभिन्न स्थितियों का निर्माण कर रचनात्मक ढंग से अपनी विवेकपूर्ण अभिव्यक्ति की हैं जिसमें कलात्मक संतुलन है। लेखक ने गाँव की अपराजेय संघर्षशील चेतना को लोगों के दैनंदिन क्रिया व्यापारों के बीच तलाश कर अपनी रचना-दृष्टि की सार्थकता सिद्ध की है। 'पानी के प्राचीर' में प्राकृतिक छटा और काव्यात्मक अन्विति का प्रारंभ ही इस बात का परिचायक है कि लेखक गाँव के चप्पे-चप्पे को तो जानता ही है, उसे वहाँ क तीज-त्यौहार, मेले, लोक-गीत और लोक-पर्व सब की गहरी जानकारी है। गाँव का सजीव वातावरण, खेत-खलिहान, पशु-पक्षी और रागरंग पांडेपुर की अपनी विशिष्टता है। यहाँ हवा का हर झोंका किसी-न-किसी देवता का स्पर्श लिए झरझरा रहा है। ''डिम-डिम-डिम... और मइया कवने कसुरिया एतना देरिया तगवले उहूहू... डिम-डिम- डिम। चाँदनी रात भी भयावनी लग रही है। लगता है, अभी घर से बाहर निकलना नहीं कि किसी देवता की सवारी से टकरा गया चारों ओर लाल-लाल टेसू लाल सेमल भवानी की ध्वजा की तरह आकाश में जल रहे हैं।'' यहाँ प्राकृतिक प्रकोप भी है अंधविश्वास भी हैं, लोक परंपराएँ भी हैं और लोकगीत भी हैं। नवरात्रि के मेले में जादू-टोना एवं औरतों का अस्त-व्यस्त नाचना, वर्षा के लिए औरतों का नंगी होकर हल चलाना, विधवा गेंदा को अशुभ मानना अंधविश्वासों के विविध रूप

हैं। उपन्यास में लोक-गीतों की धुन अटी पड़ी हैं जो परिवेश चित्रण में अपनी सर्जनात्मक सिद्ध करती हैं।

मिश्र जी के 'पानी के प्राचीर' के सभी पात्र कछार अंचल की मिट्टी और वहाँ के हवा पानी से निर्मित हैं। ये पात्र अपने वर्ग के तो प्रतिनिधि हैं ही लेकिन अपनी निजता भी बनाए हुए हैं। नीरू सामाजिक संदर्भों में आदर्श और यथार्थ का गहरा द्वंद्व झेलता, परिस्थितियों से टकराता, चीजों को धकियाता और कहीं स्वयं टूटता दृष्टिगत होता है। मिश्र जी अपने पात्रों पर हावी नहीं हैं वे उनका सहज विकास होने देते हैं। नीरू के माध्यम से लेखक आज की समूची व्यवस्था में फैलती अमानवीकरण की ठोस स्थितियों को रूपायित कर उसे पहचानता है। नीरू मध्यवर्गीय परिवार की सारी आर्थिक परेशानियों झूठी सामाजिक प्रतिष्ठा का मोह, बेकारी और व्यापक टूटन का शिकार होकर भी विरोधी शक्तियों से लड़ता है और सामाजिक अवमूल्यन के खिलाफ आवाज उठाता है। मुखिया की विभिन्न यातनाएँ झेलकर मुखिया का नकाब उतारता है और उसे स्वतंत्रता समारोह की अगुआई नहीं कर देता। मुखिया सामंतवादी शोषक शक्तियों का प्रतीक हैं। मिलिन्द, संध्या गाँव के होकर भी गाँव के नहीं है। फेंकू बाबा, गनपति, दधिवल यादव गाँव के जागरूक नेता है। रामदयाल, पासी हरेठी गाँव में नयी चेतना के प्रतीक हैं। मुखिया का पुत्र महेश गाँव का कलंक है। टीसुन, रग्घू बाबा, बेनी काका, धीमड़ पांडे, छेदी पांडे इधर-उधर की लगाने वाले दोगले लोग हैं जो कभी मुखिया के साथ तो कभी नीरू के साथ हो जाते हैं। घनश्याम तिवारी सबसे अलग किस्म के हैं। कन्नू पांडे, रग्घू गाँव के ठग हैं जो महात्मा बनकर दूसरे गाँवों में ठगई करते हैं, टीसुन गा-गाकर भीख माँगते हैं। बैजू व्यवहार में थोड़ा अधिक शरारती है। खेत फूँकना, बैल-भैंस खोलना, रातों-रात पक्की फसल काटना आदि जहाँ उसकी बुराइयाँ हैं वहाँ उसमें कछार का ठेठपन भी है। ग्राम परंपराओं फोनकार कर जब बैजू गुलाबी को अपने घर रख लेता है तो पांडेयपुर गांव के लोग उसका सामाजिक बहिष्कार करते हैं। गाँव का नीरू जैसा प्रगतिशील युवक की पंचायत में उन्हें चुप कराता है असहाय अबला को सहारा देने के लिए बधाई देता हुआ कहता है, ''मैं जानता हूँ कि असहाय अबलाओं को छिपे-छिपाये अपनी वासना के होठों से चूसकर फेंक देने वाले, अपने कुकर्मों का पर्दाफाश करने वाले, भ्रूणों की हत्याएँ करने वाले हमारे भीतर भरे पड़े हैं, लेकिन साहस के साथ दुनिया की झूठी बदनामी की परवाह किए बिना एक नारी का हाथ पकड़ना और उसकी संतान को अपनी संतान के रूप में स्वीकार करना बहुत बड़े पुरुषार्थ का कार्य है। बैजू ने आज एक पवित्र कार्य किया है।''नीरू ही नहीं युगीन चेतना से गाँव के नर-नारी सभी जागरूक हैं। मिश्र जी ने अपने पात्रों का वर्गीय वैशिष्टय भी रेखांकित किया है। खासतौर से उनके नारी पात्रों में सामाजिक दायित्व के पक्ष से लेकर प्रेम के वैयक्तिक धरातल तक श्रमिक वर्ग की नारियाँ अधिक संघर्षशील दिखाई देती हैं। मानवीय संवेदनशीलता का परिचय देने वाली ये नारियाँ परिस्थितियों के सामने झुकती नहीं, उनका डटकर मुकाबला करती हैं। ये सभी श्रमिक होने के साथ ही तथाकथित छोटी जाति की नारियाँ हैं। लेकिन ये बड़ी जातियों के बड़प्पन के खोखलेपन को बखूबी जानती हैं। बिंदियाँ सोचती है, "कैसे हैं ये बामन कुत्ते! रात में विष्टा तक खा लेंगे और दिन में ओठों पर पान की पीक पोतकर महकने की कोशिश करते हैं।'' बिंदिया चमारिन के सोच में नए जमाने की आग

है। नयी नारी के स्वर हैं जो जीवन यथार्थ के संघर्षों से उपजे हैं। मिश्र जी के पास जीवन के ठोस और वैविध्य अनुभवों का एक पूरा संसार है और उन्हीं अनुभवों की ऊष्मा से पात्र निर्मित हुए हैं। 'पानी के प्राचीर' का भाषिक रचाव कथा-भाषा की गुणवत्ता लिए हुए है, उसमें वर्णन सामर्थ्य अद्भुत है। परिवेश की जीवंतता की सर्जनात्मक अनिवार्यता के लिए काव्यात्मकता का पुट है। कवि की दृष्टि आँचलिक संवेदना को अक्षुण्ण बनाए रखने में बिंब, प्रतीक और अलंकारों के प्रयोग को भी उचित मानती है। पांडेपुर की गरीबी का हाल इन पंक्तियों में कितना मार्मिक हो उठता है, ''...इस अंधकार में किसानों के अनेक तड़पते चेहरे, आँसू से भीगी हुई खोह-सी भीगी हुई खोह-सी शून्य आँखें, धूप में तपती हुई रक्त से चिपचिपी पीठे, क्षमा याचना करते जुड़े हुए हाथ, खाली झोंपड़ियाँ इसी तरह बिलखते हुए बच्चे, डहकती हुई नारियाँ नजर आ रही है।'' मिश्र जी के 'पानी के प्राचीर' में बाढ़ का वर्णन फोटोग्रेफिक शैली में हुआ है। लोकगीतों लोक-भाषा के शब्दों और मुहावरों से भाषिक-रचाव में वर्णनात्मक लोच और सरसता आई है। मिश्र जी की भाषिक संरचना ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता एवं काव्यात्मकता से आँचलिक यथार्थ की गहरी अभिव्यक्ति करती है। ''नगारे की आवाज पर रात थरथरा रही थी। ढोलक और झाल से होड लेता हुआ चौताल गाँव की गलियों में उफन रहा है...।'' ऐसे अनेक संदर्भ और स्वरों से रचे दृश्य उपन्यास की भाषिक क्षमता का निदर्शन करते दृष्टिगत होते हैं। मिश्र जी ने कथा भाषा में भी अपने संश्लिष्ट अनुभवों को अधिक मूर्त और इंद्रियग्राह्य बनाने के लिए कही सीधे सपाट तो कहीं वर्तुल बिंबों को निर्मित की है जो उनकी सहजता एवं कलात्मकता को बताती है। इस उपन्यास की भाषा गाँव की तो है ही, उसमें एक गीतात्मक लय भी है जो उपन्यास को जगह-जगह काव्यात्मक, सांकेतिकता तथा नाटकीय वक्रता प्रदान करती है। डॉ. निर्मल कुमारी वार्ष्णेय ने इस संदर्भ में ठीक ही कहा है, "जनवादी होने के कारण जनभाषा को उन्होंने (मिश्र जी) गहराई से पहचानने की कोशिश की है, लेकिन वे उन शहरी बन जाने वाले आधुनिक कथाकारों से भिन्न हैं जो गाँव से निकलकर गाँव से इतने अलग हो गए हैं कि उनके लिए गाँव दृश्य और तमाशा बनाया है। कोई गाँव को गाली-गलौच की भाषा में बनते विकसित होते देखता है। (राही) कोई गाँव को नाचते-गाते ढोलक मंजीरा पीटते, तीज-त्यौहार में देखता है (रेणु) कोई उन्हें मूर्खताओं और मुक्त शौचालयों में हगते-मूतते देखता है (श्री लाल शुक्ल) कोई तमाम विसंगतियों के भीतर दार्शनिक कवच में ढूँढ़ता है (शिव प्रसाद सिंह) लेकिन रामदरश मिश्र एक गाँव के अपने आदमी की तरह गाँव को सही ग्रामीण तनावों और दुखों के भीतर रचनाकार मित्र और पुत्र के रूप में देते हैं।''[13] अंत में कहा जा सकता है कि 'पानी के प्राचीर' आँचलिकता की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जो अपने प्रामाणिक अनुभवों की विपुल संपदा से कछारांचल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जिंदगी की संश्लिष्ट कथा कहता है। लेखक ने अपनी जमीन की सारी प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों की भरपूर पहचान के लिए मेलों, पर्वों, गीतों, नदियों, खेत-खलिहानों, बाग-बगीचों आदि का सर्जनात्मक उपयोग, मात्र बाहरी रूपविधान के लिए ही नहीं किया है, अपितु उससे मानवीय संवेदना की गहरी और भीतरी पर्तो को उघाड़ा है जो लेखकीय दृष्टि की रचनात्मकता सार्थकता को सिद्ध करता है।

संतुष्ट नहीं हो लेता, प्रत्येक घटना, पात्र या अनुभूति पर अपने अध्यापक, कवि समीक्षक और कथाकार के गुणों का समन्वित प्रभाव वे छोड़ते चलते हैं। उपन्यास की संरचना में उनके ये सभी रूप पर्याप्त सक्रिय दिखाई देते हैं। 'जल टूटता हुआ' की भूमिका में लेखक ने इस उपन्यास को अपनी सत्ता में पूर्ण स्वतंत्र होने के बावजूद 'पानी के प्राचीर' का उत्तरार्द्ध कहे जाने की छूट दी है। वस्तुतः 'पानी के प्राचीर' का घटनाक्रम स्वतंत्रता पूर्व के कालखंड पर आधारित है जबकि 'जल टूटता हुआ' में आजादी के बाद का घटनाक्रम है। आजादी के पूर्व और आजादी के बाद की प्रगति की पड़ताल लेखक ने गाँवों के संदर्भ में अपने उपन्यासों में करनी चाही है ग्रामीण जीवन के इस विकासात्मक अध्ययन-विश्लेषण के लिए उसने दोनों उपन्यासों में एक ही भू-भाम को आधार बनाया है। 'जल टूटता हुआ' की भूमिका में यह स्पष्ट किया गया है कि इस उपन्यास का भू-भाग भी वही कछार अंचल है जो 'पानी के प्राचीर' का है। 'पानी के प्राचीर' की भूमिका में लेखक ने इस क्षेत्र की भौगोलिक सीमाओं को निर्धारित भी किया है–'गोरखपुर जिले में राप्ती और गोरी नदियों की धाराओं से घिरा एक विशाल भू-भाग है जो युगों से अपनी सारी हरियाली इन नदियों की भूखी धाराओं को लुटाकर केवल विवषता, अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संसार के सारे सूत्रों से कटा हुआ यह प्रदेश अपने आप में एक संसार है।

'जल टूटता हुआ' में लेखक ने इसी अवश, अभावग्रस्त और संघर्षरत भू-भाग को चित्रित किया है। आँचलिक उपन्यासों के बारे में यह धारणा व्यक्त की जाती रही है कि इनका नायक कोई न कोई उपेक्षित अंचल होता है। 'जल टूटता हुआ' का भू-भाग भी राजनीति, प्रशासन के सरकारी सुविधाओं की दृष्टि से उपेक्षित ही है। आजादी के बाद भी वहाँ न सड़क हैं, न बाढ़ से बच पाने के तरीके, न चिकित्सा-सुविधाएँ हैं, न सुरक्षा-व्यवस्थाएँ। वहाँ अब भी गरीबी है, अशिक्षा है, बीमारी है, बेकारी है, स्वार्थ है, आपसी पूँट है, रूढ़ मान्यताएँ हैं और पारंपरिक विचारधाराएँ हैं। भाटपार, तिवारीपुर, सिंहपुर या पसियाने आदि गाँवों के ऐसे ही कछार अंचल के जन-जीवन को उसकी समग्रता में चित्रित करने का प्रयास लेखक ने 'जल टूटता हुआ' में किया है।

'जल टूटता हुआ' का परिवेश कछार अंचल की प्रकृति-पेड़, पौधों, फसलों, नदियों, नालों, ऋतुओं आदि के साथ-साथ वहाँ के बाढ़ और अभावग्रस्त जीवन के विविध सूत्रों को सिमेटता-बिखेरता चलता है। परिवेश-चित्रण में लेखक ने जहाँ एक ओर कछार अंचल के भौगोलिक और प्राकृतिक रूप को अनदेखा नहीं किया है, वहीं वहाँ के निवासियों के जीवन में बाढ़ और अभावों की निश्चित व स्थाई विभीषिका के विविध संदर्भों को वह उद्घाटित करता चला है–बाढ़ का प्रकोप प्रतिवर्ष इस अंचल को झेलना पड़ता है। बाढ़ की भयावहता से जुड़े अनेक अनुभवों को उपन्यास में अपने पात्रों के द्वारा लेखक ने व्यक्त किया है। बाढ़ की भयावहता लेखकीय चेतना पर इस कदर हावी है कि वह अपने कई उपन्यासों के शीर्षकों व वर्णनों में बाढ़ और जल के अनेक चित्रों को बार-बार प्रस्तुत करता है। यह जल प्रतीक रूप में अनेक तरह मिश्र जी की कृतियों में आया है। 'जल टूटता हुआ' के पात्रों के जीवन और चिंतन पर बाढ़ की भयानकता का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ बाढ़ प्रति वर्ष खेतों को नष्ट कर जाती है, मकानों को ध्वस्त कर पर

अपने लोग : आस्था और यथार्थ का द्वंद्व

–विनय

समकालीन साहित्य की मूल प्रकृति यथार्थवादी है। इस यथार्थवादी प्रकृति की विश्वसनीयता-सामाजिक विसंगति, क्रूरता, विषमता, आशा-आकांक्षा, सफलता-असफलता के निर्मम अनावरण की प्रक्रिया में लक्षित होती है। आज का लेखक सामाजिक यथार्थ और उसमें निहित द्वंद्व की चेतना का उद्‌घाटन करता हुआ, भावुकता से मुक्त होकर, वस्तुपरक दृष्टि से, मनुष्य और उसके सामाजिक संबंधों का उसके सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों का चित्रण करता है। इस दायित्व के निर्वाह में वह व्यक्ति मन की आंतरिक और बाहरी दुनिया को, मानवीय धरातल पर उदारता से व्यक्त करता हुआ उस संपूर्ण परिवेश को सामने लाता है, जो व्यक्ति और समाज के आचरण का जिम्मेदार होता है। यहाँ तक की रचनाशीलता किसी राजनैतिक-सामाजिक विचारधारा की प्रतिबद्धता की कायल नहीं होती-उसके व्यक्ति और समाजगत दृष्टिकोण का सीधा संबंध, समाज और व्यक्ति के वास्तविक चित्रण से ही रहता है लेकिन इसके आगे चलकर या कहना चाहिए कि अनावरण से आक्रमण तक पहुँचने के लिए एक प्रतिबद्ध दृष्टि की आवश्यकता होती है।

वर्तमान समाज की जटिल संरचना के कारण कुछ लोग प्रतिबद्धता से अलग संबद्धता पर बल देते हुए अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण की स्थापना करते हैं। ऐसे लेखकों का वैचारिक धरातल जरूरी नहीं कि समाजवादी-साम्यवादी सिद्धांतवादिता का अनुकर्ता हो-लेकिन निश्चित ही वे समाजवाद विरोधी नहीं होते और जाने-अनजाने उन समाजवादी मूल्यों की स्थापना पर बल देते हैं जो राजनीति दर्शन की प्रतिछवियाँ होते हैं। मानव-मूल्य चेता लेखक और राजनीतिक दर्शन के अनुगामी में एक भेद यह होता है कि जहाँ राजनीतिक व्यक्तित्व दलीय अंतर्विरोध को जानते हुए भी कड़े अनुशासकी माँग करता है, वहाँ लेखक अपने द्वारा स्वीकृत दर्शन के व्यावहारिक अंतर्विरोधों का भी निर्मम आलोचक होता है। उसकी दृष्टि केवल जीवन या लोक पर होती है और वह किसी भी लोक विरोधी बात को स्वीकार न करते हुए जनता के पक्ष में रहता है। वह कभी-कभी सत्ता का समर्थन करते वक्त भी देखता है कि कितनी मात्रा में उसका यह कर्म लोक-अविरोधी है। क्योंकि वह बड़े अन्याय की तुलना में छोटे अन्याय के तात्कालिक समर्थन को भी उचित मानता है। रामदरश मिश्र के उपन्यास 'अपने लोग' के प्रसंग में मैंने ये बातें इसलिए उठाई कि इस उपन्यास की संरचना के भीतर राजनैतिक चेतना से युक्त पात्र और स्थितियों का बहुत अधिक योगदान है। यह राजनैतिक उपन्यास न होते हुए भी संपूर्ण मानवीय व्यापार का विश्लेषण अधिकांशतः वर्तमान राजनीति के प्रभाव में करता है। बल्कि कहना यह चाहिए कि प्रस्तुत उपन्यास के सीधे-साधे दो पक्ष हैं–'एक प्रोफेसर प्रमोद का पक्ष, दूसरा डॉ. सूर्य, शिवनाथ, मंगलसिंह आदि का पक्ष इन दोनों पक्षों के द्वंद्व में उपन्यास की कथात्मक स्थितियों का विस्तार होता है। इस द्वंद्व की व्याख्या के लिए एक और आधार भी लिया जा सकता है, जिसका संबंध लेखक की मानव-मूल्य संबंधी धारणा से है।

पहला आधार है प्रमोद का परिवार जिसमें स्थितियों के रूप में प्रमोद का गोरखपुर आना, भाई की पत्नी

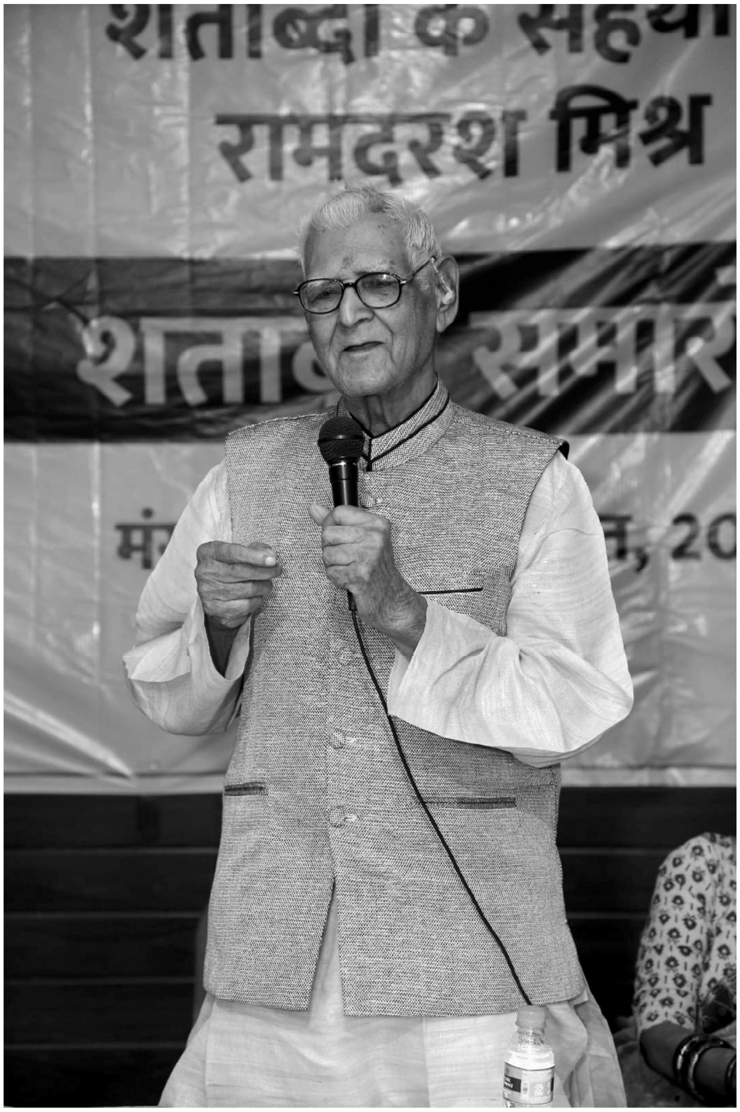

का इलाज करवाना और छोटे भाई के मुकदमे के प्रसंग में उद्भूत मानसिक द्वंद्व का प्रकाशन प्रमुख है। इस प्रसंग में आई कथा-स्थितियाँ मानव मूल्यों के परंपरागत और सामयिक संघर्ष का यथार्थवादी चित्र उपस्थित करती हैं। दूसरा आधार है प्रमोद के कॉलेज की घटनायें जो अधिकांशतः वर्तमान राजनीति के उस रूप का उद्घाटन करती हैं जिसमें विद्यार्थियों को प्रभाव में लाकर दल के भविष्य को सुरक्षित करने की चालें चली जाती हैं, इसे आज की मिनी राजनीति' भी कहा जा सकता है।

तीसरा आधार है संसदीय उपचुनाव की घटना का, जहाँ जीवन के सारे मूल्य, राजनीति दर्शन द्वारा संचालित होते हैं। यहाँ आकर सारी स्थितियों के प्रश्न और उत्तर एक बात पर केन्द्रित हो जाते हैं। वह बात है 'गिव एंड टेक' अर्थात् सारे मानवीय आचरण इस बिंदु पर रुकते हैं कि कौन किसके लिए कितना करता है और बदले में क्या पाता है।

इन तीनों आधारों पर 'अपने लोग' के कथानक को बुना गया है। जिन लोगों ने मिश्र जी का उपन्यास 'जल टूटता हुआ' पढ़ा है, वे उसकी सरंचना और 'अपने लोग' के वस्तुशिल्प का फर्क आसानी से समझ सकेंगे। 'जल टूटता हुआ' में घटनाएँ प्रमुख हैं जिनके तहत् स्थितियों का विकास या विन्यास हुआ। इस उपन्यास में स्थितियाँ प्रमुख हैं-और इसी बिंदु पर यह उपन्यास परंपरित उपन्यासों से एक प्रस्थान बिंदु की स्थापना करने वाले उपन्यासों में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में गिना जाएगा, जिन्होंने लगभग दो दशक से यह भूमिका अदा की है। प्रस्तुत उपन्यास के कथा-चयन में सामाजिक यथार्थ के अनेकानेक पहलू उद्घाटित हुए हैं। वर्ग संघर्ष इस उपन्यास के मूल में नहीं, किंतु वर्गचरित्र और सामान्य मानवीय संवेदना का द्वंद्व अत्यधिक

प्रखर होकर उभरा है और इस द्वंद्व में लेखक उन तमाम प्रश्नों को उठाता चलता है जिनसे मानवीय त्रासदी का क्षेत्र बढ़ता ही जाता है। रचनाकार की सर्जनात्मक दृष्टि बार-बार इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि परिवेश के आग्रह से प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्ति का दोष, केवल व्यक्तिदोष मानकर छोड़ दिया जाए, या सारे सामाजिक स्वरूप में उसके स्रोत खोज कर उसके सही होने की दिशा का अनुसंधान किया जाए। नर्स मंजरी, आवारा बी. लाल, और प्रेम में असफल होकर पागलपन की हद तक पहुँचा उमेश-जिस त्रासदी से गुजरते हैं, उसके लिए कौन उत्तरदायी है, केवल व्यक्ति का आचरण या पूरा सामाजिक परिवेश।

प्रस्तुत उपन्यास में जिस तरह से स्थितियों का संयोजन किया गया है, उससे यही लगता है कि लेखक परिवेश को व्यक्ति-निर्माण का मुख्य आधार मानता है। बी. लाल का संपूर्ण चारित्रिक विकास उसके अपने निर्माण का परिणाम न होकर परिवेश की देन है। यही स्थिति मंजरी के विषय में है। लेखक उमेश को जिस अवधारणा का प्रतीक बनाना चाहता है, वह भी पूँजीवादी मानसिकता के विरोध में सामान्य व्यक्ति के पक्ष को करती है। मंजरी की माँ, बी. लाल से अपनी बेटी के नाम कुछ जायदाद लिखवाना चाहती है और माधवी उमेश के प्राध्यापकत्व को महत्व देती है। जिसके न होने पर सारी व्यक्तिगत आशाएँ परंपरावादी पिता की इच्छा पर समर्पित कर दी जाती हैं। अर्थात् दोनों की दृष्टियाँ सुरक्षावाद पर आधारित हैं। और यह सुरक्षावाद पूँजीवादी मानसिकता का ही प्रतीक है।

मिश्र जी के औपन्यासिक कथा संयोजन में मूलकथा के साथ अन्य कथाओं को एक निश्चित विचार के अनुरूप संयोजित किया जाता है। 'अपने लोग' में भी बी. लाल और मंजरी, उमेश और माधवी के उप कथानक जातिवाद, परंपरावाद के प्रतीक हैं। बी. लाल और मंजरी का द्वंद्व परिवेश और उनकी इच्छामूलक शक्तियों का द्वंद्व है। एक स्थिति उन्हें पहले से मिली है, जिसने उनके स्वभावज जीवन की गति में अवरोधक खड़े कर दिए, दूसरी स्थिति वे स्वयं बनाना चाहते हैं, पर पहली की अपेक्षा दूसरी बाहरी आग्रहों से दलित होती जाती है। बी. लाल जिस रूप में अपना जीवन 'आउटग्रो' करना चाहता है, उसके मार्ग में उसकी माँ का जीवन आ जाता है। ৮ अत: वह निरंतर सौंदर्यमूलक शक्तियों और हिंसात्मक प्रवृत्तियों के बीच जूझता है। दूसरे स्तर पर मंजरी की स्वभावज स्थितियाँ स्वार्थ और उपयोगितावाद के झटके खाती एक खालीपन की ओर बढ़ती है। यहाँ पर लेखक जीवन को पहचानने और उसे बेहतर बनाने के उपायों को निजी अर्थवत्ता और सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत करता है। वस्तुत: प्रमोद और संज्ञा के संपूर्ण सहनशील, संतोषी चरित्र के विकल्प में आत्म-इच्छा से दहकते बी. लाल, मंजरी, के.लाल, इमरतिया के चरित्र यथार्थ के अधिक समीप बैठते हैं... क्योंकि सोच और कर्म के स्तर पर जितना प्रभाव इन पात्रों पर पड़ता है उतना प्रमोद और संज्ञा पर नहीं पड़ता।

लेकिन प्रमोद लेखक की दृष्टि का संवाहक है और यह दृष्टि स्वार्थ, उपयोगितावाद, संघर्ष बनाम सुखद समतावादी संसार की दृष्टि है। इतना होते हुए भी प्रमोद की मानवीय धारणा को परिवार के संदर्भ में नितान्त सामयिक बना दिया गया है। वह ऐसा कल्पित पात्र तो नहीं है जिस पर स्थितियाँ प्रतिकल प्रभाव न डाल पाएँ... लेकिन उसके बाहरी मूल्यचेता व्यक्तित्व और भाई तथा परिवार के साथ संबद्ध व्यवहार में

गहरी खाई है। भाई के बच्चों के प्रति उसकी सोच, और उनके अपने संबंधों के प्रति उसका रुख अधिक मानवीय नहीं बन पाता-यह बात किसी भी समकालीन चरित्र के लिए यथार्थपरक हो सकती थी लेकिन जिन मानसिक अवधारणाओं से प्रमोद का चरित्र बुना गया है, उनकी सापेक्षता में यह स्थिति अधिक तार्किक नहीं बन पाती।

'जल टूटता हुआ' में सतीश के द्वंद्व का परिष्कार चन्द्रकांत के क्लक्टर बनकर आने में हुआ। 'अपने लोग' क्योंकि भिन्न धारणा को लेकर लिखा गया है, इसलिए प्रमोद के द्वंद्व, जुड़ाव का परिष्कार पवन की गतिविधियों में होता है। अर्थात् अंत तक आते-आते सामयिक प्रश्नों के हल को न पाने की स्थिति में दो ही परिणाम हो सकते हैं—निराशा, दैन्य, पलायन या किसी क्रान्ति चेता-व्यक्तित्व का आविर्भाव। निराशा या पलायन मिश्र जी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, अतः वे क्रान्ति चेता पवन, जनार्दन की संभावनाओं में बिगडे वर्तमान का उजला भविष्य सौंप देते हैं। यहीं वे एक जागरूक रचनाकार का लक्ष्यवेध करते हैं। पर यह वेध सैद्धांतिक नहीं है व्यावहारिक है।

मूलकथा में व्यक्त संकट और उससे उभरने के मानवीय संघर्ष में प्रमोद निरंतर अकेला होता जाता है या किसी चक्र में फँसता जाता है। लेकिन उसका अकेलापन उसको सोच पर कोई खरोंच नहीं लगा पाता, वह निरंतर संघर्ष करता है। प्रमोद के संघर्ष के दो मानसिक आधार हैं—एक है संस्कार, दूसरा आक्रोश। उपन्यास के पूर्वार्द्ध में वह संस्कार जन्य द्वंद्व में रहता है लेकिन उत्तरार्ध में आकर संस्कारों पर सामयिक स्थितियाँ हावी हो जाती हैं, एक व्यावहारिक दृष्टि का आविर्भाव होता है और प्रमोद संस्कारों को पीछे ढकेल कर यथार्थ और आक्रोश के बिंदु पर खड़ा होता है। दोनों स्थितियों में उसका मानवीय विवेक जाग्रत रहता है, यही कारण है कि सब कुछ सहन करने की अपनी मजबूरी से ज्यादा वह पत्नी की स्वाभाविक सहनशीलता पर क्रोधित होता है। खींजता रहता है किंतु भाई की पत्नी का इलाज भी कराता है।

इधर दूसरे पक्ष में लेखक डॉ. सूर्य, शिवनाथ, मंगलसिंह, छात्र नेता जीवन सिंह आदि से संबद्ध स्थितियों के निर्मम अनावरण में सत्ताधारी के समाजवादी प्रयत्नों की वास्तविकता उधेड़ता है। वस्तुतः समाजवाद की स्थापना एक महान आस्था और उस आस्था से प्रेरित प्रयत्नों से ही हो सकती है। अब प्रश्न हो सकता है कि यह आस्था शुरू कहाँ से होती है, इसका उत्तर क्या है? इस विषय में यह कहना अनिवार्य होगा कि पूँजी और सत्ता के आसपास भी इस आस्था का जन्म असंभव है। इसकी प्रारंभिक किरणें निष्ठावान, अभाव को भोगने वाले व्यक्ति या जन समुदाय में उदित हो सकती क्योंकि पूँजी का मालिक, सत्ता का चटकोरा क्राइसिस को देखता है, भोगता नहीं और किसी भी जड़बद्ध व्यवस्था को बदलने के लिए उनकी आवश्यकता होती है जिनकी धमनियों में क्राइसेस पैदा होता है-फलता है, जो उसे भोगते हैं। अतः पूँजी और शक्ति के नैकट्य से इस आस्था का खंडन होना स्वाभाविक है। या यूँ कहा जाय कि यह एक ऐसा मुकदमा है जिसमें पावर पूअर दो पक्ष होते हैं और कम्प्रोमाइज की कोई गुंजाइश नहीं होती, और यदि पूअर को उसका अधिकार दिलाना है तो चोट उन नियमों पर करनी होगी, बदलना उन अधिनियमों को होगा—जिनके तहत सामाजिक न्याय-बोध पावर के पक्ष में रूपांतरित होता है—यहीं एक बात और कि संकट के दर्शक और भोक्ता के बीच एक और पक्ष है—वह पक्ष है मध्यवर्ग का। जो निम्नवर्ग की तुलना

में क्राइसेस को कम भोगता है लेकिन जितना भोगता है, उससे ज्यादा, शिद्दत से महसूस करता है, समझता है, अंततः यह स्थिति उसे प्रकृत रूप से क्राइसेस के शिकार के पक्ष में कर देती है और वह निम्न वर्ग की समझ या विवेक की कमी को पूरा करके सामाजिक परिवर्तन की दिशाएँ खोलता है।

'अपने लोग' में प्रमोद, उमेश (यदि पागल न होता तो) और साही तथा पवन व जनार्दन इस विचार के पूरक व्यक्तित्व के रूप में उभारे गये हैं जो मानवीय आस्था के साथ राजनैतिक-सांस्कृतिक धरातल पर परिवर्तन की माँग करते हैं।

उधर डॉ. सूर्य, शिवनाथ, मंगल सिंह, केवल नारा देते हैं और व्यवहार में वे घोर अनैतिक और अमानवीय भी हो सकते हैं। डॉ. सूर्य के विषय में लेखक का यह कहना कि 'जो आदमी बिना फीस लिए एक गरीब के इकलौते पोते की दवा नहीं कर सकता, वह समाजवाद' का सिपाही बनेगा? उन तमाम चेहरों पर एक गंभीर आरोप है जो सुविधाओं की गद्दियों से समाजवाद की गोलियाँ फेंकते रहते हैं। मैं समझता हूँ कि इस कृति की रचना-प्रेरणा में मिश्र जी की यथार्थ दृष्टि जीवन के विस्तृत, बहुआयामी फैलाव को देखती है।

यह देखने वाली दृष्टि अपने को किसी दलगत विचारधारा से नहीं बाँधती-सिर्फ मानवीय संवेदनागत अपार सहानुभूति उसके पास है। अतः रचना के नैपथ्य और मंच दोनों पर साथ-साथ एक साहित्यिक व्यक्तित्व उभरता है जो प्रतिबद्ध नहीं है, संबद्ध है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि 'अपने लोग' में वर्तमान देश की राजनीति, साहित्य, को 'गोरखपुर' के केंद्रीय घटनास्थल के माध्यम से एक संबद्ध साहित्यिक की दृष्टि से देखा गया है। लेकिन वह साहित्यिक केवल दर्शक नहीं है, भोक्ता भी है, स्थितियों प्रभाव अपने ऊपर झेलता निर्णय, अनिर्णय के बीच उलझता है। उसके सामने अनेक प्रश्न हैं—अनेक समस्याएँ हैं। रामविलास के आर्थिक संकट, फुलवा के सामाजिक संकट की समस्याएँ उसके सामने हैं और वह भरपूर कोशिश करने के बावजूद इस फ्रंट पर असफल होता है। वह जब कभी भी अपनी मानवीय दृष्टि से किसी बात की धारणा करता है या जीवन सत्य के निकट पहुँचने की चेष्टा करता है—प्रश्न या दलीय सिद्धांतवादिता की जड़ता उसके आड़े आ जाती है-प्रमोद सोचता है—

''कब से यह सिलसिला चल रहा है, उद्योगपति और व्यवसायी मोटे होते गये हैं, नेता मोटे होते गए हैं।...बंगले और कोठियाँ साफ-सुथरी होती गई... जनमार्ग गंदे और भग्न होते चले गए। कोठियों में बल्ब जगमगाते चले गये, सड़कों पर बल्ब टूटते चले गए, डॉक्टर सूर्य का दवाखाना समृद्ध होता गया और जनता के अस्पताल मक्खियों, कीड़ों और दुर्गंध से भरते चले गए। कहाँ हैं वे लोग, कहाँ हैं वे लोग जो देश को बचा सकते हैं? कहाँ हैं वे लोग जो टूटी बजबजाती अस्त-व्यस्त आवाजों के बीच कोई ठोस अर्थपूर्ण आवाज उगा सकते हैं? वस्तुतः प्रमोद की इस उक्ति में लेखक का यही कष्ट नहीं बोलता कि उद्योगपति-व्यवसायी मोटे होते गये उसका वास्तविक दर्द यह है कि जनता के पक्षधरों का क्या हुआ? वे क्यों समझौतापरस्त हो गये, या ठंडे इसका उत्तर अपने लोग के भीतर से ही मिलता है कि जनता के पक्षधर अब स्थितियों का 'फ्लाइंग जायजा' ले रहे हैं—जो लोग जमीन पर कभी नहीं चले थे, जिन्होंने तपती मिट्टी, कीचड़ गारे की धसान, श्रम के पसीने को कभी महसूस नहीं किया था, वे तो ऊपर हैं ही, पर

जिन्होंने इन सबका कुछ जायजा लिया था, वे भी छत पर खड़े आश्वस्ति से साँस ले रहे हैं। सारी संगति असंगति में बदल रही है, क्रान्ति संशोधन का जामा पहन रही है संबंध स्वार्थों का चोला डाले हैं, और यह सब कुछ अपने लोगों के द्वारा किया जा रहा है। तब मूल्यचेता, व्यक्ति की वेदना बढ़ेगी ही और वह सारे समाज के बीच भी आत्म-परायेपन की भावना से दंशित होगा।

संवेदना और विचार के धरातल पर यह उपन्यास विकासशील देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए जनता के पक्ष की मजबूती पर बल देता है। वह इंगित करता है कि वर्ग संघर्ष से पहले भारतीय समाज के सदियों से चले आ रहे वर्ण-संघर्ष, जातिवाद, संस्कार-जड़ता को उखाड़ना होगा तब वर्ग संघर्ष के लिए सही रास्ता बन पड़ेगा। लेखक वर्तमान द्वंद्वमयी स्थिति को पहचानता है—वह यह भी जानता है कि गतिशील शक्तियाँ क्यों और कैसे 'डिफेन्सिव पॉजीशन' में खड़े अपने को 'जस्टीफाई' कर रही हैं। उसने बड़े करीने से वाम शक्तियों की दरारें भी उभारी हैं।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति यथार्थवादी और आस्थावादी दृष्टि के द्वंद्वात्मक संतुलन में व्यक्त हुई है। वस्तुत: क्रूर यथार्थ को पहचानने की भेदक दृष्टि के साथ, जीवन के प्रति मानव के प्रति लेखक की आस्था उसकी संपूर्ण कथा-संयोजना को उदात्त भावक के अनुशासन में रखती है वह आस्था के नाम पर कोई यूटोपिया निर्मित नहीं करता लेकिन संपूर्ण विसंगतियों की वास्तविकता के नाम पर मूल्यहीनता को भी स्वीकार नहीं करता। दरअसल मिश्र जी की रुचि मनुष्य और उसके जीवन में गुणात्मक रूप से फलित होती है। उसका संबंध मानवीय संसार से है। उसकी आस्था मानवीय विवेक और सदाचरण में है। उनकी रचनाओं से एक तथ्य निरंतर प्रतिपादित होता रहता है कि मानव-जीवन संपूर्ण असंगतियों के साथ भी अर्थहीन नहीं है। इसीलिए 'अपने लोग' के 'डिसअप्रूव्ड' पात्रों डॉ. सूर्य, शिवनाथ आदि में भी वे कभी-कभी मानवीय सरोकार की झलक दिखाने से पीछे नहीं हटते। मंजरी के प्रसंग में डॉ. सूर्य का वहशी न हो जाना और शिवनाथ तथा प्रमोद के वार्तालाप में एम. एल. ए. शिवनाथ से मित्र शिवनाथ बन जाना-ऐसे ही स्थल और मानव का मनोविज्ञान सिद्ध करता है कि ऐसी संभावनाएँ कल्पित नहीं हैं।

आस्था और यथार्थ के द्वंद्व के बीच उपन्यास का संपूर्ण कार्य-व्यापार गतिशील रहता है। उसकी स्थितियाँ कभी किसी रूप में, कभी किसी रूप में आती रहती हैं, और रचना की अपेक्षित नाटकीयता में कोई व्याघात नहीं पड़ता। क्योंकि उसके संचालन के पीछे मानवीय विवेक और वैज्ञानिक दृष्टि का संतुलन रहता है। अत: लेखक सामाजिक विसंगतियों के प्रति तार्किक रूप से निर्मम रहकर भी पाठक की चेतना को मानवीय आस्था के प्रति विश्वसनीयता दे पाता है—ऊपर जिस द्वंद्वात्मक संतुलन की बात कही गई है, उससे लेखक के जीवन दर्शन को पहचानना सरल हो जाता है। उसका दृढ़ विचार है कि हम जीवित जिजीविषा से युक्त, मानव समाज में रह रहे हैं। हमारा समाज है, 'देश है, लोग हैं, उनकी समस्याएँ, कठिनाइयाँ, धूर्तताएँ भी हैं—साथ ही माता-पिता, भाई-बहन और संबंधों की मृदुता-कटुता भी है। हमारी अपनी अपेक्षाओं और दूसरों की अपेक्षाओं की टकराहट भी पूरे फार्म में है—लेकिन हम एकदम जीवनगत निरर्थकता में नहीं जी सकते और नहीं जी रहे हैं। हमारा मानव समाज कुल मूल्यों के आधार पर परस्पर जुड़ा भी है, और मूल्यहीनता के कारण अलगाव के दंश से पीड़ित भी

है तो भी एक मानवीय संवेदनात्मक दृष्टि कम या अधिक सबमें व्याप्त है-समस्या इस दृष्टि के विस्तार की है और लेखक उसका विश्वसनीय विस्तार करने में सफल भी हुआ है। मिश्र जी जीवन के संदर्भ में साहित्य के दायित्व को पूरी तरह से जानते हैं—यूरी बान्ड्रेव के शब्दों में–'साहित्य भौतिक मूल्यों का प्रतिपादन नहीं करता। विज्ञान की दृष्टि से इतर वह मानवीय नैतिक अवधारणाओं, विवेकशील दृष्टि की स्थापना करता है। वह जिस मानव मूल्य का प्रतिपादन करता है, उसे किसी भी प्रकार भौतिक उपलब्धियों से कम महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है। (सोवियत लिट्रेचर नं. 11, 1974, पृ. 140)। एक समाजवादी समीक्षक की इस उक्ति के आधार पर अपने लोग उपन्यास की सामयिक सार्थकता और समय निरपेक्ष जीवंतता पर आश्वस्त हुआ जा सकता है।

इस वृहदाकार उपन्यास में एक दो बातें ऐसी भी हैं जिनकी स्थिति से मैं अपने आप को सहमत नहीं कर पाता हूँ। मानवीय धरातल पर उमेश की डायरी के पन्ने चाहे जिस पक्ष का उद्घाटन करें किंतु वैचारिक दृष्टि से उमेश के मार्क्सवादी होने और प्रेम के बीच का द्वंद्व अधिक तार्किक नहीं लगता।

इस संघर्ष की असफलता का आधार उमेश का मार्क्सवाद नहीं हो सकता, माधवी के पिता का जातिवाद या पदवाद हो सकता है। दूसरे उपन्यास के पृष्ठ 140 पर कलकत्ते के प्रसंग में एक बात कही गई है ''नहीं-नहीं साहब, आदमी भी मारते हैं। कलकत्ते में इतना हत्याकांड मचा रखा है और आप कहते हैं कि खाली जानवर मारते हैं।''

यहाँ पर यह रिमॉर्क पूरे विश्लेषण के अभाव में कोई संगति नहीं रखता। क्या लेखक नक्सलपंथियों का विरोध करना चाहता है? यदि ऐसा है तो इस स्थल पर अधिक विवेचना की आवश्यकता थी।

शिल्प की दृष्टि से 'अपने लोग' एक वृहदाकार उपन्यास है। इसकी रचना-प्रक्रिया उनके अन्य उपन्यासों से भिन्न है। 'अपने लोग' तक आते-आते लेखक के सामाजिक वैचारिक दृष्टिकोण में गुणात्मक अंतर आया है। प्रस्तुत उपन्यास के शिल्प विधान में मुख्य बात है—घटना-बहुलता के स्थान पर स्थितियों और परिवेश खंडों का आधिक्य जो घनीभूत संवेदनाओं की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति में रूपायित हुआ है। ये संवेदनाएँ सीधे बाह्य स्थितियों से टकराती हैं और स्थितियों से अवरुद्ध होकर इधर-उधर रास्ता बनाती गतिशील होती हैं। यही कारण है कि कोई एक पात्र पाठक की स्मृति में चाहे चिरस्थायी न हो किंतु उपन्यास का परिवेश उसे हमेशा के लिए याद रहेगा। इस उपन्यास के परिवेश खंड स्वयं में एक चरित्र के रूप में उभरते हैं—द्वंद्व को सजीव कर जाते हैं।

इस उपन्यास का कथाविन्यास स्थितियों के परस्पर द्वंद्व से हुआ है जिसमें मूलतः घटित होने वाली घटनायें तो केवल एक शैक्षिक वर्ष की हैं किंतु उनका विस्तार 'फ्लैशबैक' या डायरी के पन्नों के माध्यम से हुआ है और वर्तमान में कम समय लेते हुए भी वर्तमान के पिछले संदर्भों के कारण उपन्यास का फलक अधिक विस्तृत और बहुआयामी हो गया है। इसी प्रसंग में अनेक सामाजिक विसंगतियों को चित्रित करने के लिए अनेक छोटे-छोटे प्रसंगों की उद्भावना की गई है। इस प्रकार अपने आकार- प्रकार, संवेदनात्मक घनत्व और दृष्टि की स्पेद्देश्य सुदीर्घ वैचारिकता के कारण 'अपने लोग' समकालीन उपन्यास साहित्य में एक महत्वपूर्ण कृति के रूप में समादृत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

दूसरा घर : प्रवासी जीवन की अतरंगी पहचान

–आलोक गुप्त

भारतीय जीवन की विवशता एवं संघर्ष के चित्रण में जहाँ आज अनेक रूढ़ियों का सहारा लिया जाने लगा है और सैद्धान्तिक शुष्कता से बचना आज के कथा लेखक के लिए असंभव-सा बन गया है वहाँ अपनी गहन संवेदना, लोक-संबद्धता और सरल व सहज अभिव्यक्ति क्षमता के कारण रामदरश मिश्र अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं। 'दूसरा घर' में वे भारतीय जीवन के उस अछूते पक्ष को लेकर आये हैं जिसके मूल में गरीबी और उद्योगीकरण हैं। लेकिन न तो यहाँ गरीबी का सहज स्वीकार है और न उद्योगीकरण से उत्पन्न विषमताओं के कारण मात्र चीत्कार। गाँव के अभाव और गरीबी के कारण औद्योगिक नगरों की ओर भागने वाले लोगों की यह व्यथा गाथा है।

इस उपन्यास में उद्योग नगरी अहमदाबाद में रहने वाले उत्तर भारतीयों के जीवन-यथार्थ को विभिन्न कोणों से पकड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास मिश्र जी ने किया है। अपनी पूरी जिंदगी नगर की गंदी बस्तियों में काटने वाले, देखते तो अपने गाँव की ओर ही हैं। यहाँ रहकर भी, यहाँ नहीं रहते। अपने अहमदाबाद निवास के समय लेखक को इन प्रवासियों के जीवन से जुड़ने का अवसर प्राप्त हुआ था। एक पत्रिका में इस उपन्यास को लिखने के उद्देश्य का लेखक ने उल्लेख किया है: "उनकी जिंदगी के यथार्थ को देखकर बचपन में प्रवासियों के प्रति बना मेरा संस्कार चरमरा उठा। लगा कि इनके घरवालों से ज्यादा दर्द इनकी जिंदगी में है। जो पैसा इनके घर पहुँचकर इनके घरों के सन्नाटे को काटता है, एक हद तक उनकी इज्जत अफजाई करता है, उसे अर्जित करने की प्रक्रिया में इनकी जिंदगी कितने सन्नाटे और अपमान से भर जाती है। इनकी जिंदगी में न जाने कितनी आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ और पेच हैं। यह ऐसी जिंदगी जो अहमदाबाद से लेकर उनके गाँव तक तनी डोर पर नाच रही है। वह जहाँ हैं, वहाँ नहीं है।'' (पृ.-20) मनुष्य के मन की यह विभाजित स्थिति ठेठ भारतीय समस्या है। औद्योगिक नगरों में रहनेवालों का परिवार गाँव के अभाव में पिसता है और यहाँ रहने वाले छटपटाते हैं। इस छटपटाहट और बेचैनी का कोई उपाय नहीं है। शंकर सोचता है : ''कितना बड़ा मकड़ी का जाला है जिसमें मैं और मेरे जैसे लोग फँसे हैं, जाला हिलता है तो वे स्वयं थर्रा जाते हैं और जोर मारना बंद कर देते हैं।'' (पृ.-11) शंकर के सोच में जिस विवशता का संकेत मिलता है उसके अलग-अलग आयाम कमलेश, फेंक और असरफी की जिंदगी में दिखायी देते हैं और यही उपन्यास की केंद्रीय संवेदना है।

गाँव इन प्रवासियों के पोर-पोर में बसा हुआ है। परिवार से बिछुड़े हुए इन लोगों के सामने तीज-त्यौहारों पर गाँव अपने रमणीय रूप में आ खड़ा होता है। कमलेश पार्क में बैठा सोचता है : "अपने यहाँ होली का दिन नहीं होता होली का मौसम होता है–पूरा महीना डेढ़ महीना होली का मौसम। सरसों फूली नहीं कि फागुनी रंगत हवा में तैरने लगती है और धीरे-धीरे फूलों का रंग गाढ़ा होने लगता है। जाड़ा अपने उत्कर्ष पर आकर उतरने लगता है और एक खुशबूदार ऊष्मा धूप के भीतर से फूटने लगती है। फागुन आता है तो धरती पागल सी हो उठती है उसके अंग-अंग को फोड़कर कोई-न-कोई फूल उभर आता है, वह फूलमयी हो उठती है। कंगाली में भी आदमी मस्ती से भर जाते हैं।'' (पृ.-219) इन प्रवासियों की दुनिया तक ही

उपन्यास के कथ्य को सीमित रखा गया है। गुजरात की सभ्यता-संस्कृति से अलग ये उत्तर भारतीय अपनी प्रादेशिक विशेषता को बरकरार रखे हुए अभावपूर्ण जिंदगी गुजार रहे हैं। अहमदाबाद उन्हें मात्र आजीविका ही दे पाता है, दे पाया है, उन्हें अंदर तक प्रभावित नहीं कर पाता, इसके अनेक कारणों की ओर लेखक ने संकेत किया है। इन प्रवासियों की अपनी दुनिया है। इनमें एक ऐसा भी वर्ग है जो परिवार के अभावों को कम करने के लिए यहाँ आया था, परंतु तिकड़मों के द्वारा आज संपन्न बन चुका है। यह संपन्न वर्ग अपने भाइयों को मानवीय धरातल पर सहारा नहीं देता अपितु निहित स्वार्थों, गंदी राजनीति और गुटबाजी के तहत गाँव से आये हुए भोले-भाले युवकों का शोषण करता है। प्रतिभावान कमलेश को पहलवानों की अखाड़ेबाजी का शिकार होना पड़ता है।

रूपलाल पहलवान, गोरख पहलवान, गंगाराम शास्त्री, चिरंतनदास जैसे संपन्न लोग सहायता के नाम पर अपने प्रदेश के लोगों का शोषण ही कर रहे हैं। दूसरी ओर, मनोहर, पारस जैसे लोग हैं जो इनकी संपन्नता की चमक में अंधे होकर इन लोगों का गुणगान करते हैं। अपने गाँव-जवार के सामान्य लोगों के प्रति उनकी कोरी सहानुभूति होती है। मनोहर कमलेश के मामा की लड़की के लिए एक संपन्न विधुर का रिश्ता लेकर आते हैं। अनमेल संबंध की वकालत में मनोहर के यह शब्द उसकी मानसिकता को स्पष्ट कर देते हैं: ''कमाल है कमलेश, मैं तो मामा के हित की बात कर रहा था और तुम लोग उलटे मुझी पर पिल पड़े। अरे भाई, मेरी नजर सीधी देखती है, बहुत अगल-बगल नहीं देखती। मैं इतना ही जानता हूँ कि वह संपन्न घर है, लड़का ठीक-ठाक है, शोभा सुखी रहेगी। अब ये सारे सवाल कि लड़के की उमर तीस साल है कि चालीस साल और उसके बच्चे हैं कि नहीं, हैं तो कितने, उनकी छानबीन में पड़ा नहीं और न पड़ना चाहता हूँ। बहुत नुक्ताचीनी से काम बिगड़ जाता है। काम पर सीधी नजर रखो, बस काम बन जाता है।'' (पृ. 249)। पारसनाथ जी अपने उच्च जाति के संस्कार लेकर चोरी छुपे चंदा से भिड़ते हैं परंतु चिरंतन के छोटे भाई केलाश के द्वारा गुजराती लड़की से प्रेम विवाह करने पर खीझते हैं: ''क्या उत्तर भारती ब्राह्मण समाज में लड़कियाँ नहीं थीं? एक-से-एक अच्छे घरों से रिश्ता आ रहा था, तीस-चालीस हजार दहेज मिल रहा था, लेकिन इस लौंडे ने सर्वनाश कर दिया। चिरंतन जी ने इतने कष्ट से इस लौंडे को पढ़ाया-लिखाया। लेकिन पढ़-लिखकर यह उन्हीं से फिरंट हो गया। दो पैसे की आमदनी का जुगाड़ हुआ तो उसे भी खा गया। चिरंतन जी पर क्या बीतती होगी?'' (पृ.-215)

मनोहर, पारस के अतिरिक्त शंकर, कमलेश, विनोद, रहमान जैसे प्रतिभासंपन्न भी हैं। ये परिस्थितियों की मार, अभाव और पारिवारिक तनाव के बावजूद व्यापक युवक मानवीय धरातल पर सोचते हैं। वे अपने ऊपर की हर चोट को उसके पूरे आयाम में देखते हैं, अत: वह दु:ख उन्हें तोड़ता नहीं है बल्कि ताड़ित लोगों से जोड़ता है। फेंकू की व्यथा सुनकर शंकर उत्तेजित हो जाता है। शंकर परिस्थिति को पूरे आयाम से देखता है अत: वह ज्यादातर संयमित रहता है। परंतु माँ की मृत्यु और एम.ए. में तृतीय श्रेणी आने पर वह उद्विग्न हो उठता है। अपराध-बोध से पीड़ित शंकर अपने मूल्यों और उद्देश्यों के प्रति शंकित हो जाता है।

डॉ. गौतम ऐसे प्राध्यापक हैं जिन्होंने अपनी उदारता और विद्वत्ता के कारण अपने लोगों व गुजराती समाज में सम्मानीय स्थान पाया है। शंकर, विनोद, कमलेश, रहमान के अतिरिक्त रूपलाल पहलवान तक उनका सम्मान करते हैं। दूसरी ओर, यशोधर मेहता जैसे मित्र और मनुभाई पटेल जैसे शिष्य उन्हें गुजरात की धरती से

मिले हैं। मनुभाई के बारे में वे सोचते हैं : ''यह सच्चा लड़का दुनिया के फरेबी लोगों के बीच कैसे चल पाएगा कैसे जी पाएगा?'' (पृ.-108)

डॉ. गौतम सभी को मुक्त वातावरण देते हैं। उनकी मानसिकता भी सीधे संघर्ष की नहीं है। साहित्य के पठन-पाठन के लिए जिस शान्ति की आवश्यकता होती है, वह छोटे-छोटे संघर्षों से नष्ट हो जाती है। डिलाइट कॉलेज का प्रिंसिपल पी.के., डॉ. गौतम को अपने यहाँ से निकालना चाहता है, अत: तरह-तरह से परेशान करता है। मनुभाई उसके विरुद्ध संघर्ष करने को कहते हैं परंतु डॉ. गौतम सोचते हैं : ''यदि मुकदमें से जीत गया या लोगों के विरोध करने से रोक लिया गया तो क्या मुझे पी. के.. और उनके लोगों के साथ काम करना अच्छा लगेगा? क्या संभव नहीं है कि पी.के. अवसर निकाल-निकालकर या तो मेरा अपमान करेगा या उदासीनता दिखलाएगा? काम करने का मजा रहेगा क्या?'' (पृ.-385) लेखक ने प्रादेशिकता की समस्या को कई कोणों से परखा है।

प्रादेशिकता का एक पहलू रागात्मकता का है। दूसरे स्थान पर अपने गाँव-जवार के व्यक्ति से मिलने पर सहज आत्मीयता हो जाती है, तो दूसरा पहलू यह है कि प्रादेशिकता का मोह संकीर्ण बना देता है। मनुष्य दूसरे प्रदेश के लोगों से संबंध बढ़ाने में परहेज करता है। नहीं तो कोई कारण नहीं कि वर्षों से गुजरात में रहने के बावजूद उसका कोई रंग उन्हें छूता नहीं है। एक तीसरा पहलू यह भी है कि यहाँ रहने वाला हमेशा स्वयं को बाहर से आया हुआ ही महसूस करता है। यहाँ जन्म लेने वाले बच्चे भी बड़े होने पर यहाँ की धरती से संबंध नहीं बना पाते। सुनील को गुजराती बच्चों के बीच खेलते हुए देखकर डॉ. गौतम सोचते हैं: "बच्चों की दुनिया आपसी मेल-मुहब्बत के सिवा कुछ नहीं जानती। वे जहाँ पैदा होते हैं वहाँ की जमीन को अपनी जमीन मान लेते हैं, वहाँ की भाषा को सहज ही अपना लेते हैं। वे जहाँ आँख खोलते हैं, जहाँ से दुनियाँ की पहली पहचान प्राप्त करते हैं, उसी को अपना घर अपना संसार मान लेते हैं, किंतु बड़े लोग उन्हें बोध कराते रहते हैं कि नहीं, तुम कोई और हो, कहीं और के हो या इसके विपरीत वहाँ के स्थानीय लोग यह समझते हैं कि ये कहीं और के हैं कोई और हैं। सब कुछ होने के बावजूद एक पतली-सी दीवार बीच में बनी होती है। बच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते है, उन्हें इस दीवार का बोध होता चलता है।'' (पृ.-101) उपन्यास में जगह-जगह गुजरात और उत्तर भारत के रहन-सहन, रीति-रिवाज के अंतर को भी स्पष्ट किया गया है। जहाँ उत्तर भारतीय के घर की अव्यवस्था, फूहड़पन पर टिप्पणी और गुजराती परिवार की आयोजनबद्धता की प्रशंसा की गई है वहीं उत्तर भारतीयों के तीज-त्यौहारों और मनुष्य के प्रति लगाव को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उत्तर भारतीयों की यह अजीबो-गरीब दुनिया अपनी अच्छाई-बुराई के साथ यहाँ साकार हुई है। इसमें गंगाराम शास्त्री जैसे लम्पट भी हैं, जो एक के बाद दूसरे प्रेम प्रकरण करते जाते हैं, शिक्षकों का शोषण करते हैं तथा तिकड़मों के बल पर शिक्षामंत्री हो जाते हैं। पारस जैसे व्यक्तित्वहीन युवक भी हैं जिनके जीवन का अमूल्य समय गाँव में परिवार की प्रतिष्ठा बनाने के लिए दिन-भर खटकर धनोपार्जन करने में बीतता है। शंकर जैसे संवेदनशील, चिंतनशील युवक भी हैं जो हृदय की सारी उदारता और अच्छाई के बावजूद अंत में अपराध-बोध से पीड़ित होते हैं।

उपन्यास में कई स्थलों पर लेखक ने कन्ट्रास्ट प्रस्तुत करके प्रसंग की मार्मिकता को अत्यधिक गहन बना दिया है। यह मिश्र जी की सधी हुई कलम के कारण ही संभव हुआ है।

'आग की हँसी'
(साहित्य अकादमी सम्मान से सम्मानित कृति)

–पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु

प्रसिद्ध कवि रामदरश मिश्र की उम्र 80 की हो गयी। इस वार्द्धक्य में भी वे किसी युवा की तरह अपने सृजनकर्म में लिप्त हैं। वे मानवीयता के कवि हैं, जीवन का राग गाने वाले कवि हैं, प्रकृति और परिवेश के कवि हैं, स्थल-तत्व की सटीक पहचान के कवि हैं, गाँव के कवि हैं, तो नगर महानगर के भी कवि हैं, अपने अतीत-व्यतीत के प्रति 'नोस्टेल्जिक' कवि हैं, तो अपने समकाल की धड़कन और वहाँ होने वाले परिवर्तन के भी पारखी कवि हैं। वे महानायकों के नहीं, बल्कि अनेक जीवंत पात्रों के और अपने आसपास के आम लोगों की सार्थक उपस्थिति के कवि हैं। वे संवेदना, भाव-विभाव और पर्यवेक्षण के कवि हैं, जिसका विस्तार परिवार, समाज से लेकर अर्थतंत्र और राजनीति तक है। वे अभिलेखीकरण के कवि हैं, तो कलाकरण के भी कवि हैं। वे अनेक विधाओं के समर्थ साहित्यकार होने के बावजूद अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति से मूलतः कवि हैं। उनकी कविता की मूलभूत पहचान उनकी 'कविताई' है, उसका कवित्व है, जो किसी भी कविता के 'होने' की बुनियादी विशेषता है।

'आग की हँसी' उनके उत्तर कवि जीवन की नवीनतम कृति है। पहले की तरह ही यह उनकी कवि-सृष्टि और कवि दृष्टि दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रायः यह माना जाता है कि कविता सरस्वती की जवानी है और दर्शन उनका बुढ़ापा। पर रामदरश जी के उत्तर कवि जीवन की कविताएँ एक साथ सरस्वती की जवानी और उसका बुढ़ापा यानी कविता और दर्शन दोनों के सुखद संयोग का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। उनकी उत्तरवर्ती कविता में कवित्व और विचार, कवि सृष्टि और कवि दृष्टि दोनों की संश्लिष्ट सत्ता-महत्ता है। कवि की दृष्टि कहीं भी उसकी सृष्टि पर आरोपित नहीं है, बल्कि यह दृष्टि-उन्मेष उसकी सृष्टि से ही सहज रूप में जन्म लेता है। चूल्हे की आग आग नहीं लगाती, इंसानियत को नहीं जलाती, बल्कि इंसान के पेट की आग को बुझाती है और आदमी की जीभ को तृप्ति देकर उसके अधरों पर हँसी बन जाती है। पर ठीक इसके विपरीत तथाकथित अभिजात वर्ग के 'श्रीमान्' जैसे विरुद से संबोधित होने वालों की शीतल, शालीन हँसी धीमे-धीमे आग उठाती महाज्वाला बन जाती है और वह मानवीयता की सभी दिशाओं को अपनी लपेट में ले लेती है, पर इस हँसी के राज को, इसकी गहन संरचना को सीधे-सादे लोग नहीं समझ पाते हैं। वे मायावी की माया की बाहरी संरचना तक ही उलझ कर अटक जाते हैं और समझते हैं कि आग जहाँ-कहीं भी लगी है वह चूल्हे की आग से ही लगी और लगायी गयी है। वह नहीं समझ पाते हैं कि यह प्रसरणशील आग मायावी की शीतल हँसी से लगी है, जो हृदय में, समाज में, समुदाय में और निम्नवर्गीय लोगों के घरों में बड़ी शालीनता से लगा दी गयी है। चूल्हे की आग का ताप जहाँ मनुष्य और मनुष्यता को जीवित रखता है, वहाँ सभ्य, मायावी मनुष्य की शीतल हँसी की तीली का ताप मनुष्य और मनुष्यता को जलाकर क्षार कर देता है। प्रकृत आग की हँसी जहाँ संजीवनी

बनती है, जीवनोष्मा बनती है, वहीं शीतल और शालीन हँसी की आग विष और हलाहल बन जाती है। आग की रोटी का यह संदर्भ उनकी 'ढावा-1' कविता में भी आता है। वहाँ 'निकलने लगती हैं लाल-लाल रोटियाँ/टूटे बेंच पर बैठ जाते हैं श्रम के फटेहाल बेटे/और थोड़े पैसे में पेट भर कर/चले जाते हैं अपने-अपने काम पर।' इस तरह मिश्र जी के यहाँ उनकी कविताओं में वैचारिक स्तर पर औपनिषदिक 'इदमन्नं ब्रह्म' की मान्यता परिपोषित होती है। उनकी कुछ और कविताओं में भी 'अन्न ही ब्रह्म है' की मान्यता का गान मिलता है। उनकी 'देवता' कविता में इस 'परासंदेश' को स्पष्ट पढ़ा-समझा जा सकता है–'और ज्यों ही रसोईघर में पहुँचा चकले से आवाज आयी/अरे, तुम कहाँ चले गये थे/मैं तो यहाँ हूँ।' रामदरश जी की वैचारिक दृष्टि महर्षि व्यास की 'पाणिवादी' दृष्टि है। उनकी कविता में महाभारत में निरूपित 'पाणिवाद' के दर्शन होते हैं। ये कविताएँ श्रम का गान गाती हैं और हाथों की कर्मण्यता के महत्त्व को प्रस्थापित करती हैं–'जाओ, जाओ/हमें क्या लेना बाबाओं-साबाओं से/हमारे दो हाथ ही हमारे देवता हैं। वे प्रसन्न रहेंगे, तो सलामल रहेंगे हम।'

मिश्र जी अपनी कविताओं में पूरी तरह पार्थिव हैं। अन्न और श्रम का गान गाने के साथ-साथ वे वैचारिक स्तर पर धार्मिक कर्मकांडों के विरुद्ध भी हैं। अपनी 'पूजा-भवन' कविता में वे स्वयं देवता से कहलाते हैं–'पूजा-भवनों में मैं नहीं/मेरे नाम का पत्थर रहता है/उसे पूजने वाले पुजारी नहीं होते/मेरे नाम के व्यापारी होते हैं। वे मेरे पास श्रद्धा से अपने को देने नहीं/क्या-क्या तो माँगने आते हैं। इनके उपहारों में/इनकी पाप-मुक्ति की शर्त छिपी होती है। अरे, मैं तो सदा से/उन्हीं हृदयों के सादे घरों में निवास करता हूँ/जिनमें त्याग की रोशनी होती है भाग का अंधकार नहीं/जिनमें प्यार का खुला आकाश हँसता है। जिनमें ऊँच-नीच, मेरे-तेरे की दीवार नहीं होती।' इसी तरह घर की बाहरी दीवार के अकस्मात् उग आये पीपल की जब पूजा शुरू हो जाती है, पुजारियों का मेला लगना आरंभ हो जाता है और दीवार पीपल की जड़ के फैलते जाने के कारण खोखली होनी शुरू हो जाती है; तब एक दिन घर वाला, जो कविता का वाचक है, उसी पीपल के वृक्ष को निर्मूल करने के लिए कुल्हाड़ी उठा लेता है और कहता है–'क्षमा करना देवता, यह जगह आपकी नहीं थी। लोग भयभीत आँखों से मुझे देख रहे थे–अरे क्या कर रहा है यह अधार्मिक आदमी!' इसकी तरह उनकी एक कविता का वाचक कहता है–'लेकिन मैं अपने इस पगले मन का क्या करूँ/जो अलौकिक के प्रति बनायी गयी/मान्यताओं में आस्था ही नहीं रखता।'

वह हनुमान मंदिर में जाकर हनुमान की पूजा तो नहीं कर सकता, पर हनुमान के शील और शौर्य से प्रभावित होकर आत्मनिर्माण की इच्छा को वाणी अवश्य दे देता है–'मैं तो चाहता हूँ कि/इनकी छोटी-सी ज्योति/मेरे भीतर उतर आये मेरे प्रयत्नों से/ताकि मैं स्वयं लड़ सकूँ/भूत-पिशाचों और निशाचरों से।' इस तरह वह अपनी कविताओं में मनुष्य, मनुष्यता और जीवन-जगत की प्रतिष्ठा करता दीखता है।

मिश्र जी की उत्तरवर्ती कविताओं की बड़ी विशेषता किसी आत्मीय डायरी के रूप में उसे लिख जाने की है। कहना होगा कि रामदरश जी हिन्दी में 'डायरी कविता' के प्रवर्तक हैं। ऐसी कविता की बड़ी विशेषता उसका अभिधा शक्ति से सम्पन्न होना है। यह वही 'अभिधा' है, जिसे महिमभट्ट ने अपनी 'व्यक्तिविवेक' पुस्तक में उत्कृष्ट शक्ति मानते हुए 'इषु (वाण)-व्यापार'

कहा था। वाण का यह व्यापार एक साथ जैसे वर्म (कवच)-भेदन, मर्म-छेदन और प्राण हरण कर लेता है, उसी तरह अभिधा ही लक्षणा और व्यंजना का क्रिया-व्यापार सम्पन्न करती है। उनकी एक कविता है–'डायरी'। यद्यपि उनकी यह कविता एक विधा-विशेष पर लिखी गयी है इससे उनकी कविता का मिजाज अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ उनका अभिव्यक्ति-तंत्र डायरीनुमा है। उनकी उत्तरवर्ती कविताएँ आत्मीयतापरक और प्रसादात्मक हैं। यहाँ यदि कहीं अर्थ-गूँज निकलती भी है और प्रतीयमानता परिलक्षित होती है तो वह शब्द पद और वाक्य के स्तर पर केन्द्रित नहीं होकर प्रोक्ति के स्तर पर केन्द्रित होती है। जैसे डायरी लिखने वाला अपनी डायरी में अपने नंगे सत्य के साथ सीधे उतरता है, वैसे ही मिश्र जी अपनी कविताओं में उतरते हैं। जैसे वे अपनी डायरी में एक ठेठ आदमी दीखते हैं–गिरता हुआ, उठता हुआ/टूटता हुआ/बनता हुआ/हँसी में आँसू और आँसू में हँसी छिपाये हुए, वैसे ही वे अपनी कविताओं में भी प्रतिबिम्बित-परिलक्षित होते हैं। उनकी डायरी कहती है–'बहुत कुछ दिया है/प्रकृति और मनुष्य की न जाने कितनी छवियाँ/अपने में भरकर मुझमें व्याप्त रहो/मैं पूनो की चाँदनी-सी डहडहा रही हूँ/प्रभात की जीवन-रश्मियों में नहा रही हूँ/ मुझमें/ पावस बरस रहा है–झर-झर-झर वसंत की मदमस्त हवाएँ फाग गा रही हैं/ कितने-कितने उत्सव मस्ती में हँस रहे हैं। कितने-कितने रंगों में पल-पाँखी उड़ रहे हैं। कितने-कितने जाने-अनजाने लोग जा आ रहे हैं। मैं उल्लसिल होते-होते थरथराने लगती हूँ/पीड़ितों और बेबसों के लिए तुम्हारी संवेदना से/लेकिन उस संवेदना से फूटती हुई ज्योति/मुझमें एक उत्साह भर देती है। लगता है कि दर्द में से एक चाह/चाह में एक राह फूट रही है/और एक दृष्टि-आलोक उसे दिशा-दिशा दिखा रहे हैं।'' ऐसे में क्या उनकी कविताओं की पाठक या आलोचक के लिए यह पूछना शेष रह जाता है कि क्या ये सब उनकी कविताओं के उनके द्वारा संवेदित विषय या प्रतिपाद्य नहीं है; साथ ही उनकी कविताओं में न तो भारी-भारी फलसफों का बोझ है और न ही गरिष्ठ, गरिष्ठतर सिद्धांतों का निरूपण। इस 'डायरी' कविता में डायरी उनके साथ होने का दावा करती है, पर मिश्र जी अपनी कविता के साथ भी 'होने' और 'बहने' की अभिव्यक्ति करते हैं। उनकी कविता उनके साथ चल रही है और स्वयं मिश्र जी भी अपनी कविता के साथ-साथ। मिश्र जी अपनी कविता को अपनी 'भविता' मानते हैं। पाश्चात्य विचारक मार्टिन हाइडगर ने अपने 'होने' के विषय में, अपनी 'भविता' के विषय में सोचा था। मिश्र जी के लिए 'कविता तो जीव का प्यार है। उनके बिना तो लगता है–जीवन खाली समय रह गया है।' 'और अंततः उनकी यह आत्मस्वीकृति तो हाइडेगर के द्वारा उठाये गये प्रश्नों का जैसे उत्तर ही दे देती है कि 'मेरे लिए तो वे (कविताएँ) मेरे होने की सार्थकता हैं।' इस तरह उनकी डायरी का मिजाज मूलतः उनकी कविता का ही मिजाज सिद्ध होता है और वे अपने काव्य-विकास में, उसके 'ग्रोथ' में 'डायरी कविता' के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं।

रामदरश जी आरंभ से ही समसामयिक समस्याओं को अपने संवेदित चित्त अनुभूत करते रहे हैं। उनकी एक कविता बाजारवाद पर है–'नया बाजार थोड़ी और जगह घेर लेता है/और एक दिन उन्हें लगता है कि/बाजार उनके घर में है और वे बाजार में।' यहाँ उन्हें स्थितियों की पादरर्शी समझ प्राप्त होती है–'धीरे-धीरे भेद खुलता गया कि/विश्वग्राम का मोहक

महल/ग्राम-संवेदना पर नहीं। बाजारवाद पर खड़ा है।' और फिर 'उनके लिए भोग ही प्यार बन गया है/देश तो देश/स्वयं अपना घर भी बाजार बन गया है।' इसी तरह वह अपनी कविता में जनता के प्रतिनिधि की सच्चाई को भी मुखर करता है–'हम जानते हैं कि आप हमारे लिए क्या करते हैं/आप दिन को रखवाले बने रहते हैं। और रात में मजे से हमारा खेत चरते हैं।'

इन दिनों साहित्य में पर्यावरण-कविता और पर्यावरण-परक आलोचना की चर्चा है। आज से ठीक 35-36 वर्ष पूर्व 1978 में विलियम रयूकर्ट ने पहली बार साहित्य में इस दृष्टि से बात की थी। रामदरश जी की उत्तरवर्ती कविताओं में कुछ कविताएँ पर्यावरण-कविता भी हैं। वे मनुष्य और पर्यावरण की पारस्परिक सहभागिता को बिम्बित और गुंजित- अनुगुंजित करने वाली हैं। उनकी 'धूप' तथा 'पेड़' और 'मैं' इस कोटि की उत्कृष्ट कविताएँ हैं, जिनमें प्रकृति और मानव की सहभागिता के साथ-साथ प्रकृति की विद्यमानता को अनिवार्य माना गया है। यहाँ न तो प्रकृति का शोषण है और न ही उसका उन्मूलन, बल्कि पर्यावरण हमारे बीच यहाँ एक अनिवार्य विद्यमानता है। उनके 'आग की हँसी' संग्रह मे चार कविताएँ कविता पर ही रची गयी हैं–1. कविता के साथ, 2. मुझे पता है, 3. कविता मनुष्यता का राग है और 4. कविता संवेदनशील बनाती हैं। इनमें आरंभिक दो कविताएँ ऐसी हैं, जिसमें मिश्र जी को कविता स्वत: जीवन लगती है–'मैं लाचार हूँ अपनी ठेठ गँवई समझ से/जो कविता को जीवन की तरह पढ़ती है।' उनकी कविताओं में 'दूर तक फैली खुरदुरी मिट्टी का दर्द है। हवा का बहाव है/जल की पारदर्शी गहराई है, आग की तपिश है और आकाश का प्रसन्न विस्तार है।' पर इसके विपरीत कविता पर लिखी उनकी दो परवर्ती कविताएँ कविता और कवि से जीवन की असम्पृक्ति को, उसकी मूल्यविरोधिता को दर्शाती हैं। यहाँ कविता को जीवन और मनुष्यता का राग मानने वाला ही अपने समाज और मानवीयता से पूरी तरह कटा हुआ है जिसके कारण लोगों को यह सोचने के लिए विवश होना चाहिए कि 'हाय! हम तो इस आदमी की वाक्य पटुता से छले गये।'

रामदरश जी स्वयं क्रियान्वित यानी चालू जीवनमूल्य के ही कवि नहीं हैं, अपितु वे अकल्पित यानी अपेक्षित जीवनमूल्य के भी कवि हैं। उनकी शोहरत कविता में उनके इस जीवन-मूल्य का निरूपण हुआ है। इस कविता में 'शोहरत' स्वयं चलकर कवि के पास आती और वह कवि से आज के युग में शोहरत पाने के लिए चालू करणीय करने का अपना आग्रह करती है। पर कवि उसके इन आग्रहों को नहीं स्वीकारता है। उसका आग्रह है कि 'नहीं, मैं बैठने नहीं आयी हूँ। तुमसे यह कहने आयी हूँ कि तुम घर के अंदर क्यों घुसे रहते हो/मुझे पाने के लिए मेरे पीछे दौड़ना पड़ता है/यहाँ-वहाँ न जाने कहाँ-कहाँ देख नहीं रहे हो, दौड़ मची हुई है।' पर कवि का मूल्य-विवेक इसे मुस्कुरा कर अस्वीकार कर देता है–'तो जाओ न उनके साथ, जो दौड़ मचाये हुए हैं। मुझे तो तुम जितना मिल चुकी हो, बहुत है और हर बार तो तुम स्वयं चलकर मेरे घर आयी हो।' अन्त में जब परिवार की बच्ची अपने दादा जी से पूछती है, जिज्ञासा करती है कि वह कौन थी, तो उसे उत्तर मिलता है कि 'बेटी, एक थी, जो साथ लग जाती है तो आदमी का खुले रूप में/खाना-पीना, चलना-फिरना, रोना-हँसना मुहाल हो जाता है वह अपने घर में भी अपने घर का नहीं रह पाता।' और यह उत्तर पाकर बच्ची सोचती है कि 'आखिर यह कौन-सी बीमारी

है!' रामदरश जी गहरी संवदेना और सर्जना के कवि रहे हैं। इस संवेदनानुभूति से उनकी काव्य-सृष्टि कई प्रकार की 'नोस्टेल्जिक' अभिव्यक्ति को जन्म देती है। 'निराला' को इसी संवेदनानुभूति के वशीभूत कभी यह लिखना पड़ा था कि 'अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा।' और इसकी कचोट कवि को विकल कर देती है, क्योंकि 'चिट्ठी कागज का टुकड़ा न रहकर/आदमी का व्यक्तित्व बन जाती है/चिट्ठियाँ एक बार बोलकर चुप नहीं हो जातीं। वे रह-रह कर बतियाती हैं/सोयी रहती हैं, फिर जाग जाती है/समय बीतने के साथ गहराती जाती हैं।

उनके होने की महक! वे आईना बन जाती हैं जिसमें झाँक-झाँक कर/वर्तमान अपना कल का चेहरा देखता है/और समय-समय न रहकर संवेदना का प्रवाह बन जाता है।' रामदरश जी के यहाँ यह 'नोस्टेल्जिया' शुद्ध समय के संदर्भ में भी रेखांकनीय है। अपने गुजरे हुए समय और अपने द्वारा गुजारे गये समय के विषय में वे लिखते हैं–'चुप बैठा रहता हूँ अनभीगा-सा/सामने समय का जल बहता रहता है/है चहल-पहल तो कितनी दायें-बायें/पर भीतर सन्नाटा दहता रहता है/लंबी यात्राओं के कुछ मीठे सपने/मेरी तन्हाई में आते-जाते हैं। 'यह 'नोस्टेल्जिया' उनके यहाँ कालचक्र में घूमने वाले मौसम के प्रति भी है, विशेष रूप से फागुन और शरद को लेकर! क्वार के महीने के प्रति उनकी अभिव्यक्ति पठनीय है–'मैंने तुम्हें कितना चाहा शरद तुम तो मेरे भीतर बसे हो।

न जाने कितनी छवियों और महकों के साथ/भादों की गहन अंधेरी रात से गुजरते हुए/मुझे क्वार की उत्कट प्रतीक्षा रहती है।'

रामदरश जी के यहाँ यह 'नोस्टेल्जिया' स्थल-बोध पर भी आधारित है। उनका एक उद्‌गार देखें–कुछ समेट कर उस नगरी का यहाँ चला गया/लेकिन लगता है रह-रह मै स्वयं वहाँ पर छूट गया।' पर यहीं उनकी स्थल-चेतना से उनके संबंधों की, नाते-रिश्तों की चेतना भी जुड़ी हुई है–'उनकी आँखों में भर आता है सुदूर का पहाड़/पहाड़ पर बैठा गाँव/गाँव में टूटा घर/घर में बैठे बूढ़े माँ-बाप/जवान बीबी, नादान बच्चे/इन रुपयों में उनकी तस्वीरें तैरने लगी हैं। मन भीग जाता है ममता-भरी हँसी से/लगता है पहाड़ उन्हें बुला रहा है। घर की आवाज में।' साथ ही–'जिस गाँव को मैंने जीया है। वह तो संगीत बनकर थरथराया करता है मेरी चेतना में/टूटा-फूटा ही सही, वह घर था जिसमें बहती थी नदी की तरह/माँ की ममता/झूमता था किरणों की तरह पिता का आशीष/खेलता था धूप की तरह भाई-बहनों का साहचर्य।'

उनके यहाँ यह 'नोस्टेल्जिया' अपनी आसन्न मुक्ति की स्थिति में और भी गहराती दीखती है। यहाँ प्रतीक्षा है, एक अत्यंत आत्मीय पात्र के आने की। कवि लिखता है–'दो दिन पहले खबर मिली/कि वह आ रहा है दस दिन बाद/एकाएक सहज मन बावरा हो गया/वह आ रहा है, वह आ रहा है/अन्तर में एक उन्मन राग बजने लगा/एक-एक पल दिन-सा भारी लगने लगा/मन कहने लगा-बीच के कमबख्त दिन उड़ क्यों नहीं जाते!' अगर बीच के दिन उड़ जाते, मिट जाते और मिलना तत्काल संभव हो पाता, तो इस 'नोस्टेल्जिया' से मुक्ति मिल जाती। पर ऐसा हो नहीं पाता। मिश्र जी की एक कविता है 'चौराहा'। यह एक अत्यंत मार्मिक और प्रभावी कविता है। यहाँ 'फुटपाथ' है, नुक्कड़ है, ढाबा है, रेहड़ी है, रिक्शे हैं! बड़ी बात यह है कि 'घोर जाड़ा हो या गर्मी कि बरसात/यह चौराहा जागता रहता है/ताकि मेहनतकशों/और मातबर के बीच रोटी की लय बनाए रह सकें' यद्यपि

यह कविता किसी 'नुक्कड़ कविता' या 'पोस्टर कविता' के रूप में नहीं लिखी गयी है, पर इसमें इन दोनो प्रकार की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।

रामदरश जी की उत्तरवर्ती कविताओं के केन्द्र में 'आम आदमी' है उनकी कविताओं में प्राय: इसके प्रति केन्द्रण और निरूपण देखने को मिलता है। वे इसकी करुण और विडम्बनात्मक स्थिति के समर्थ चितेरे हैं। इसलिए इसकी आवर्तित प्रोक्ति उनके यहाँ उनकी प्रतिपाद्य प्रोक्ति बन जाती है, जिसका शब्द है 'रोटी'। उनके यहाँ श्रम का गान है।

वे इस 'आम आदमी' की तुलना, हर कहीं उस 'खास आदमी' से करते हैं, जिससे विरोधी स्थितियाँ अग्रप्रस्तुत हो उठती हैं। वे बुर्जुआ, परजीवी अभिजात लोगों के संदर्भ में श्रमी, सर्वहारा आदमी के अभाव का, उसके घर पर चूल्हे नहीं जल पाने का बड़ा कारुणिक बिम्ब उपस्थित करते हैं। नागार्जुन की 'अकाल और उसके बाद' शीर्षक कविता में चूल्हे नहीं जलने और जलने की दो भिन्न विरोधी स्थितियों की तुलनात्मकता है, पर रामदरश जी की कविताओं में जहाँ श्रमजीवियों के यहाँ चूल्हे नहीं जल पाने की अभावपरकता, विवशता और कारुणिकता–कई दिनों से चूल्हा नहीं जला/ माँ-बाप, भाई-बहन/निरीह आँखों से देख रहे हैं, एक-दूसरे को वे चुप हैं बेबसी को पहचानते हुए/लेकिन भीतर एक हाहाकार हहरा रहा है वहीं कुछ दूर पर एक दूसरी दुनिया है।

जहाँ भरे पेट भवनों का विलास-पर्व है। महफिलों के इन्द्रधनुषी रंग हैं/छल-भरी हँसी की हलचल है/हाँ, यहाँ नर-देवता रहते हैं। जो लोगों की रोटी छीन कर खाते हैं कुछ खाते हैं, कुछ फेंक देते है...!'' इस तरह यहाँ दो भिन्न वर्गों की तुलनात्मक विरोधिता है, जो आजादी मिलने के छह दशकों के बाद भी अब तक बनी और तनी हुई है। उनके यहाँ आग की हँसी चूल्हे की हँसी है, आम आदमी के रोटी नसीब होने की परितृप्ति की हँसी है, पर मूलत: यह जीवनोष्मा की हँसी है। इसके अभाव की नहीं, इसके भाव की हँसी है। रामदरश जी इसी राज को इस तरह खोलते हैं–'एक अत्याचार का मारा हुआ/एक अत्याचार पचाता हुआ/एक जीवन-शक्ति से वंचित होता हुआ/एक और और हड़पन की शक्ति अर्जित करता हुआ।'

अंतत: यह कहना होगा कि जनवादी आलोचकों के द्वारा अपनी कविता के मूल्याँकन में घोर उपेक्षा कि जाने और हाशिये पर रखे जाने के षड्यंत्रों के बावजूद रामदरश जी एक सच्चे और सशक्त जनकवि सिद्ध होते हैं, जैसा उनके और उनकी कविता के विवेक सम्पन्न पाठक जानते और मानते हैं। इसलिए उन्हें यश: स्वत्व के लिए न तो किसी प्रचार की चिन्ता रही है और न किसी प्रकार का आग्रह। उन्होंने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया, पर अपनी काव्य-संवेदना की समृद्धिवश वे अनेकानेक पुरस्कारों और सम्मानों से अलंकृत हुए, भले ही इसमें विलंब हुआ। उनकी कविता में महानायकों की जगह आम जन ही उनकी कविता की अन्योन्याश्रितता में सहज-स्वाभाविक संवेदन के साथ निरूपित-बिम्बित हुए हैं।

उन्होंने अपनी 'शोहरत' कविता में उसे संबोधित करते हुए लिखा है–'आयी हो, तो एक नेक काम कर जाओ न/देखो, मेरे पड़ोस के अनेक घरों में/मुश्किल से कभी-कभी चूल्हा जल जाता है। एक दर्द उनमें हाहाकार करता रहता है चुपचाप/तुम उनकी आवाज बन जाओ न/उनके दर्द को उन तक पहुँचा दो।'... रामदरश जी की कविता की यही मूल संवेदना है। अपने इस स्वर को वे पूरे समाज और अपने समसामयिक शासन-तंत्र तक पहुँचाना चाहते हैं।

मैं तो यहाँ हूँ जीवन दर्शन के उद्‌गाता : कवि रामदरश मिश्र

–डॉ. वेद मित्र शुक्ल

''सभी चले गये थे/मंदिर में अपनी मुरादों के चीथड़े छोड़ कर/मैं अकेले बैठा था प्रभु-मूर्ति के सामने/और बातें कर रहा था/सुख-दु:ख की/लेकिन मूर्ति जड़ बनी रही/ऊब कर मंदिर से बाहर निकला तो देखा-/चारों ओर पुष्पित खेत खिलखिला रहे थे/चहचहाती चिड़ियों का महारास मचा था/हवाएँ खुशबू में नहा रही थीं/और जड़-चेतन की त्वचा पर/स्पंदन की कथा लिख रही थीं/पास बहती हुई नदी में/तरंगों का नर्तन और गान चल रहा था लगता था/धरती और आकाश के बीच संवाद हो रहा है/प्रतीत हुआ/जैसे चारों ओर एक आवाज गूंज रही है-/ "अरे, मैं तो यहाँ हूँ, यहाँ हूँ, यहाँ हूँ'' (पृ.-67)।''

वर्ष 2021 के इकत्तीसवें सरस्वती सम्मान से सम्मानित वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र जी कृत कविता संग्रह मैं तो यहाँ हूँ से ली गई शीर्षक कविता 'मैं तो यहाँ हूँ' से गुजरते हुए निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि रूढ़ियों से निकलकर ईश्वर को प्रकृति के जीवंत प्रांगण में बसा हुआ और प्रकृति के उल्लास में रमा हुआ मानने वाला कवि ही अंतिम जन तक पहुँच कर 'मैं तो यहाँ हूँ' की बार-बार स्थापना कर सकता है।

समकालीन साहित्य में सहजता के पर्याय हो चुके रामदरश मिश्र के साहित्य में मूल लोक-जीवन है। लोक से अर्जित और लोक को ही समर्पित की भावना से ओत-प्रोत उनके साहित्य को सरस्वती सम्मान से सम्मानित कविता-संग्रह 'मैं तो यहाँ हूँ' की कविताओं में पढ़ा जा सकता है। इस संदर्भ में 'मैं तो यहाँ हूँ' की चर्चा करते हुए यह पाते हैं कि वे ईश्वर और अध्यात्म की पहचान लोक-जीवन के भीतर ही करते हैं। उनका ईश्वर लोक और प्रकृति में रमा हुआ है। कवि प्रकृति का पुजारी है। प्रकृति अर्थात सहज लय; प्रकृति यानी कि ढोंग, आडम्बर आदि से दूर। इस प्रतिनिधि कविता की भांति रूढ़िवादिता के प्रतीकों को धता बताती उनकी शेष कविताओं को भी इस कविता संग्रह में पढ़ा जा सकता है।

वर्ष 2021 के इकत्तीसवें सरस्वती सम्मान से हिंदी के यशस्वी लेखक रामदरश मिश्र को और उनके हिंदी कविता-संग्रह 'मैं तो यहाँ हूँ' (2015) को सम्मानित किया गया। भारतीय साहित्य में के.के. बिरला फाउंडेशन द्वारा प्रवर्तित इस सम्मान के लिए कई स्तरों पर गठित भाषा समितियों द्वारा गहन विचार-विनिमय के बाद प्रतिवर्ष 22 भारतीय भाषाओं में पिछले दस वर्ष की अवधि में प्रकाशित पुस्तकों में से किसी एक कृति को चयन परिषद द्वारा चुना जाता है।

पाँच क्षेत्रीय समितियों द्वारा 22 पुस्तकों पर विचार-विमर्श के उपरान्त जिन पुस्तकों की सूची चयन परिषद को सौंपी गई उनमें नरसिंह प्रसाद भादुड़ी कृत बंगाली निबंध संग्रह महाभारतेतर अष्टदशी, चैतन्य प्रसाद मांझी कृत संथाली कहानी संग्रह कोलकाता नापम कथा, रामदरश मिश्र कृत हिंदी कविता संग्रह मैं तो यहाँ हूँ, सी.एस. लक्ष्मी कृत तमिल कहानी संग्रह अम्बई कथाईकाल और राधावल्लभ त्रिपाठी कृत संस्कृत महाकाव्य सौभाग्यनूपुरं पुस्तकें थीं, और इनमें से हिंदी कविता संग्रह 'मैं तो यहाँ हूँ' को चुना गया। ऐसा कहा जाता है कि जितनी विस्तृत और गहन चयन प्रक्रिया इस पुरस्कार के लिए निर्धारित की गई है

उतनी किसी अन्य पुरस्कार के लिए नहीं की गई है। दूसरे शब्दों में भारतीय भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृति का सम्मान के.के. बिरला फाउंडेशन द्वारा प्रत्येक वर्ष सरस्वती सम्मान के माध्यम से ही किया जाता है। इस प्रकार से देखा जाये तो अपने जीवन के 98 वर्ष पूरा कर रहे मिश्र जी की इस कृति का सम्मान हिंदी-समाज के लिए ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के लिए गौरव का विषय है।

सरस्वती सम्मान से जुड़ी चयन परिषद् ने मिश्र जी के विपुल साहित्य-संसार पर अपनी राय साझा करते हुए कहा कि मिश्र जी में तथा उनकी रचनाओं में गाँव की आत्मा बसी हुई है। गाँव की जिंदगी का यथार्थ और गाँव की गहन और संवेदना का मार्मिक संसार इनकी रचनाओं में दीप्त रहता है। यानी कि मिश्र जी शहर में रहते हुए भी ग्राम्य-लोक से गहरे जुड़े रचनाकार हैं। इसीलिए इनके लेखन में भाषा और भाव का छद्म नहीं है, सहजता है। रचनाएँ भाव-संकुल होकर भी सहज ही संप्रेषित हो जाती हैं। 98 वर्ष की आयु में भी इनकी सर्जना थकी नहीं है। उनकी सृजन यात्रा आज भी निरंतर जारी है। साहित्य की कई विधाओं में जैसे उपन्यास, कहानी, डायरी, संस्मरण, आलोचना, आत्मकथा आदि में सिद्धहस्त होते हुए भी मिश्र जी स्वयं को पहले एक कवि मानते रहे हैं। विभिन्न विधाओं में उनकी सौ से भी अधिक प्रकाशित कृतियों में से लगभग 33 कृतियाँ कविता-संग्रह हैं। हिंदी साहित्य-संसार में प्रतिष्ठित सम्मान जैसे साहित्य अकादमी और व्यास सम्मान से उनके कविता-संग्रह ही क्रमश: 'आग की हँसी' और 'आम के पत्ते' पूर्व में सम्मानित हो चुके हैं। मिश्र जी कहते हैं कि उन्होंने विविध साहित्यिक विधाओं में रचा है, परन्तु कविता को छोड़कर नहीं बल्कि कविता के साथ-साथ रचा है। संभवत: यही कारण है कि उनका कवि-कर्म सदैव से उनकी दीर्घ साहित्य-साधना के केन्द्र में रहा है।

सम्मानित कविता-संग्रह की बात करें तो 'मैं तो यहाँ हूँ' भी उनके अब तक 33 कविता-संग्रहों में विशेष रूप से आग की हँसी, आम के पत्ते, रात सपने में, कंधे पर सूरज, बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ आदि की तरह ही एक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि कविता-संग्रह के रूप में भारतीय साहित्य को सुवासित कर रहा है। संग्रह के बारे में चयन परिषद ने यह माना कि संग्रहित कविताएँ अपने भीतर जीवन और जगत के सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों को सहेजे हुए हैं मसलन चाहे वह साम्प्रदायिकता का प्रश्न हो, भ्रष्टाचार का प्रश्न हो, मनुष्यता की ढाल की चिंता का प्रश्न हो, शोषित दलित की पीड़ा का सवाल हो, शहर की पीड़ा का दृश्य हो, मौसम हो, ॠतुओं का सौंदर्य हो, इन सब पर कवि ने बड़ी ही गंभीर कविताएँ लिखीं हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि कवि अपनी कविताओं के माध्यम से 'मैं तो यहाँ हूँ' के दर्शन को बार-बार स्थापित करता है। इस संदर्भ में 'पूजा और फूल' शीर्षक से कविता भी महत्वपूर्ण है। कवि फिर से कहता है कि ईश्वर की वह कौन-सी पूजा है जिसके लिए ईश्वर द्वारा सृजित फूलों की असमय हत्या कर दी जाये:

'गुरुजी की पूजा के लिए मैंने फूल तो तोड़ लिये/लेकिन सोचने लगा/यह कौन सी पूजा है जिसके लिए/हँसते-महकते फूलों की असमय हत्या कर दी जाये/और फिर उनकी पंखुड़ियाँ/इधर-उधर कूड़े के ढेर पर फेंक दी जाएँ/दरअसल भगवान तो/अपने द्वारा सृजित इन फूलों में ही बसते हैं-/हँसते-महकते हुए (पृ.-96)।'

यह कविता महज पूजा के लिए तोड़े गये महकते फूलों की असमय हत्या को लेकर एक सवाल नहीं है, बल्कि मजहबी उन्माद के दौरान मारे जाने वाले निर्दोषों का स्मरण करवाते हुए खोखलेपन के शिकार हो चुके मजहबी लोगों के असंवेदनशील रवैये का प्रतिकार है। इसी प्रकार एक अन्य कविता में अंतिम-जन और दरिद्र-नारायण की सेवा को ही पूजा मानकर 'मैं तो यहाँ हूँ' दर्शन की पुनः स्थापना करते हुए 'अपना-अपना मंदिर' नामक कविता में लिखते हैं:

'धार्मिक त्योहार का दिन था/मंदिर रोशनी में नहा रहा था/लोग चले जा रहे थे मंदिर की ओर-/दीप-दान के लिए/... पड़ोसी सेठ ने पूछा-/मंदिर नहीं चलना है?/आऊँगा-आऊँगा आप चलें/सेठ चले गये/वह कुछ देर बाद निकला/और अँधेरे में डूबे एक घर की देहरी पर/चुपचाप एक दीप रख आया (पृ.-102)?'

यह कविता 'अँधेरे में डूबे एक घर' के लिए पूंजीवाद के प्रतीक किसी पूंजीपति सेठ को आहत करने में या छद्म क्रान्ति में विश्वास नहीं रखती है, बल्कि, उस घर की देहरी पर अपने सामर्थ्यानुसार चुपचाप एक दीप रख आने में विश्वास रखती है। मंदिर चलने के प्रश्न पर कवि द्वारा 'आऊँगा-आऊँगा आप चलें' कहकर नहीं जाना, और कुछ देर बाद अंधेरे में डूबे एक घर की देहरी पर दीपदान कर आना, सच में, अपने-अपने मंदिर की सार्थकता एवं गरिमा से युक्त पहचान कर लेने का सन्देश है। आमजन से जुड़े एक कवि की क्रान्ति सहज लय से युक्त होती है और यही सच्ची क्रान्ति है जो इस कविता में धर्म और ईश्वर के नाम पर किये जाने वाले रुढ़िवादिता से युक्त कार्यों के प्रतिवादस्वरूप दृष्टिगत होती है।

कवि का ईश्वर वह ईश्वर नहीं है जिसका नाम लेकर कुछ लोग कट्टरता और विभेदकारी शक्तियों को या देते हैं। 'ईश्वर को ईश्वर से मारकर ईश्वर को प्यार' करने वाले दोगलेपन को जीते लोगों को कवि ने संग्रह की ''ईश्वर'' शीर्षक से पहली कविता में ही करते हुए कहा है:

'ईश्वर तो एक ही है पर संसार में आकर/भिन्न-भिन्न धर्मों के लिए जुदा-जुदा हो गया हिंदुओं के लिए 'भगवान'/ईसाइयों के लिए 'गॉड' और मुसलामानों के लिए 'खुदा' हो गया सभी कहते हैं ईश्वर एक है। किंतु सभी एक दूसरे के ईश्वर पर/प्रहार करते हैं। वे ईश्वर को ईश्वर से मार कर/ईश्वर को प्यार करते हैं। (पृ.-9)।'

कवि का मानना है कि यथार्थ की जमीन पर ही लोकजगत बसता है। इस मनुष्य लोक से इतर कोई और लोक है तो वह रहस्य, प्रश्नों और द्वंद्व से युक्त है यथार्थ की जमीन पर खड़े होकर प्रश्नों और द्वंद्व से भरे उस रहस्यमयी लोक से भी समय-समय पर हमें दो-चार होना पड़ता है। कवि भी जिसको अत्यंत स्नेह देता है उसके अचानक चले जाने पर रहस्यमयी लोक से दो चार होता है, और एक शोक कविता 'यह क्यों होता है?' रच जाता है:

'पता नहीं यह क्यों होता है/चलते-चलते अपनेपन का प्रकाश/एकाएक अंधेरा चुप हो जाता है। जिससे बहुत प्यार होता है। वह बोलते-बोलते/अकारण एक दिन चुप हो जाता है/न जाने कहाँ से आकर/विश्वास के पाँवों में चुभ जाता है एक काँटा समय की घाटी में दूर तक पसर जाता है/एक मनहूस सन्नाटा (पृ.-97)।'

''मैं तो यहाँ हूँ'' की दृष्टि उनकी अन्य कविताओं में भी कहीं न कहीं व्याप्त है। अपने साहित्य-संसार में व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि की यात्रा

करते हुए रामदरश मिश्र कभी किसी 'वाद' या वैचारिक साँचे-खाँचे से नहीं बंधे मिश्र जी ''आदमी होने की पहचान'' नामक कविता में कहते हैं:

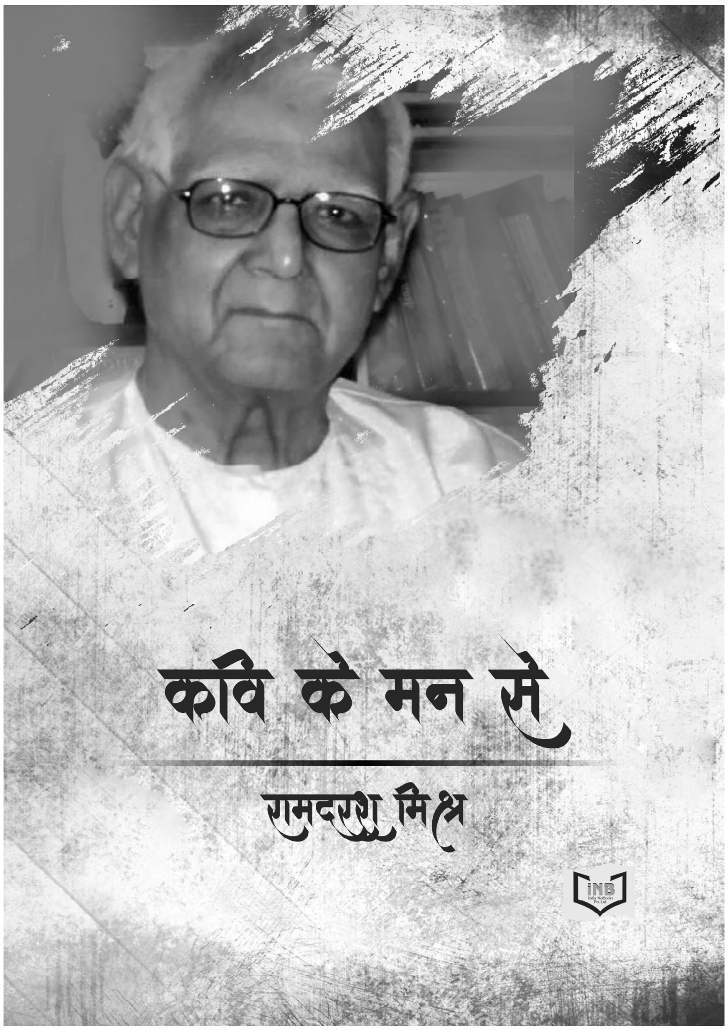

"मैं लिखता हूँ तो/कोई साहित्य-सिद्धांत मेरे सामने नहीं होता/होता है अपना और आसपास का जिया हुआ जीवन/और उस जीवन से निकली हुई भाषा/आपका साहित्य शास्त्र/अपने को इसके अनुकूल पाता है तो पाले नहीं तो मसीहा बने रहने के लिए/ बंध्या-बहस करते रहिए दूसरों की भाषा में मेरी रचनाएँ जैसी भी है, मेरी हैं वे चुपचाप पहुंचती रहेंगी उन तक/इनमें जिनका दर्द बोलता है/... आप पता नहीं कल कहाँ होंगे/ लेकिन मेरी रचनाएँ तो कल भी पहुँचती रहेंगी/जहाँ पहुँचना होगा/क्योंकि वे शुष्क सिद्धांत नहीं है/अंतर के छोटे-बड़े गान हैं/यानी कि आदमी के आदमी होने की पहचान है (पृ.-23)।''

'द वर्ल्ड इन् टू मच विद अस्' को समकालीन हिंदी कविता जिस प्रकार से संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करती है वह मिश्र जी की कविता ''हँसी की तैयारी'' में पढ़ा जा सकता है। अति भौतिकवादी होकर कभी खुश नहीं रहा जा सकता है असली खुशी तो इंसान के भीतर होती है। इस उस के लोभ में जीवन में तृप्ति संभव नहीं है: वह सोचता रहता है-/यह भी मिल जाये/वह भी मिल जाय/वह भी मिल जाये/तब वह निश्चिन्त होकर हँसेगा चैन की हँसी/लेकिन वह कभी हँस नहीं सका/जीवन भर हँसने की तैयारी करता रह गया (पृ.-54)।

कुछ इसी प्रकार के सन्देश के साथ एक और कविता ''हँसी और दंश'' है जिसमें कवि कहता है कि कबाड़ी वाले के बच्चे के हाथ में और उसके परिवेश में लोहे का एक टुकड़ा भी सुख का कारण होता है, परन्तु ''वह धन-परस्त अपने दरवाजे पर उदास बैठा था उसे पहले भी बहुत कुछ मिल चुका है। आज भी

मिला था/किंतु पड़ोसी को भी मिल गया यह मलाल उसे हँस रहा (पृ.-55)।''

''हम दोनों'' शीर्षक से रचित कविता में कवि एक बड़ा प्रश्न पाठक के लिए खड़ा करते हुए कहता है कि उम्र बीत जाती है इंसान बनने में, लेकिन कुछ न जाने कैसे भगवान हो बैठे हैं कुछ दिनों में:

''हम दोनों ने साथ ही/जीवन-यात्रा शुरू की थी/दूर तक साथ चलते रहे/मुझे लगता रहा कि/वह भगवान् बनने के चक्कर में है/और एक दिन यों ही भगवान् बन बैठा/मैं सोचता रहता हूँ कि/कब एक आदमी बन पाऊँगा (पृ.-57)।''

यह कविता व्यंग्य भी है उन पर जो सदैव तने-बने होते हैं कृत्रिमता, आडम्बर बनावटीपन आदि के साथ यह कविता जीवन में सहजता के मन्त्र की अनुगूँज से उत्पन्न एक और प्रतिध्वनि है। इस धरा पर मनुष्यता ही श्रेयस्कर है का सन्देश है यह कविता श्रेष्ठता की ग्रंथि से जकड़े-अकड़े लोगों पर बड़ा प्रहार भी यह कविता है। साथ ही ईश्वर एक सच्चे मनुष्य में ही होता है बताती यह कविता 'मैं तो यहाँ हूँ' के दर्शन की एक और व्याख्या है। दूसरे शब्दों में रामदरश मिश्र जी 'मैं तो यहाँ हूँ' जीवन-दर्शन के सहज और सचेत रचनाकार व्याख्याता कवि हैं; उद्‌गाता कवि हैं।

'मैं तो यहाँ हूँ' के दर्शन से लगभग पूर्णत: अनुगुजित उपर्युक्त कविताओं के अतिरिक्त इसी के आस पास की कुछ और कविताएँ भी हैं जो वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक दशा और दिशा पर दृष्टिपात करती हैं 'कुर्सी (पृ.-10)' वर्तमान राजनीति की विसंगतियों को मुहावरेदार शैली में प्रस्तुत करती है। कविता 'वाणी विहार (पृ. 11-12)' आत्मकथ्यात्मक तो है, परन्तु बाजारवाद की चुनौतियों से दो चार होते हुए आज के समय को आईना दिखाने में पूर्णरूप से समर्थ है। इस कविता में जो मुहावरे उभरकर आते हैं वे कालजयी सरीखे हैं। उदाहरणार्थ ''वाणी-पुत्र धीरे-धीरे छोड़ते गये विहार को/और उनकी जगह आते गये हाट-पुत्र'' 'वाणी विहार' 'वणिक विहार' बनता चला गया'', ''अब वहाँ किताबों के पन्नों की नहीं/रंग-बिरंगे कपड़ों की सरसराहट है'', ''बाजारू बोलियों की बजबजाहट है'' आदि।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि सच्चे अर्थों में प्रगतिशील दृष्टि से युक्त कविता-संग्रह 'मैं तो यहाँ हूँ' के रचनाकार रामदरश मिश्र आज के उन भारतीय साहित्य के पुरोधाओं में शामिल हैं जिनको जाने बिना समकालीन भारतीय साहित्य को जानने व समझने का दावा नहीं किया जा सकता। मानवीय मूल्यों से जोड़कर रखने वाले लोक-जीवन की डोर थामे रामदरश मिश्र जी 'धीरे-धीरे' की भाव-भावना के संपृक्त सतत गतिमान रहे हैं। इस आपाधापी से भरे युग में सहजता के साथ जिस ईमानदारी, सरलता और सच्चाई से मिश्र जी एक लंबी साहित्यिक यात्रा तय करते हुए साहित्य की विविध विधाओं में रचनाकर्म से पूरी सक्रियता और मनोयोग के साथ जुड़े हुए हैं वह उभरते युवा साहित्यकारों के लिए ही नहीं अपितु आने वाले समय के लिए भी प्रेरणादायी है।

साहित्य की कई विधाओं में सौ से भी अधिक कृतियों के रचनाकार को साहित्य अकादमी सम्मान, व्यास सम्मान भारत भारती सम्मान हिंदी अकादमी शलाका सम्मान, दयावती मोदी कवि शेखर सम्मान और अब सरस्वती सम्मान-2021 जैसे बड़े सम्मान प्राप्त हुए हैं। सच में यह भारतीय साहित्य के लिए गौरव का विषय है।

ग्रामीण परिवेश से जुड़े वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र

–विनोद पाराशर

‘सावधान !
चूहे फिर उतर गये हैं
सड़क पर
जल्दी ही घरों में प्रवेश करेंगे
अपनी–अपनी किताबें संभाल लो
ये गोदाम या तिजोरी नहीं काटते
केवल किताबें काटते हैं
क्योंकि उनमें इनसे बचने
या मारने के उपाय लिखे होते हैं!’

‘चूहे’ शीर्षक से उक्त छोटी सी कविता,मैंने आज से 38 वर्ष पूर्व नई दिल्ली के ‘सोवियत बुक रीडर्स क्लब’ में आयोजित एक काव्य संध्या में पहली बार डॉक्टर रामदरश मिश्र जी से सुनी थी। इस काव्य गोष्ठी में एक कवि के रूप में मुझे भी आमंत्रित किया गया था। वहीं शायद मिश्र जी से पहली मुलाकात हुई थी। उनकी इस कविता ने मुझे बहुत प्रभावित किया था।अपने आकार में बहुत छोटी लेकिन अर्थों में बहुत गहरी कविता! न तो भारी-भरकम शब्द और न ही प्रतीकों का मकड़जाल!

वह काव्य संध्या भारत की आजादी की 38वीं वर्षगांठ और सोवियत रूस के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों की 14वीं वर्षगांठ के रूप में रखी गई थी। मुझे अभी भी याद है उस काव्य गोष्ठी का संचालन वरिष्ठ कवि नाटककार एवं मेरे साहित्य गुरु प्रताप सहगल ने किया था। किसी सार्वजनिक मंच पर प्रतिष्ठित साहित्यकारों के समक्ष कविता पढ़ने का यह मेरा पहला अनुभव था। गुरुदेव प्रताप सहगल ने ही अन्य वरिष्ठ साहित्यकारों से नवोदित युवा कवि के रूप में मेरा परिचय करवाया था। श्नया घरश शीर्षक से मैंने अपनी एक छोटी सी कविता वहां पढ़ी थी, जिसे काफी सराहा गया था। उस कार्यक्रम की अध्यक्षता सुपरिचित साहित्यकार श्री गिरिजा

कुमार माथुर ने की थी और मुख्य अतिथि के रूप में पंजाबी की मशहूर लेखिका श्रीमती प्रभजोत कौर मौजूद थीं।

मेरे और डॉक्टर रामदरश मिश्र के अलावा, जिन कवियों ने इस गोष्ठी में अपनी-अपनी कविताएं पढ़ी थीं, उनमें शामिल थे- शशि सहगल,गीतकार राम कुमार कृषक, रमेश ऋषिकल्प, अनुभूति चतुर्वेदी, सुरेश ढींगरा, कुलदीप सलिल, मंगलेश डबराल, जगदीश चतुर्वेदी, लीलाधर जगूडी, विद्या शर्मा, कमल कुमार और नरेंद्र पाल सिंह आदि। उक्त साहित्यिक मित्रों में से कई साहित्यिक मित्र सशरीर आज हमारे मध्य उपस्थित नहीं हैं, लेकिन उनके द्वारा रचा गया साहित्य आज भी उनकी उपस्थिति का अहसास हमें करवाता रहता है।

हमारे लिए यह बड़े गर्व की बात है कि डॉ. रामदरश मिश्र अपने जीवन के 100 वर्ष पूरे कर चुके हैं। अपने इस जीवन में उन्होंने एक लंबी साहित्यिक यात्रा तय की है। अपनी इस साहित्यिक यात्रा में, उन्होंने साहित्य की हर विधा पर लेखनी चलाई है । उस विधा में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, यात्रावृत्तांत, संस्मरण व आलोचना आदि सभी शामिल हैं।

उनका पहला कविता संग्रह 'पथ के गीत' 1951 में प्रकाशित हुआ था। उसके अलावा उनके अन्य काव्य संग्रह हैं 'बेरंग बेनाम चिट्ठियां', 'पक गई है धूप' ,'कंधे पर सूरज', 'दिन एक नदी बन गया', 'जुलूस कहाँ जा रहा है', 'आग कुछ नहीं बोलती', 'बारिश में भीगते बच्चे' और 'हंसी होठ पर, आंखें नाम है' (गजल संग्रह) और 'ऐसे में जब कभी।'

उनके गद्य साहित्य को तो मैंने नहीं पढ़ा, लेकिन उनकी कुछ कविताओं को पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा एवं काव्य गोष्ठियों में सुना है। उनकी कविताओं की भाषा शैली एकदम सहज और सरल है,जो आम-जन को बड़ी सहजता से समझ में आ जाती है। अपनी एक कविता में वे लिखते हैं-

हमारे हाथ में सोने की नहीं
सरकंडे की कलम है
सरकंडे की कलम
खूबसूरत नहीं, सही लिखती है
वह विरोध के मंच लिखती है
प्रशस्ति-पत्र नहीं लिखती है
हम कठघरे में खड़े हैं,खड़े रहेंगे
और कठघरे में खड़े, हर उठे हुए हाथ को
अपने हाथ में ले लेंगे
राजा कौरव हों या पांडव
हम तो सदा वनवास ही झेलेंगे।

उनका व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली है। लंबी चौड़ी कद काठी। वेशभूषा में एकदम शुद्ध रूप से भारतीय। मुझे याद नहीं आ रहा, मैंने कभी उन्हें कोट पेंट में भी देखा हो। शहर में रहते हुए भी, ग्रामीण संस्कृति से अभी भी जुड़े हुए नजर आते हैं।

प्रताप सहगल, शशि सहगल और प्रेम जन्मेजय जी दिल्ली विश्वविद्यालय में उनके शिष्य रहे हैं। उक्त तीनों से ही मेरा परिचय भी लगभग 38 वर्ष पुराना है। लगभग 30-35 वर्ष पहले प्रताप सहगल जी ने 'गवाक्ष' नाम से एक साहित्यिक संस्था बनाई थी। उसके आयोजनों में, कभी सहगल साहब के निवास स्थान पर, तो कभी दिल्ली विश्वविद्यालय में या फिर किसी अन्य स्थान पर साहित्यिक गोष्ठियाँ होती जी, वहीं पर डॉ. रामदरश मिश्र जी से भी मुलाकात होती रही।

पिछले काफी वर्षों से उनसे मुलाकात नहीं हो पाई है उम्र के इस दौर में साहित्यिक आयोजनों भी वे कम ही नजर आते हैं। अपने जीवन के 100 वर्ष उन्होंने हाल ही में पूरे किए हैं। मैं उनके सुखद भविष्य की कामना करता हूं।

कविता में समय के सवाल

–राजा खुगशाल

वरिष्ठ कवि रामदरश मिश्र के नये कविता-संग्रह 'ऐसे में जब कभी' की कविताएँ पढ़ते हुए एक सुखद आश्चर्य होता है। पचहत्तर वर्ष की उम्र में भी रामदरश मिश्र संजीदगी से कविताएँ लिख रहे हैं। उम्र के इस मुकाम पर पहुँच का प्रायः कवि काव्य-सृजन के प्रति उदासीन हो जाते हैं या अपने कृतित्व का प्रतिदान चाहने लगते हैं। किंतु रामदरश मिश्र ऐसी किसी आकांक्षा से दूर अपने कवि-कर्म को अधिक महत्व देते हैं। यह उनके समकालीन कवियों और कविता के पाठकों के लिए संतोष की बात हो सकती है।

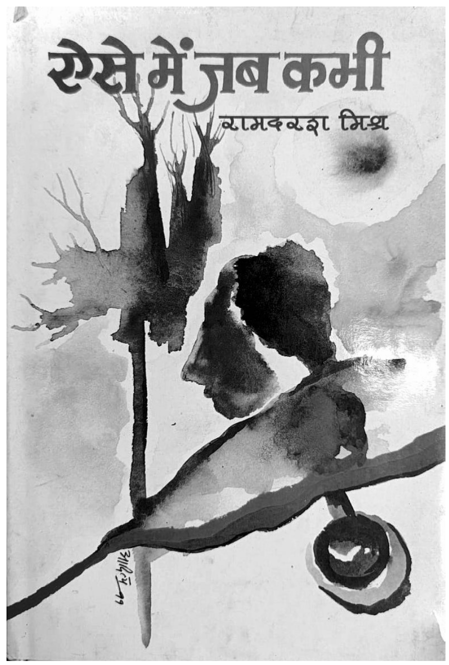

रामदरश मिश्र के कविता-संग्रह 'ऐसे में जब कभी' की कविताएँ जटिल जीवन स्थितियों की कविताएँ हैं। इन कविताओं में समाज के अपसंस्कृतिकरण से उत्पन्न विसंगतियों के ब्योरे हैं। आज के परिवेश में मानवीय मूल्यों की चिंता कवि का एक बड़ा दायित्व है। यह रचनाकार का संघर्ष भी है। इस संघर्ष में आज का कवि अकेला है। संग्रह की पहली कविता में कवि दुख के साथ कहता है–

''तुमने जो प्यार का सत्य दिया था
उसे बचाते-बचाते थक गया हूँ माँ।
तुमने कहा था–
पुत्र, तुम्हारे भीतर यह सत्य रोप रही हूँ
इसे पेड़ की तरह बड़ा होने देना।''

इस संवेदनहीन समय में कवि प्रेम-करूणा जैसे मानवीय सत्यों को बचाना चाहता है। समकालीन कविता-विमर्श में रामदरश मिश्र आधुनिकता के प्रत्यय को स्वीकार नहीं करते। वैचारिक स्तर पर सहमति-असहमति के बिंदु भी इन कविताओं में मिलते हैं–

''सागर पार से एक घोषणा गूँजी
सुनो-सुनो यह उत्तर आधुनिक युग
अब सब कुछ का अंत हो गया है।''

लेकिन रामदरश जी अपनी कविताओं से यह यकीन दिलाते हैं कि अभी कविता का अंत नहीं हुआ है। संग्रह की कविताओं में रचना अनुभवों की प्रौढ़ता है। छंद मुक्त और छंद युक्त दोनों तरह की कविताओं में एक सधा हुआ शिल्प है।

बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में धुआँधार शहरीकरण ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बुरी तरह हिला दिया है। अफरातफरी के माहौल में आदमी भय और संशय से बुरी तरह ग्रस्त हैं। शहरीकरण की आँधी ने गाँव की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान को सबसे नुकसान पहुँचाया है। 'बेच आया हूँ घर' शीर्षक कविता में शहरीकरण से उत्पन्न संकट का गहरा अहसास है–

''आज वह घर बेच कर लौटा
तो लगा कि
मैं हमेशा के लिए गाँव से छूट गया
बाहर से इतना भरा हो कर भी
भीतर से काफी खाली हो गया हूँ
सरक गई है पैरों तले की जमीन
अब तक एक भरोसा था कि
यदि हमारी बेबुनियाद शहरी संपन्नता

किसी दिन धोखा दे गयी
तो गाँव में अपना घर तो है।''

रामदरश मिश्र ग्रामीण संवेदना के कवि हैं। उनकी काव्य-संवेदना का आधार प्रगीतात्मक है। वे आज के परिदृश्य में घर-गाँव, खेत-खलिहान की संस्कृति पर मंडराते संकटों को पहचानते हैं और उसे कविता में गहरी संवेदना के साथ व्यक्त करते हैं। उनकी कविताओं में पूर्वांचल के गाँव का जीवन है। अपनी मिट्टी की गंध है। ताख पर रखी रामचरितमानस की पोथी और तीज-त्योहारों का उल्लास है। वे अपनी सांस्कृतिक विरासत को बचाना चाहते हैं, जंगल-नदियों को सुरक्षित देखना चाहते हैं उनकी कविताओं में प्रकृति और पर्यावरण की मुखर चिंताएँ हैं।

''अभी भी आँखों को खींचते हैं
फूल-पत्ते, मौसम-ऋतुएँ
और मैं उनसे संवाद करते-करते
महकने लगता हूँ।''

इस संग्रह की कई कविताएँ संवाद शैली में लिखी गई हैं। मसलन 'भाषा', 'बाजार में माँ', 'घर में नीम', 'रूपांतर', 'रचना', 'शत्रु', आदि। इन कविताओं में बातचीत की सहजता है और एक खास तरह की नाटकीयता भी–

''कबीर की मूर्ति के सामने एक भीड़ जमा थी
हर आदमी चिल्ला रहा था
मैं हूँ वारिस कबीर का
मैं हूँ वारिस कबीर का
कबीर फक्कड़ था
अक्खड़ था
महान था
कबीर केवल एक आदमी था
न हिंदू था, न मुसलमान था
कबीर सहज का दुलीचा डाल कर
ज्ञान के हाथी पर सवार था।''

रामदरश मिश्र शहर के यांत्रिक जीवन से ऊब कर बार-बार गाँव की ओर लौटते हैं। उस आत्मीय संसार में जहाँ माता-पिता, भैया-भाभी और बच्चे हैं रिश्तों की एक भरी-पूरी दुनिया है–

''खपरैल की जगह अब पक्की छतें चमक रही हैं
कच्ची दीवारें पक्की दीवारों में बदल गयी हैं
जहाँ समाचारों की किरणें नहीं पहुँचती थीं
बिजली की जगमगाहट से नहा रहे हैं कमरे
जहाँ घर-आँगन अब
विश्व की बोलती छवियों से गूँज रहे हैं।''

इन कविताओं में लोक-जीवन की स्मृतियाँ बदले हुए संदर्भों में चित्रित हैं।

एक ओर खेतों की हरियाली तो दूसरी ओर उपभोक्ता संस्कृति की चमक है। नए और पुराने मूल्यों की टकराहट है। सुंदर-असुंदर में विकट प्रतिद्वंदिता है। कवि के सामने हर संकट एक सवाल के रूप में उपस्थित है–

''सवाल रूप बदल-बदल कर उठ रहा है
कभी घर से उठ रहा है,
कभी पड़ोस से उठ रहा है।
कभी देश से उठ रहा है, कभी विदेश से
मैं उत्तर नहीं दे पाता
लेकिन उत्तर दे पाने की बेचैनी से लहूलुहान हूँ।''

पास-पड़ोस के सवाल अब देश-विदेश के सवाल बन चुके हैं। ये भूमंडलीकरण के दौर के सवाल हैं। फिलहाल इन सवालों के जवाब किसी के पास नहीं है।

प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में आसपास के समाज की धड़कनें हैं दरवाजे पर 'खट-खट' की भाषा में आवाज देता दूधवाला, रिक्शावाला, धोबिन, डाकिया, स्कूल से लौटते बच्चे, किसी का पता पूछता कोई अजनबी, सबकी भाषा एक है। इस भाषा को समय के संदर्भ विविध अर्थ देते रहते हैं। 'विरासत : दो कविताएँ' 'बेच आया हूँ घर', 'कहाँ है मंजिल? 'माँ बाजार में', 'अभी भी', 'भाषा', 'बहुत कुछ बचा हुआ है', 'चिट्ठियाँ', 'अकेला कबीर', 'सवाल', 'इच्छा', 'शत्रु', आदि इस संग्रह की पठनीय कविताएँ हैं।

'जनसत्ता' से साभार

नारी शक्ति और वर्तमान स्थिति

–मनीषा आवले चौगांवकर

नारी शक्ति आह्वान और आराधना का प्रतीक नवरात्रि सम्पूर्ण जनमानस मु उत्साह ऊर्जा को समाहित कर जाता है। पारंपरिक मूल्य से ओतप्रोत हमारे ये त्यौहार नवरंग नवचेतना दे जाते हैं।

संपूर्ण विश्व में सत्ता/सरलता/भौतिकता/मौलिकता एवं सात्विकता प्रदान करने वाली देवताओं में सर्वोपरि आद्याशक्ति भगवती की महिमा अपरम्पार है। जहाँ एक ओर विश्वंभरी कात्यायनी भक्तवत्सला स्कंददायिनी रूप में अमोघवाणी से मोह माया से मोक्ष का पंथ प्रदान करती हैं।

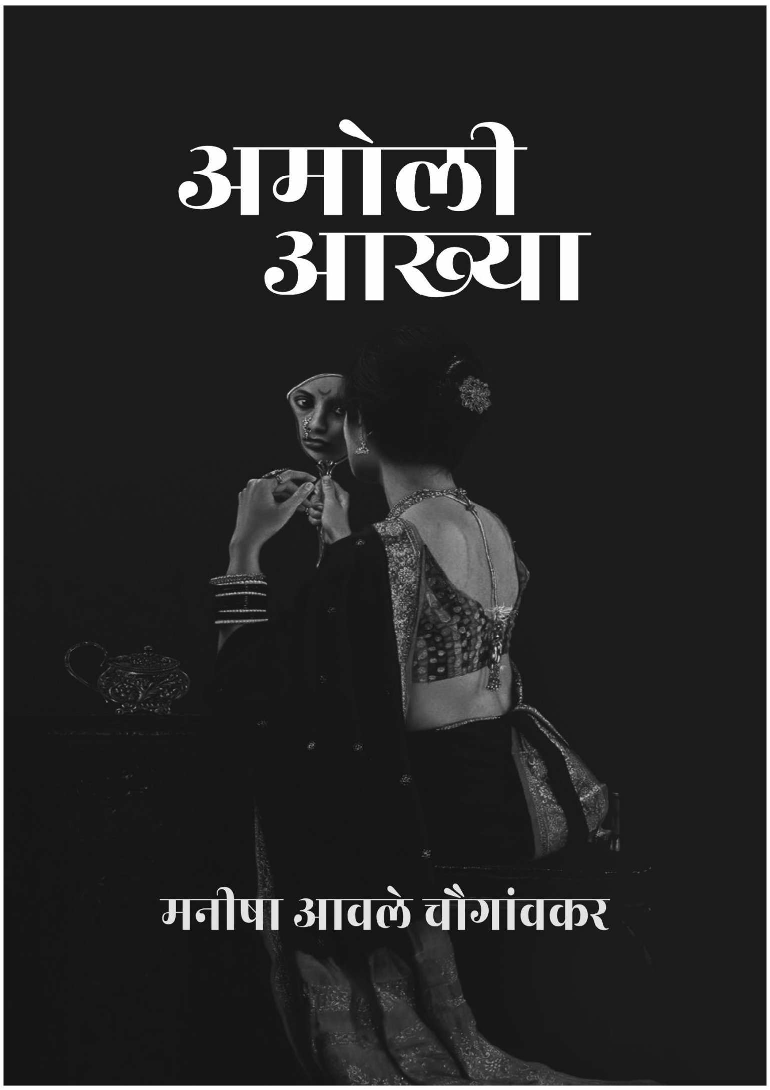

वहीं पर जगततारिणी रूप में वर प्रदान करने के लिए उन्मुक्त हस्त खड़ी रहती हैं।

मानव जाति की रक्षा हेतु जगदंबिका रूप मातृत्व भाव लिए इसी प्रकार अष्टम भुजा आठ दिशाओं में कुशल भाव का द्योतक है।

भारतीय संस्कृति में लंबे समय से स्त्री का जीवन त्यागमय तपमय निष्ठावान ही रहा है। उसकी शब्दों में ग्रंथों में मीमांसा करना अकल्पित तो है। देवी के नवरूप की उपासना उसकी देवों में महत्ता उच्च स्थान को प्रतिपादित करता है। हमारे धर्मग्रंथों में उच्चारित है।

यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवताः

स्त्री प्रकृति का अंश मानी गई है। जहाँ इनका सम्मान है वहु पर देव विचरण करते है। स्त्री के जीवन में चार रूप घटित होते है। माता पत्नी पुत्री बहिन सारे रिश्तों रंगों से परिपूर्ण नारी शक्ति मानव समाज में जीवन का अहसास उल्लास

जागृत कर देती है।

शक्ति का आगमन आज के परिप्रेक्ष्य में देखना विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है। आज के दौर मु हमारी सखियां आत्मनिर्भरता आत्मविश्वास से परिपूर्ण सौंदर्य की विशिष्ट आभार की झलक दिखाती हैं। फिर भी आज के दौर में मुसलमान अधिकार का दर्जा देने में मतभेद है। समकालीन सोच स्त्री पुरुष को समकक्ष लाने में प्रयासरत रही है।

ये प्रयोगधर्मिता स्त्री की क्षमता को कमतर आंकना जैसे है मेरा मतानुसार समाज की सोच हो सकती है कि 'स्त्री को स्त्री होने का' ट्रंपकार्ड नहीं खेलना चाहिए। पर ध्यान देने योग्य बातें है कि स्त्री की शारीरिक संरचना को लेकर कोई वास्ता नहीं होता है।

स्त्री संबंधित जिम्मेदारी जिनका आकलन अक्सर छूट जाता है। मसलन मासिक धर्म, बच्चे का पालन पोषण, मातृत्व अवकाश, घरेलू जिम्मेवारी इत्यादि।

अब यह विचारणीय प्रश्न उन लोगों के लिए जो स्त्री पुरुष समानता को थोप कर आधुनिकतावादी होने का स्वांग रचते हैं।

क्या स्त्री सचमुच वैचारिक और मानसिक स्तर पर पुरुष से कमतर या समकक्ष है। या फिर बेहतर मैनेजमेंट प्लानर है।

कार्यक्षेत्रों में जहाँ वेतनमान में असमानता है वहीं घरेलू जिम्मेवारी में बँटवारे पर मतभेद तो होते ही हैं।

निजी संस्थानों में स्थिति शोचनीय है। जहाँ बीमारी पर छुट्टी का बवंडर मचा दिया जाता है।

इतनी स्पर्धात्मकता कि हर किसी को खाली कुर्सी पर सत्तासीन होने की ललक है। आरक्षण महिलाओं को दिये जाने वाला खोखला दिलासा दिखावटी तमगा होता है। अभी भी प्रोफेशनल कमर्शियल संस्थानों में सुधारणा की गुंजाइश है। आधुनिकतावादी विचारों का समर्थन जरूर है पर उसको लागू करने या अपनाने असमंजस का भाव है।

दैनंदिन कार्यों में होने वाली परेशानी साधते हुए नारी सुपर वुमन का खिताब ले जाती है पर इन सब रस्साकशी के बीच उसका मानसिक स्वास्थ्य, स्वयं के स्वप्नों का टूटना, पारिवारिक उथल-पुथल पर कहीं भी समाधान और चर्चा का प्रावधान नहीं है।

आज के दौर मे भविष्य की अनिश्चिताओं से भरा दौर चल रहा है।

रिश्तों की सात्विकता एवं सच्चाई को बनाये रखना कठिन चुनौती हो गया है। मानवीय संवेदना संबंधों में भौतिकतावाद ज्यादा मानवीय मूल्यों का भाव कम हो चला है। वही स्त्री मानसिक संकीर्णताओं, सामाजिक स्तर पर स्वयं जूझते हुए परंम्पराओं का हिस्सा बनने का प्रयास करती है। अभिनंदन की हकदार हैं।

अंततः फिर आरंभ के विचारों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भगवती के नव रूपों की आराधना, शक्ति की घटस्थापना से यही अभिप्राय है नारी कोमंलागी जगतदात्री होने के साथ समय आने पर जगतसंहारिणी भी है। आंनद रूपा अज्ञेया स्त्री का अस्तित्व प्रकृति में परम सत्य है। फिर अस्तित्व से खिलवाड़ और नकारा क्यों समझा जाए? कलयुग में हर बार अपराजिता अन्नपूर्णा को स्वयं को साबित करने का चलन क्यों पड़ रहा है।

मैं कवि हूँ, क्या यह व्यंग्य नहीं...!

–डॉ. दामोदर खड़से

घनश्याम अग्रवाल एक बार जालना में कवि सम्मेलन के मंच पर थे और उनकी कविता में कुछ पंक्तियां उभरी, "न मैं इंडिकेट हूँ, न में सिंडिकेट हूँ, मैं तो चमड़े का एक पेट हूँ ।" कविता की इन पंक्तियों ने तत्कालीन इंडिकेट और सिंडिकेट को खूब मथा । एक विशाल मैदान पर यह कवि सम्मेलन हो रहा था और एक पहलवाननुमा नेता बौखलाया हुआ मंच की ओर बढ़ा और आँखें तरेरते हुए इस कवि को बैठाने के लिए जिरह करने लगा। मंच पर माणिक वर्मा जैसे ख्यातनाम कवि विराजमान थे। उन्होंने घोषित किया कि यदि इस कवि और कविता को रोका गया तो कवि सम्मेलन यहीं समाप्त हो जाएगा । अंततः उस नेता को समझा-बुझाकर दृश्य पटल से बाहर ले जाया गया और घनश्याम ने कविता-पाठ की अपनी पारी संयम के साथ पूरी की । घटना का तिलमात्र उल्लेख भी उन्होंने अपने बयान में नहीं किया । केवल कविता पढ़ी ।

आज के कवि-सम्मेलन के मंच पर चुटकुलेबाजी और बयानबाजी तथा येनकेन प्रकारेण श्रोताओं को हँसाने के लिए अपना सर्वस्व दांव पर लगाने वाले कवियों के बीच घनश्याम अग्रवाल अपनी स्तरीय हास्य-व्यंग्य की रचनाओं को लेकर पिछले 55 वर्षो से मंचों पर हैं। पत्र-पत्रिकाओं में उनकी छोटी-छोटी क्षणिकाएँ हमारे परिवेश को रेखांकित कर देती हैं । 'मैं व्यंग्य कवि हूँ, मैं कवि हूं, क्या यह व्यंग्य नहीं है?' जैसी कविता पाठकों को अपने समय के साथ रूबरू करवाती है ।

1977 में जब देश में आपातकाल घोषित हुआ था, उस समय कमलेश्वर 'सारिका' के संपादक थे। प्रेस की आजादी पर सेंसरशिप लादी गई थी। 'सारिका' का लघुकथा विशेषांक प्रेस में था। घनश्याम अग्रवाल की एक लघुकथा "आजादी के दुम" इस अंक में जानी थी। सेंसरशिप के चलते इस छोटी-सी लघुकथा पर जगह-जगह काली स्याही पोती गई। लेकिन इस लघुकथा ने सेंसरशिप की जकड़न को तोड़ दिया और यह अत्यंत लोकप्रिय हुई, जो आजादी के बाद देश के नेताओं का चरित्र और लालफीताशाही के कारनामों को उजागर करती है । कालांतर में कन्हैयालाल नंदन जब "सारिका" के संपादक थे तब उन्होंने हमारे देश के वर्तमान हालात पर एक जोरदार टिप्पणी लिखी थी और इस टिप्पणी के केन्द्र में घनश्याम अग्रवाल की "आजादी की दुम" थी।

घनश्याम के रचना संसार में देश का वर्तमान और आम आदमी का परिवेश बखूबी उभरकर आया है जिस बात के लिए कुछ लेखक कागज के भरपूर पन्नों में अपनी बात कहना चाहते हैं वह बात घनश्याम अपनी छोटी-सी क्षणिका में बखूबी कह जाते हैं। "डॉक्टर" शीर्षक कविता में वे कहते हैं "जांच-जांच में ही रोगी का रक्त पी लिया/ पीला चेहरा देख बोले, तुम्हें हो गया पीलिया" इस प्रकार उन्होंने अत्यंत थोड़े शब्दों में समूचा बयान बखूबी निभाया है ।

समाजवाद की 'इन्क्वायरी' पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं "पीठ के नजदीक जाकर / पूछ रहा है पेट / समाजवाद / और कितना लेट" या अपनी "रिहर्सल" कविता में कहते हैं "चलो / पहले जनता का / मांस नोचें / फिर लीडर बनने की सोचें" वर्तमान समय का कवि यदि बेकारी पर न लिखे तो शायद वह अपने समय से आँखें चुरा रहा होता है । घनश्याम ने अपने समय को भरपूर अभिव्यक्त किया है। "बेकारी" कविता में वह कहते हैं "चांद के आसपास/ जब देखता हूँ / सितारों की भीड़ / तो लगता है / एक खाली पोस्ट के लिए / आ गई हजारों एप्लिकेशन्स ।" इस प्रकार प्रकृति के इस रोमानी दृश्य में भी घनश्याम अग्रवाल का व्यंग्यकार इसे अपनी ही कोण से देखता है। घनश्याम अग्रवाल ने लंबे समय तक वाणिज्य-शास्त्र के प्राध्यापक

के रूप में कार्य किया। सेवानिवृत्त हुए और पूर्णकालिक लेखक के रूप में एक व्यंग्यकार हिन्दी को मिला। उनका व्यक्तित्व बहुत अंतर्मुखी और संकोची है। बहुत मुश्किल से वे अपने दायरे में किसी को प्रवेश देते हैं। परंतु जब कोई उनके दायरे में प्रवेश कर जाता है तो कोई भी बाहर निकलने की इच्छा ही नहीं कर सकता। इसी स्थिति के कारण कई लोग उन्हें निरपेक्ष करार देकर फेंस पर फेंक देते हैं और दुनियादारी के इस व्यवहार पर घनश्याम की एक नई व्यंग्य रचना जन्म लेती है ।

मित्रों के बीच ठहाका लगाना उनका प्रिय शौक है। किसी का भी व्यक्तित्व-चित्रण उनका पसंदीदा काम है। हास्य और व्यंग्य की चासनी में किसी व्यक्ति के गुण-दोष कुछ इस कदर हल्के-फुल्के शब्दों में व्यक्त करते हैं कि जिसके दोष बताये जा रहे हैं वह व्यक्ति भी अपने आप पर हंसने से स्वयं को रोक नहीं पाता। घनश्याम के हास्य-व्यंग्य की दूसरी खूबी यह है कि वह कभी भी किसी को भी लहूलुहान नहीं करता बल्कि हंसी-हंसी में तन-मन पर जमी अनावश्यक धूल झाड़-पोंछ कर व्यक्ति को स्वस्थ बनने का एक मौका देता है। समारोह में वे कम बोलतें हैं, परंतु उनकी कविताएं श्रोताओं के सिर पर चढ़कर बोलती हैं ।

महाराष्ट्र के एक छोटे से शहर अकोला में रहकर इस कवि ने अपनी राजस्थानी भाषा पर भरपूर सान चढ़ाई है और इतने छोटे शहर में रहकर भी उन्होंने भारत के कोने-कोने में अपनी कविताओं की गूंज उठायी है। जीवन के तमाम संघर्षो, विपरीत स्थितियों, खट्टे-मीठे प्रसंगों और कड़ुवाहट भरे वातावरण को पीकर इस कवि ने अपनी कविताओं के माध्यम से हमारे परिवेश को शब्द दिए, समझ दी। जीवन को सहज, स्वाभाविक और सरल ढंग से जीने की एक नजर दी । 80 की उम्र पार कर जाने के बाद भी बच्चों-सा अल्हड़पन, किशोरों-सा उत्साह और युवावस्था का संयमित आवेग उनके व्यक्तित्व से देखा जा सकता है । रही बात गंभीरता की तो उन्होंने अपना संपूर्ण लेखन प्रारंभ से लेकर अब तक बहुत गंभीरता से किया है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, माणिक वर्मा, काका हाथरसी जैसे हास्य-व्यंग्य के विराट व्यक्तित्व घनश्याम अग्रवाल को कदम-कदम दुलारते रहे । परंतु लेखन पर उन्होंने किसी की छाप नहीं पड़ने दी। इसलिए घनश्याम अग्रवाल आज भी अपनी मौलिक शैली के लिए जाने जाते हैं ।

घनश्याम अग्रवाल की व्यंग्य रचनाएं बहुत मारक होती हैं। चुटीली भाषा में अपने आसपास की विसंगतियों को वे इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि पाठक अपने समय के सच को अपने सामने पाता है । बड़ी सहज-सरल भाषा में उनके व्यंग्य सीधे प्रहार करते हैं।

खासकर व्यवस्था की विसंगतियां इनकी रचनाओं में विशेष गवाही देती हैं। 'एक नदी गांव और शहर में क्रॉस कर बहती है...शहर की नदी पर बना सीमेंट का पक्का पुल... गांव की नदी पर बाँस का कच्चा पुल...बाढ़ आई ख्र देखते-देखते शहर का पक्का पुल बह गया, गांव का कच्चा पुल वैसा ही रह गया... जांच की तो पता चला गांव के पुल का अब तक उद्घाटन नहीं हुआ है...!' इस तरह स्थितियों की महीन पर्तो को व्यंग्यात्मक रूप से उघाड़ कर सच्चाई, भ्रष्टाचार आदि का वे उद्घाटन करते हैं ।

नये संग्रह 'मिक्स वेजिटेबल' में चारों तरफ फैली विसंगतियों का जीवंत लेखा-जोखा है । मोटे हास्य के रूप में प्रारंभ होती बात अचानक गंभीर व्यंग्य तक पहुँच जाती है ।

'एक और ग्रहण : शपथ ग्रहण' शीर्षक ही सारी बात बयान कर जाता है । शैली इतनी चुटीली होती है कि पाठक आकर्षित होता ही है । इस शीर्षक को विस्तार देते हुए वे लिखते हैं- 'कुदरत के नियम अटल होते हैं, इसलिए आप अभी से पता लगा सकते हैं कि भविष्य में कब व कितनी देर का चंद्र-ग्रहण होगा या सूर्य-ग्रहण होगा । वह कहाँ-कहाँ, कितना-कितना और कैसे-कैसे दिखेगा पर चूंकि दिल्ली के नियम अटल

नहीं, टल होते हैं, इसलिए बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी पता नहीं लगा सकते कि शपथ-ग्रहण कब, कैसा और कहां होगा? साधारणत: शपथ-ग्रहण पाँच साल बाद होना चाहिए...पर खींच-तान में कुर्सी स्वयं गिर जाती है...फिर शपथ-ग्रहण होता है ।...ग्रहण और शपथ-ग्रहण में बहुत-सी बातें समान होती हैं ख्र जैसे दोनों ही देश के लिए घातक और अशुभ होते हैं... !' इस व्यंग्य लेख में लेखक ने राजनीति, स्वार्थ, भ्रष्टाचार, दांव-पेंच और कुर्सी के खेल का खूब बयान किया है । 'जूते' लेख में, जूते के माध्यम से व्यक्ति की हैसियत का मोल करनेवालों पर व्यंग्य है ।

'फिर लक्ष्मी भूल गई मेरे घर का रास्ता' में लक्ष्मी और सरस्वती के मिथकों के माध्यम से समाज के विभिन्न लोगों के स्वभावों को दर्शाया गया है । 'भगवान बचाए इन हमदर्दो से' बहुत छोटी-सी घटना को आधार बनाकर मनुष्य के मनोविज्ञान का विश्लेषण इसमें है। दुर्घटना का शिकार होने पर अस्पताल में हमदर्दी जतानेवाले मित्र-रिश्तेदारों को सूक्ष्मता से परखते हुए लेखक ने औपचारिकता पर करारा व्यंग्य किया है। किसी पर दु:ख-तकलीफ की मार पड़ने पर कम ही लोग होते हैं, जो सचमुच सहानुभूति और सहायता के लिए मिलने आते हैं, अधिकांश लोग औपचारिकतावश ही आते हैं । बहुत सूक्ष्म निरीक्षण से लेख सार्थक बन पड़ा है ।

'हमारा राष्ट्रीय संबोधन' लेख में घनश्याम अग्रवाल ने राजनीतिक लोगों द्वारा उपयोग किया जा रहा 'भाइयों और बहनों' के सम्बोधन को अलग-अलग रूपों में और उसके परिणामों को रेखांकित किया है । विवेकानंद का शिकागो में भाइयों और बहनों कहना सबके लिए आत्मीयता का प्रतीक बनता, लेकिन, राजनीतिज्ञों द्वारा किया गया यह सम्बोधन लेखक को राजनीति की धूर्तता व्यक्त करने का नारा लगता है । वे कहते हैं 'आजादी के बाद हमारे नेताओं ने इस पवित्र सम्बोधन की ऐसी गत कर दी है कि भाइयों और बहनों कहकर वोट तो मांग लेते हैं, पर सत्ता मिलते ही अपने भाई-बहन को छोड़ बाकी की ऐसी-तैसी करने में लग जाते हैं... अब नेताओं के मुंह से भाइयो और बहनो सुनना, माँ-बहन की गाली सुनने जैसा लगता है ।'

घनश्याम अग्रवाल ने अपने संग्रह का नाम 'मिक्स वेजिटेबल' रखा है । लेकिन इसे केवल व्यंग्य में पकाया गया है, कहीं-कहीं हास्य का तड़का दिया गया है । व्यंग्य लेखों के अलावा लघुकथाएं, व्यंग्य-कविताएं और कुछ संस्मरण इसमें दिए गए हैं । लघुकथाओं में 'दि बुलेट ट्रेन', 'क्लीन बोल्ड' समसामयिक होते हुए भी स्थायी महत्व की बातें हैं । 'अपने-अपने रामराज्य' बड़ी रोचक लघुकथा बन पड़ी है । बकरी और शेर रामराज्य में एक ही घाट पर पानी पीने की कल्पना की गई है ।

इसमें राम का रामराज, काँग्रेस का रामराज, भाजपा का रामराज और अन्य पार्टियों के रामराज में बकरी और शेर की क्या स्थिति होगी, इसका रोचक ब्यौरा दिया गया है । निष्कर्ष लेखक यह देते है कि 'सत्ता इसकी हो या उसकी / साल नया हो या पुराना / बकरी (जनता) को मरना ही है / हर हाल में / सिर्फ शेर ही 'चीयर्स' करते हैं / नये साल में ।' 'सॉरी', 'रोशनी ढोते हुए' रोचक लघुकथाएं हैं । 'टेंपररी इंटरव्यू ! मोमबत्तीवालों से' यह मध्यवर्ग की ऐसी कथा है, जो अत्याचारों पर विशेषत: महिलाओं पर होते अत्याचारों के बाद मोमबत्ती का जुलूस निकालते हैं ।

एक दिन यह करते हैं और भूल-से जाते हैं । लेखक ने अपनी व्यंग्यात्मक शैली में एक इंटरव्यू का आयोजन किया है ।... ऐसा कब तक चलेगा... का उत्तर मिलता है, 'हमेशा जब तक पीड़िता की चिता की राख ठंडी होने के पहले बलात्कारियों को सरे आम फांसी नहीं दी जाती तब तक... जब तक बलात्कारियों के साथ-साथ उन्हें भी फांसी न दी जाए, जो ऐसी घटनाओं पर राजनीति करते हैं, साम्प्रदायिकता फैलाते हैं, तब तक। जब तक सिर्फ पीड़िता के घर का ही

नहीं, उस दिन किसी भी घर का चूल्हा नहीं जलेगा, तब तक ।' 'अपने-अपने सपने' भूख और रोटी की कहानी कहती है। जिसे भूख ने पराजित कर दिया है, उसे रोटी के अलावा दूसरे सपने कहाँ से आएँगे । लघुकथा, घनश्याम अग्रवाल की अपनी मौलिक शैली में उभरी है। समाज-परिवेश की विसंगतियों को व्यंग्य में पिरोकर बहुत रोचक लघुकथाएँ इस संग्रह में प्रस्तुत की गई हैं।

इस संग्रह में घनश्याम अग्रवाल की कुछ कविताएं भी हैं । कई कविताएँ पहले तो हास्य की लगती हैं, पर उनके पीछे गहरा व्यंग्य छिपा होता है । 'व्यंग्यासन' शीर्षक से कुछ कविताएँ हैं जो योगासन से सम्बन्धित हैं ।

एक बच्चे को योग सिखाया जाता है, वह अपेक्षित आसन आसानी से कर लेता हैं, उससे पूछने पर वह कहता है। 'न तो मैंने गहरी सांस ली / न ही पेट को खींचा हूं । मैं तो तीन दिनों से भूखा हूं / पेट अपने आप अंदर चला गया है ।' 'कपालभाति' में एक अलग ही स्थिति उभरती है। 'योग दिवस पर / सामूहिक रूप से / कपालभाति हो रही है / दुनिया वाले कुछ / ऐसा ही भाँप रहे थे /... हकीकत ये थी / योग भवन हेतु / पसीने से लथपथ बोझा उठाए / फूली हुई सांसों से / मजदूर हाँफ रहे थे ।' ऐसे ही 'शवासन', 'शीर्षासन' और 'अनुलोम-विलोम' के चित्र उभरते हैं । 'पर्यावरण के तले' शीर्षक से तीन कविताएँ हैं, जो प्रदूषण के लिए जिम्मेदार तत्वों को रेखांकित करती हैं । 'बिन पानी सब सून', छोटी-छोटी व्यंग्यात्मक कविताओं में बड़ी-बड़ी बातें कही गई हैं ।

'दिल से दिल्ली तक' कई छोटी-छोटी कविताओं का समूह है । बहुत तीखे व्यंग्य से भरी है ये कविताएं। 'हमने/ अंधेरे में / कई घर जलाए / मगर / रोशनी / कहाँ ढूंढ़ पाये?' 'भ्रष्टाचार के सात सत्य' शीर्षक से लिखी कविताएँ समाज को झकझोर देती हैं । कवि के रूप में घनश्याम अग्रवाल छोटी कविताओं में एक आईना दिखाते हैं, जिसमें अपना चेहरा देख लोग सिहर उठते हैं । एक क्षणिका में वे कहते हैं, 'दुनिया में जब / एक आदमी भी / भूखा सोता है / तो भर-पेट खाने वाले / हम-तुम-सब / एक रात के लिए / आतंकवादी होते हैं ।' घनश्याम के व्यंग्य में केवल स्थितियों का विश्लेषण नहीं होता, बल्कि जीवित समाज इसमें से बेहतरी के लिए समाधान भी पा सकता है । अपनी एक कविता में 'सजा' और 'न्याय' सुनाते हुए वे लिखते हैं।

ये नेता हैं
इसने दंगे बोये
इसे दस कोड़ों की सजा दी जाती है !
ये धर्मगुरु है
इसने दंगे फैलाए
इसे बीस कोड़ों की सजा दी जाती है,
ये लेखक है
इसके होते हुए दंगों का माहौल बना,
इसे सौ कोड़ों की सजा दी जाती है !...

घनश्याम अग्रवाल हिन्दी साहित्य का एक चर्चित नाम है ।

अपनी कविताओं और व्यंग्य रचनाओं से हिन्दी साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाले घनश्याम अग्रवाल को पिछले दिनों राजस्थानी विकास मंच संस्थान द्वारा डी. आर. लिट. उपाधि से सम्मानित किया गया। इससे पूर्व 1996 में राष्ट्रपति भवन में आयोजित एक विशेष समारोह में तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने 'काका हाथरसी हास्य व्यंग्य पुरस्कार' से उन्हें अलंकृत किया । इन दिनों वे टी.वी. सीरियलों के लेखन में व्यस्त हैं और कवि सम्मेलन के मंचों पर सक्रिय हैं ।

हिन्दी व्यंग्य में लेखन और समसामयिकता के आदर्श प्रश्न

–जवाहर चौधरी

लेखन को लेकर इनदिनों माहौल वैसा नहीं है जैसा तीनेक दशक पहले हुआ करता था । स्कूल कॉलेज में आर्ट्स के विषय पढ़े-पढ़ाए जाते थे, मसलन हिन्दी-अंग्रेजी साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र वगैरह ।

पढ़ने वालों का पुस्तकालय में जाना आदत थी और चस्का लग जाने की हद तक पुस्तकें चाटी जाती थी। लड़के-लड़कियों में एक संस्कारगत दूरी थी, सो कविता-कहानी आदि से लगे रहने का रिवाज आम था। पतलून पर खादी का कुर्ता, कुछ बढ़ी दाढ़ी, सावधानी पूर्वक बिखरे बाल, मोटी फ्रेम का बच्चनी चश्मा, सिगरेट और कॉफी हाउस की बैठकें जीवन का हिस्सा हो जाती थी । 'क्या पढ़ रहे हो इनदिनों ?' जैसे सवाल फैशन की तरह थे जिन्हें सुन कर छाती चौड़ी हो जाया करती थी। लिखने वालों का तो कहना ही क्या! प्रायः हर नया लिक्खू कविता से शुरुवात करता और तब तक उस पर टिका रहता जब तक कि आखरी श्रोता का शिकार नहीं कर लेता ।

इस दौरान कुछ लिक्खू स्टूडियो में खींचे गए लिखने की मुद्रा वाले फोटो दीवार पर टांग चुकते, कुछ लोग कोहनी के नीचे दो-चार किताब दबाए, हाथ में कलम लिए, चश्में में से आसमान ताकती मुद्रा से अपनी अलग धाक जमाते । अच्छा लिखने वालों को, यानी जो यहाँ-वहाँ छपने लगे हों, जिनकी एक-दो किताब छप गई हो, वे लोगों की नजरों में चढ़ जाते थे। कुल मिला कर लेखक की एक रोमांटिक किस्म की छवि हुआ करती थी जिसमें घुसने या फिट बैठने के लिए सौ जतन किए जाते । बाद में शोधकर्ताओं ने माना कि ज्यादातर सफल लेखक इसी तरह के खेत की उर्वरा भूमि की पैदाइश हैं। लेकिन दसेक साल से लेखकीय रुतबे की रेल पटरी से उतर गई लगती है । हालाँकि लिक्खुओं की संख्या बढ़ी है, लेखन में भी जमीनें टूटी हैं, नए मुकाम और मिसालें बनी हैं । पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी है और मौके भी खूब मिले हैं । किताबों की छपाई का तो हाल एकदम चौंकाने वाला है । हर शहर में पाँच-दस लेखक मिल जाएँगे जो तीस-चालीस किताबों के जन्मदाता है । पूछने पर पता चलता है कि चार किताबें अभी आने वाली हैं और दो लिखी जा रहीं हैं। प्रकाशक के पास जाओ तो पता चलता है कि वह छाप-छाप कर मरा जा रहा है । आगंतुक बताता है कि वह कवि है तो बस तौबा ।

कहानी-उपन्यास वालों से वह बात कर लेता है और छाप भी देता है। लेकिन व्यंग्य के लिए वह लगभग आग्रही होता है। व्यंग्य की किताब अभी बिकती है। पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य की उपस्थिति अनिवार्य सी मानी जाती है।

लेकिन इससे कुछ गड़बड़ियां भी पैदा हुई हैं । जैसे आमंत्रित अतिथि का पास छाती पर लगाए तमाम 'अनामंत्रित' अंदर घुस आते हैं, वैसे ही लिफाफे पर 'व्यंग्य' लिखे, बीमार, कमजोर शब्दों को ढ़ोते कागज कागज अंदर आ जाते हैं और कालमों में जगह भी ले लेते हैं। इससे व्यंग्य की दुगर्ति खूब हुई है । तमाम कूड़ा-कचरा व्यंग्य के नाम पर छप जाता है । कई बार तो यह समझ में नहीं आता कि व्यंग्य कहें किसको ! लोग मानने लगे हैं कि किसी के नाम लानत-मलामत लिख भेजो, वही हो गया व्यंग्य । किसी की बेइज्जती में दो-तीन पेज रंग दो और अखबार को भेज दो, व्यंग्य हो जाएगा । हालॉकि यह सही है कि अच्छा लेखन तमाम बुरे और रद्दी लेखन के बीच में से ही निकलता है ।

व्यंग्य अपने स्वभाव से वक्र या टेढ़ा होता है, तिर्यक। विसंगति या विडंबना व्यंग्य का बीज तत्व है । व्यंग्य को विधा, शैली या स्पिरिट मानने न मानने वालों के बीच रस्साकशी हो सकती है लेकिन यह बहुत साफ लगता है कि हर विषय पर व्यंग्य नहीं लिखा जा सकता है । व्यंग्य में समाज की विकृति को प्रतिबिम्बित होना चाहिए ।

यह भी जरूरी हो कि व्यंग्यकार उस विकृति के प्रति शिकायती या आक्रोशित भी हो । चार बेटों का बाप, जिसके मन में तमाम लड्डू फूट रहे हों, दहेज के खिलाफ सार्थक कैसे लिख सकता है ! विकृति को समाप्त करने या सुधार करने की मंशा उसमें होनी चाहिए। यदि वह एक मदारी की तरह विकृति को बंदरिया जैसा नचा कर अपना काम निकाल रहा है तो उससे सहमत नहीं हुआ जा सकता है । व्यंग्यकार मदारी नहीं है और न ही विकृतियों को बंदरिया की तरह नचाया जा सकता है।

तात्पर्य यह कि व्यंग्य को मनोरंजन, या मनोरंजन को व्यंग्य कहना-समझना उचित नहीं होगा । यहीं हास्य और व्यंग्य के अंतर को भी समझा जा सकता है। व्यंग्य नि:संदेह एक गंभीर कर्म है और इसका उद्देश्य एक जिम्मेदारी के निर्वहन के रूप में दिखाई देता है । इसी तरह व्यंग्य को मात्र साहित्य समझना भी ठीक नहीं है जिससे कोई भाषा या संस्कृति समृद्ध होती है, और हम उस पर गर्व करते हैं । यह लगभग पत्रकारिता की तरह समाज के अंदर से उठता है और उपयोगिता बनी रहने तक समाज में सक्रिय रहता है । जिस तरह मछली गंदगी साफ करते हुए पानी में सक्रिय बनी रहती है उसी तरह व्यंग्य को भी समझा जाना चाहिए।

अक्सर लेखकों को किसी वाद या विचारधारा से प्रतिबद्ध माना जाता है। अनेक व्यंग्यकारों को प्रतिबद्ध मानते हुए देखा गया, परसाईजी का नाम तो खासतौर पर लिया जाता है। यहाँ यह बात समझने की है कि व्यंग्यकार की प्रतिबद्धता अलग किस्म की होती है । वह प्रतिबद्ध है विकृतियों को उघाड़ने के लिए, वह प्रतिबद्ध है विसंगतियों को मंच पर लाकर पीटने के लिए, वह प्रतिबद्ध है सामाजिक सुधार और मानवीय मूल्यों की पैरवी के लिए । यदि व्यक्ति में उक्त प्रतिबद्धताएँ नहीं हैं तो वह लेखक हो सकता है, व्यंग्यकार नहीं ।

हमारी समाज-व्यवस्था में जहाँ अनेक जातियाँ, धर्म, मत-मान्यताएँ, ऊँच-नीच आदि जैसे अनेक विचार काम करते हैं और व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, वहाँ व्यंग्यकार का पैदा होना एक घटना है ।

व्यंग्यकार एक तटस्थ व्यक्ति होता है । यदि कोई किसी के पक्ष में है तो वह न्याय नहीं कर सकता । न्याय के लिए व्यंग्यकार को निष्पक्ष होने का जोखिम उठाना पड़ता है। जिसके गले में किसी के पक्ष का पट्टा पड़ा हो उसे अपने मालिक की वफादारी में दूसरों पर

भौंकने या गुर्राने का काम करना होता है । यद्यपि व्यंग्यकार भी चौकीदार की जिम्मेदार भूमिका में होता है, लेकिन उसकी लाठी सिर्फ चोरों के खिलाफ होना बहुत जरूरी है, चाहे वे उसके कितने ही अपने क्यों न हों ।

वह केवल पीड़ितों का प्रवक्ता होता है, फीस लेकर अपराधियों का वकील कतई नहीं । दरअस्ल वह समाज में इस तरह से एकरस होता है कि वह पीड़ितों से अलग नहीं, पीड़ितों में से एक ही होता है । जब वह शिकायती होता है तो वह शिकायत उसकी अपनी भी होती है ।

यही पर हमें समसामयिकता के प्रश्न को भी देख लेना चाहिए । अनेक व्यंग्य रचनाओं में इतिहास, पुराण, लोक-कथाओं, कथाओं आदि का प्रयोग हम देखते हैं । बात को कहने के लिए प्राय: इनका चुनाव किया जाता है । इसलिए भी इनका प्रयोग होता है कि ये हमारे सामाजिक मूल्यों, व्यवस्था, मान्यताओं और विश्वासों की जड़ों में होते हैं । यदि कोई विचारक या लेखक किन्हीं भी कारणों से परिवर्तन चाहता है तो उसे अपने कथन के बीच इन्हें चर्चा में रखना होगा । पुराने का खण्डन करने के लिए उसे व्याख्या में लेना आवश्यक होता है । व्यंग्यकार की जिम्मेदारी वर्तमान समाज से होती है । इस मायने में व्यंग्य रचनाएँ समसामयिक ही होती हैं । समाज एक गतिशील अवधारणा अवश्य है, किन्तु उसमें गति इतनी तीव्र नहीं होती है कि चीजें कैलेन्डर के पन्नों की तरह बदल जाएँ।

उदाहरण के लिए दहेज, भ्रष्टाचार, पाखण्ड, भ्रम, अंधविश्वास आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो युगों तक बनी रहती हैं और उनसे लगातार संघर्ष करने की जरूरत पड़ती है । व्यंग्य के लिए विसंगतियाँ जब तक बनी रहती हैं, तब तक सामयिक हैं । लेकिन ऐसे भी विषय हैं जो समसामयिक हैं किन्तु अल्पजीवी होते हैं, लगभग घटनाओं की तरह । पत्रकार उस पर खबर लिखते हैं और लेखक व्यंग्य भी । समसामयिकता की जो दरकार पत्रकार के लिए है, कई बार वैसी व्यंग्यकार के लिए भी दिखाई देती है । पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य कालमों की अनिवार्यता के पीछे यह भी एक कारण है। घटना को खबर से अलग तरह से पढ़ना पाठक को अच्छा लगता है । यह बात भिन्न है कि इस तरह के लेखन का अपना जीवन बहुत कम होता है ।

पिछले दशकों में राजनीतिक घटनाएँ जिस तेजी से और जिस मूल्यहीनता के साथ घटित होती रही हैं और जिस तरह उसका अपराधीकरण हुआ है उसने व्यंग्य की समकालीनता के लिए नई खिड़की खोल दी है । लोग राजनीतिक पतन पर कुपित हैं और अपना आक्रोश व्यक्त करने का माध्यम खोजते हैं । राजनीति के इस गिरते स्तर पर लगातार थूकते चलने की उनकी मंशा कई बार व्यंग्य में पूरी होती दिखाई देती है । इसलिए आज का समकालीन व्यंग्य प्राय: राजनीतिक व्यंग्य होता है ।

व्यंग्य में वक्रता होती है, टेढ़ापन होता है, लेकिन दुर्भाग्यवश वे लोग व्यंग्य का मजा लेते दिखाई देने लगे हैं जिन पर व्यंग्य कसा जा रहा है । यही वजह है कि जब टेढ़े-तिरछेपन से बात नहीं बन रही है तो व्यंग्य प्रतिक्रियामूलक, यानी सीधा-सीधा वार करने वाला होने लगा है । मूल्यहीन आचरण का मर्दन करने के लिए व्यंग्य की भाषा कठोर और कभी कभी हिंसक दिखाई देती है । दरअसल अपनी जरूरत के अनुसार व्यंग्य की भाषा प्रभावी आकार ग्रहण कर लेती है । किन्तु व्यंग्यकार के लिए ध्यान रखने वाली बात यह है कि समकालीनता से वह चिंगारी का काम ले, उससे आग जलाए, लेकिन इस विचार पर टिका रहे कि अंतत: व्यंग्य उन मूल्यों का पक्षधर है जिससे दुनिया रहने लायक बनी रह सकती है।

संवाद

मैंने अपने आँगन में कच्ची जमीन छोड़ रखी है

–ओम निश्चल से बातचीत

दयावती मोदी कवि-शेखर सम्मान से सम्मानित रामदरश मिश्र कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबंध, संस्मरण, यात्रावृत्त के ऐसे जीवंत हस्ताक्षर हैं, जिन्हें आलोचकों से कहीं ज्यादा साहित्य के संस्कारवान् पाठकों की सराहना मिली है। गोरखपुर के डुमरी गाँव में 15 अगस्त, 1924 को जन्मे रामदरश मिश्र के समग्र साहित्य में मानव मुक्ति की गहरी अनुगूँज सुनाई देती है। काशी के साहित्यिक माहौल में विकसित और अहमदाबाद तथा दिल्ली जैसे बड़े नगरों में पल्लवित रामदरश मिश्र का लेखन सन् 45 के आसपास गीत विधा से शुरू होकर आज साहित्य की अनेक विधाओं तक इस तरह व्यापक हो उठा है कि उनकी साहित्यिक शख्सियत की पहचान को किसी एक विधा से सीमाबद्ध कर देखना कठिन है। 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' तथा 'दूसरा घर' जैसे लोकप्रिय उपन्यासों के जनक रामदरश मिश्र को जिस विधा ने सबसे ज्यादा लेखकीय तोष दिया है–वह कविता है। कहने की जरूरत नहीं कि रामदरश मिश्र के उपन्यासों और कहानियों में जहाँ गँवई, कस्बाई तथा महानगरीय जीवनानुभवों की व्यापक उपस्थिति मिलती है, वहीं उनकी कविताओं में समकालीन कविता की कलावादी भंगिमाओं और श्लिष्ट शाब्दिक उपस्थापनाओं से लगा एक सादा संसार, किंतु उनकी संरचना में प्रगीतात्मकता और भावात्मक प्रतिक्रियाओं का एक सघन स्थापत्य दिखाई पड़ता है। दशकों से दिल्ली जैसे महानगर में रह रहे उनके रचनाकार को आज भी न तो गाँव भूला है और न वे ही गाँव को भुला सके हैं। उनकी रचनाएँ, सच पूछिए तो शहर और गाँव के अंदरूनी हालात और जीवनानुभवों के अंतर्द्वंद्व से भीगी हैं, क्योंकि उनके नागरिक मन के भीतर गाँव आज भी बसा हुआ है। 'पानी के प्राचीर' से लेकर अब तक के नवीनतम उपन्यास बीस बरस तक में गाँव उनके जेहन से तिरोहित नहीं हुआ बल्कि दिल्ली पर प्रस्तावित उनके आगामी उपन्यास में भी गाँव की धमक सुनाई देगी, ऐसी आशा है।

मानवीय मूल्यों को बचाए रखने की चिंता और वर्तमान से मुठभेड़ करते उनके गँवई मन-मिजाज को कभी 'प्रतिबद्धता', 'मार्क्सवाद', 'जनवाद' तथा किसी भी विचारवाद की तयशुदा सैद्धांतिकी रास नहीं आई तथापि वे सदैव मनुष्य के पक्ष में अपनी आवाज बुलंद करते रहे। उनकी कविताओं को एक समय 'चुसे हुए शब्दों का विराट मलबा' तक कहा गया किंतु असहिष्णुता से भरी आलोचना के इस दौर में भी वे सतत् कार्यरत रहे और उन्होंने अपने निरंतर लेखन से यह सिद्ध किया कि साहित्य-रचना उनके प्राध्यापकीय पांडित्य को प्रमाणित करने का आपद्धर्म नहीं है बल्कि वह समाज से गहरे सरोकार रखने वाले व्यक्ति का एकमात्र जीवनोद्देश्य है। आलोचना के अलावा नौ कविता-संग्रहों, ग्यारह उपन्यासों, आठ कहानी-संग्रहों तथा ललित निबंध, आत्मकथा, यात्रावृत्त की अनेक रम्य कृतियों के सहृदय लेखक रामदरश मिश्र को 'दयावती मोदी कवि-शेखर सम्मान' की बधाई देने के अवसर पर

उनसे हुई विस्तृत बातचीत से एक बार फिर यह लगा कि उम्र की पचहत्तरवीं पायदान पर पहुँच चुके रामदरश जी के भीतर अभी भी किसी युवा कवि जैसी उत्कट कवि चेतना सक्रिय है तथा अभी भी काफी कुछ लिखने की योजनाएँ उनके भीतर घुमड़ती रहती हैं। प्रस्तुत है यह पूरी बातचीत :

डॉक्टर साहब, आप इतने परिमाणमूलक और वैविध्यपूर्ण रचना-संसार के जनक हैं, जिसे लिखने के लिए प्रभूत समय, स्वतंत्रता और कठिन उद्यम चाहिए। इसके लिए आपने अपनी दिनचर्या को किस तरह साधा और संयमित किया है?

देखिए, मैंने किसी योजनाबद्ध रूप में काम नहीं किया। हुआ यों कि मेरा जो मन है वह मूलतः एक लेखक का मन है, वह लिखने-पढ़ने में रमा रहता है और लिखने के लिए मेरे पास जिंदगी के बहुत से अनुभव हैं, अनुभव अर्जित भी होते रहते हैं, आसपास अनेक समस्याएँ खड़ी होती रहती हैं, तो यदि आदमी का लिखने का मन हो और लिखने के लिए उसके पास पर्याप्त वस्तु हो, तो वह किसी न किसी रूप में लिख ही लेता है। मेरे लिए एक अच्छी बात यह थी कि मैं एक प्राध्यापक रहा हूँ और इस व्यवसाय में अवकाश खूब मिलता है, छुट्टी बहुत मिलती है। अब इस छुट्टी का उपयोग आप कैसे करते हैं, यह आपके ऊपर मुनहसर है। चूँकि मैं लेखक रहा, लिखना चाहता रहा, लिखना मेरी प्राथमिकता थी तो मैं उस छुट्टी का उपयोग लिखने में करता रहा- पढ़ने में करता रहा। मैं बहुत तेजी के साथ नहीं चला। जितना भी लिखा वह संभव इसलिए हुआ कि धीरे-धीरे लिखने के बावजूद मैं लगातार लिखता रहा और यह बात भी स्पष्ट कर दूँ कि मैं रोज लिखता भी नहीं था जिस दिन मेरी क्लास होती थी, उस दिन मैं नहीं लिखता था क्योंकि मैं लिखता हूँ सुबह। सुबह यानी 4 बजे 5 बजे नहीं। सुबह का जो पहला काम होता है मेरा, वह लेखन का होता है। अगर मेरी क्लास नौ बजे या दस बजे की है तो वह क्लास मेरे सिर पर चढ़ी होती थी। मैं सुबह निश्चित नहीं हो पाता था। जब पूरा दिन मेरे सामने पड़ा हुआ हो तो मैं सुबह निश्चित भाव से लिखता हूँ, भले ही मैं आध घंटा लिखूँ एक घंटा लिखूँ। तो, इस व्यवसाय में ऐसा समय भी काफी होता है। कभी तंज न लिखने के बावजूद लिखने वाले दिन मुझे काफी मिलते गए और सबसे बड़ी बात यह थी ओम जी कि अवकाश को अपने लेखन के लिए ही इस्तेमाल करते, उसकी छूट मेरी पत्नी सरस्वती जी ने मुझे दे रखी थी। घर की सारी जिम्मेदारी उन्होंने रख ली थी और मुझे यह पता नहीं कि सब्जी किस भाव आती है, अन्य चीजें कितने की आती हैं। इन सारी चिंताओं से मैं मुक्त रहा। इसलिए आहिस्ता-आहिस्ता लिखने के बावजूद मैं इतना कुछ लिख पाया।

आखिर, डॉक्टर साहब, आप अपने समय के अनेक आलोचकों के समकालीन रहे हैं। ऐसा किसी आलोचक में आपको दिखाई पड़ा कि जिसके ऑब्जर्वेशंस में आपने कोई सीख ली हो या आपको लगा हो कि उसके ऑब्जर्वेशंस बहुत आधुनिक हैं और वे वास्तव में आलोचना के मान-मूल्यों के अनुसार किए गए हैं?

जी, मुझे अपने संदर्भ में तो ऐसा नहीं लगता है कि किसी ने मुझे कुछ दिया है, किसी से मैंने कुछ सीखा है। एक बहुत छोटी-सी बात छोटे-से क्षण की बात मैं आपको बता रहा हूँ। वह मेरे लिए एक बड़ी सीख थी। देखिए, बड़े सहज भाव से बात कही गई थी और मुझे लगा कि बहुत अच्छी बात थी। मेरे शुरू के गीतों में काफी कुछ... हुआ करता था। एक बार

मैं और विजयदेव नारायण साही जा रहे थे, कवि सम्मेलन में कहीं रास्ते में रूक गए। उन्हें मैंने एक गीत सुनाया। उस गीत में सुबह भी थी, शाम भी थी, वे स्थान था, वो स्थान था आदि-आदि। उन्होंने कहा, ''मिश्र जी, एक बात कहूँ आगे कि सीट जो है वह आत्मानुभव से, क्षण से फूटता है, और आप उस गीत में किसी एक सीट पर होते हैं। अब इस गीत में शाम भी आ रही है और सुबह भी आ रही है या यह जगह भी आ रही है, वह जगह भी आ रही है तो आप कहाँ हैं, जिस जगह हैं, कहाँ खड़े होकर देख रहे हैं? होना यह चाहिए कि एक बिंदु पर, जहाँ आप खड़े हैं, उसके आगे वाली सभी चीजें गीत में आएँ।'' उस वक्त तो मुझे झटका-सा लगा क्योंकि वो गीत में सुन रहा था, वह मेरा बड़ा प्रिय गीत था। किंतु बाद में मुझे लगा, उन्होंने बहुत अच्छी बात कहीं है और उसी दिन से मैंने अपने गीतों को फिर सँभाला। तो काम की बात हो, बहुत अच्छी बात हो तो वह आपको सँभाल लेती है, राजनीति के तहत अगर आलोचनाएँ होती हैं तो वे कुछ देती नहीं हैं। इसीलिए जरूरत जी बार-बार कहा करते थे "मुझे आलोचकों ने कुछ नहीं दिया, मुझे पाठकों ने दिया हैं। पाठकों ने जो भी सुझाव दिया तो मैंने उसको माना। आलोचकों ने जब भी कुछ सुझाव दिया में झल्ला पड़ा और समझ गया कि ये पूर्वग्रह से कुछ कह रहे हैं।'' यह बात नहीं है कि मुझे आलोचकों ने कुछ नहीं दिया है। हाँ, जब भी पाठक ने सुझाव दिया वो मुझे लगा की वह सही बात कह रहा है और उस पर मैंने विचार किया। इस बात में कई उदाहरण दे सकता हूँ मैं।

हर युग में कविता का काम मानव को वृहत्तर मूल्यों की ओर अनुप्रेरित करता रहा है। आपने अपनी कविताओं के जरिए और समग्रतः अपने साहित्य के जरिए समाज को क्या संदेश देना चाहा है?

देखिए, मेरी कोशिश यही रही है कि लोगों को मैं यह महसूस कराऊँ कि यह जीवन जीने के लायक है और खासतौर से तब जबकि मूल्यों का इतना पतन हो गया है, हो रहा है। मूल्यों के पतन को रेखांकित करके साहित्य में, कला में मूल्यों की उपस्थिति के लिए की गई कोशिशों को एक रोमांटिक अंदाज माना जा रहा है। ऐसी स्थिति में किसी भी लेखक की चिंता होती है कि समाज बचा रहे, मनुष्यता बची रहे। समाज और मनुष्यता तब बचेगी. जबकि उसके मूलभूत मूल्य बचे रहेंगे। तो मेरी चिंता लगातार यही रही है कि जो मनुष्य के मूलभूत मूल्य हैं, वे कहीं न कहीं से दिखाए जाएँ। जो लोग यह मानते हैं कि मूल्य खत्म हो गए हैं, इसलिए मूल्यों की बात करना एक रोमांटिक बात करना है—मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मैं अब भी मानता हूँ कि मूल्य जिस दिन खत्म हो जाएँगे, उस दिन हम आप बैठकर बातचीत नहीं करेंगे, हमारे सरोकार खत्म हो जाएँगे, न तो समाज होगा, न साहित्य रहेगा। और साहित्य होता ही इसलिए है कि समाज रहे और समाज रहे इसके लिए उसके मूल्यों को रेखांकित करना होता है। मैं अटूट भाव से यह स्वीकार करता हूँ कि आदमी के जो मूल्य हैं, जब तक वे बचे रहेंगे, तब तक वो बचा रहेगा और समाज बचा रहेगा। अब यह बात दूसरी है कि मूल्य बदलते हैं, मूल्य के स्थान बदलते हैं। अगर आप मूल्य को खोजेंगे ऊँचे-ऊँचे लोगों के संस्कारों में, तो नहीं दिखाई पड़ेगा। सारे के सारे ऊँचे नेता लोग, ऊँचे पूँजीपति लोग, ऊँचे शिक्षाशास्त्री लोग, यहाँ तक कि ऊँचे-ऊँचे अंतर्राष्ट्रीय महर्षि लोग मूल्य-शून्य हैं, उनमें मूल्य नहीं बचा है, केवल मूल्यों का प्रवचन

बचा हुआ है वहाँ पर। लेकिन जो आम आदमी है, सामान्य आदमी है, जो नहीं जानता कि मूल्य क्या चीज है, अभी संबंध वहाँ बचे हुए हैं, प्यार, करुणा और सहानुभूति बची हुई है। आप अगर आँख खोलकर चलिए तो रोज-रोज इसका अनुभव करेंगे। ऊपर से लगता है कि कुछ बचा नहीं है, सारा का सारा अंधकार है। लेकिन नहीं, अंधकार में आगे बढ़िए तो लगेगा, यहाँ मूल्यों के कण चमक रहे हैं और लेखक का काम यह होता है कि उन मूल्यों के कणों को बटोरे और सामने लाकर यह दिखाए कि नहीं साहब, जिंदगी अभी बची हुई है और बची रहे, यही हमारी कामना है। अपने हर लेखन में मैं कोशिश करता हूँ कि यह विश्वास कहीं उभरे, कहीं शक्ति पाए। चाहे मैं निगेटिव रूप से बात कर रहा हूँ, चाहे पॉजिटिव रूप से लेकिन मेरा उद्देश्य यह होता है कि जिंदगी का सौंदर्य कहीं रेखांकित हो।

डॉक्टर साहब, आप एक दृष्टिवान कवि हैं, मूल्यवत्त की दृष्टि से कविता में सतत सक्रिय हैं। आपकी दृष्टि में एक आदर्श कविता का स्वरूप कैसा होना चाहिए आज की कविता के विशेष संदर्भ में?

देखिए, मैं या मेरे जैसे लोग यह मानते हैं कि कविता सहज हो। सहज का अर्थ सरल नहीं होता है। सहज का मतलब होता है जो कृत्रिम न हो, बनावटी न हो। आप जो बात कह रहे हैं, वह बात आप अपने पूरे अनुभव से कह रहे हैं, पूरे विश्वास से कह रहे हैं, अपने भीतर उतारकर कह रहे हैं। वह बात लोगों तक पहुँचे, यह चिंता भी आपको होनी चाहिए। एक कवि की, साहित्यकार की चिंता यह होती है कि जो वह कह रहा है वह केवल 'एक्सप्रेशन' ही नहीं है, वह 'इंप्रेशन' भी है, वह 'संप्रेषण' भी है, तो उसे चिंता होती है कि इस सहज बात को पूरी कलात्मक शर्तों का निर्वाह करते हुए इस ढंग से कहा जाए कि अधिक से अधिक लोगों तक वह पहुँचे। चाहे अनुभव की बात हो और चाहे उस अनुभव को सहज रूप से व्यक्त करने की बात हो. सबके अपने-अपने ढंग होते हैं। उसका कोई एक बना-बनाया प्रतिमान नहीं होता है। आज की कविता में राजेश जोशी मुझे प्रिय हैं, उनका अपना एक अलग रंग है और कुमार अंबुज की कविताएँ पढ़ रहा हूँ, उनका रंग अलग है। लेकिन लगते ये सहज हैं। जो अनुभव कर रहे हैं, जो सोच रहे हैं उसको अकृत्रिम रूप में हमारे सामने कह रहे हैं और उसके लिए वे अपने आसपास के मुहावरे से अभिव्यक्ति खींच रहे हैं। तो वह कविता, जो अपने कथ्य में और अभिव्यक्ति में अकृत्रिम हो, सहज हो, वह मुझे प्रिय लगती है।

आपको मैं एक घटना सुनाऊँ। फिराक साहब का इंटरव्यू हो रहा था। सात-आठ आदमी उनके साथ इंटरव्यू कर रहे थे। वे अकेले जूझ रहे थे। किसी ने पूछा—''फिराक साहब, आपसे पूछा जाए कि विश्व का महान् काव्य-ग्रंथ कौन-सा है तो आप क्या कहेंगे?'' उन्होंने कहा, 'रामचरितमानस'। उन्होंने कहा कि ''यह बहुत सहज ग्रंथ है और सहज लिखना बहुत कठिन होता है और ये सारे भक्त कवि बड़े सहज थे।'' तो आप यह मानें कि ये सरल तो नहीं थे, बड़े सघन कवि थे। चाहे वे बच्चों की बात कह रहे हों, चाहे किसी की बात कह रहे हों, उसको पूरी जटिलता के साथ उभारते थे, उन तमाम चीजों के अंतर्विरोध को समझते हुए उसको उभारते थे। फिर भी वे हमारी समझ में आते हैं। मैं मानता हूँ कि कविता हो या कोई भी अन्य रचना, वह ऐसी हो जो कि अपनी पूरी कलात्मक क्षमता के बावजूद अधिक से

अधिक लोगों तक पहुँचे और अधिक से अधिक लोगों को यह लगे कि यह उनकी बात है। आपका अनुभव कैसा है, आपकी अभिव्यक्ति कैसी है, यह अलग बात है।

जाहिर है, कविता सबकी समान नहीं होती, अनेकता में एकता और एकता में अनेकता यहाँ भी होगी। फिर भी कोई ऐसी चीज है जो बताती है कि यह भी कविता है। कविता तुलसी की भी है, कबीर की भी है, कविता निराला की भी है, कविता प्रसाद की भी है. कविता छंद वाली भी है. कविता गद्य छंद वाली भी है, कविता गीत भी है। सभी कविताएँ हैं–क्यों हैं? लगता है जैसे कविता की जो प्रकृति है जो हमारी चेतना में धँसी हुई है, वह दिखाई देती है। हम उसे परिभाषित नहीं कर पाते कि क्यों कविता है? लेकिन लगता है कि यह कविता है। लगता है कि यह गद्य है। इस तरह कविता की एक बुनियादी प्रकृति होती है जो तरह-तरह के विभेद के बावजूद कहीं एक होती है और इस बुनियादी एकता के बावजूद हर कवि का अपना रंग होता है। यदि आपकी निजता नहीं होगी तो लगेगा कि आप एक ही बात को दुहरा रहे हैं। आप उस दौर से गुजरे हैं। आपको भी यह अनुभव हुआ होगा (यह बात पढ़ी भी होगी) कि लगता है कि एक ही कविता सारे कवि लिख रहे हैं। पर आज जो कविताएँ लिखी जा रही हैं, ऐसा आप नहीं कह सकते हैं। हर कवि की कविता का अलग-अलग रंग है। श्नई कविताश में आपने देखा कि यह भरते हैं, यह अज्ञेय हैं, यह निराला हैं, यह मुक्तिबोध हैं, यह शमशेर हैं–सबका अपना रंग था। छायावाद में प्रसाद प्रसाद हैं, निराला निराला हैं, महादेवी महादेवी हैं लेकिन जहाँ अनुभव की कृत्रिमता होती है, या जहाँ अनुभव नहीं होता है, वहाँ लगता है कि अनुभव के फॉर्मूले से कविता लिखी जा रही है और वह एक-सी लगती है। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि कविता की एक बुनियादी एकता होती है, उसके बावजूद हर कवि का, अपने अनुभव का, अपने संस्कार का, अपनी भाषा का एक अलग रंग होता है।

आज के कवियों में अगर आप देखें, विशेषतः हर कवि की निजी रंगत के साथ। जैसे कि वरिष्ठ कवियों में त्रिलोचन जी हैं। नागार्जुन जी ने इस पूरे दौर में अपनी राजनीतिक रंगतों के साथ और बहुत हद तक अपने समकालीनों व युवा पीढ़ी के कवियों के सामने साहसिक अभिव्यक्ति का एक अनगढ़ किंतु एक निर्भीक 'मॉडल' रखते हुए कविताएँ लिखीं, जो कि सहज और संप्रेषणीय हैं। कुँवर नारायण जी ने भी बहुत ही सहज और कलात्मकता के साथ लिखा है। मैं समझता हूँ, उनके वैचारिक गद्य में जो एक खास तरह की रंगत है, कहीं पर असंप्रेषणीयता नहीं है–अपनी बात को वे बहुत ही दृढ़ता, कलात्मकता और नई भाषा के उपार्जन के साथ कहते हैं, उसी तरह उनकी कविताएँ भी बहुत ही सहज और कलात्मक हैं। तो अपनी निजी रंगतों के साथ और भी इनके समानांतर जो कवि हैं–आप उनमें अपनी पसंद कहाँ रेखांकित करते हैं?

मैंने कहा न कि जो लोग अधिक सहज दिखाई पड़ते हैं, वे मुझे अधिक प्रिय लगते हैं और इस संदर्भ में एक बात की ओर इशारा करना चाहूँगा कि बहुत से लोग एक 'जार्गन' के तहत यह बात कहते हैं कि साहब, कथ्य और वस्तु की जटिलता है, इसलिए कविता जटिल हो गई है। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि वस्तु अगर कठिन है तो आपका काम है, उससे लड़िए, उसको सुलझाइए, फिर आप जब रखिए

सबके सामने तो वह सब तक संप्रेषित हो। यह नहीं कि जो अनपढ़ आदमी है, जो नहीं जानता कविता क्या है, जो ताँगा हाँकता है, रिक्शा चलाता है, उन सब तक पहुँच हो जाए किंतु जो कविता का पाठक है उस तक तो संप्रेषित हो। इस बात को देर-सवेर उन लोगों ने भी समझा जो लोग किसी भी कारण से कठिन कविताएँ लिख रहे थे। विजयदेव नारायण साही का 'मछली घर' पढ़िए आप और 'साखी' पढ़िए। कितना अंतर दिखाई पड़ता है। कुँवर नारायण का 'आत्मजयी' पढ़िए। कितना जटिल और उलझा हुआ काव्य है। बावजूद इसके कि वह एक प्रबंध काव्य है, उसको संप्रेषित होना चाहिए था। लेकिन बाद में वे कितने सहज और संप्रेष्य हो गए। अत: यह कहना गलत है कि वस्तु जटिल होती है तो हम जटिल होते हैं। आखिर वे ही कवि जो पहले जटिल थे जब विकास करते हैं तो क्यों सरल हो जाते हैं, सहज हो जाते हैं। मुक्तिबोध की जो महान् कविता है–'अँधेरे में' वह जटिलता के बावजूद संप्रेषित होती है क्योंकि उसमें एक अन्विति है, एक लय है। लेकिन 'ब्रह्ममक्षस'–उसमें कुछ अंदाज ही नहीं मिलता है कि क्या बात कही जा रही है–अर्थ बहुत मुश्किल से उसमें से खींचना होता है। लेकिन 'अँधेरे में' में क्योंकि हमारा बाहरी परिदृश्य बड़ा सघन है, साफ है तो फैंटेसी भी उसके साथ जुड़कर अपने को अभिव्यक्त करती है। हमारा कहना है कि जो लोग एक दौर में जटिल थे उन्होंने भी महसूस किया कि यह काम हमने अच्छा नहीं किया। उधर के कवि भवानीप्रसाद मिश्र, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल या इधर के कवि राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल–इन सबकी एक खास चिंता है कि हम अधिक सहज हों, अधिक दूर तक पहुँचें, हम जो बात कहें वह सबकी बात प्रतीत हो।

जहाँ लेखक जान-बूझकर अपनी चीजों को घुमावदार बनाता है, वहाँ जटिल हो जाता है। जो बात एक सीधे ढंग से कही जा सकती है, उसे आप घुमा-फिराकर कह रहे हैं तो मालूम हो जाता है कि आप बिना वजह घुमा-फिराकर कह रहे हैं। घुमाने-फिराने का मैं विरोधी नहीं हूँ, कविता का पाठक हूँ, स्वयं कवि हूँ इतना मैं सरलीकरण नहीं करूँगा। लेकिन जब लगता है कि बात यों ही घुमा-फिराकर कही जा रही है तब वह बात मुझे प्रिय नहीं लगती। मैं अध्यापक था तो पढ़ाने के लिए कुछ भी पढ़ाना पड़ता था लेकिन जब अपनी इच्छा से कविता पढ़नी पड़ती है तो हम उन्हीं कविताओं को उठाते हैं. जो सहज हों, जो सीधे संवाद करती हों। भवानीप्रसाद मिश्र की तमाम कविताएँ मुझे इतनी प्रिय हैं कि मुझे लगता नहीं कि वे कविताएँ हैं, लगता है, आदमी बात कर रहा है। यानी कविता बात बन जाती है, बात कविता बन जाती है लगता है कि जैसे एक सीधा संवाद हो रहा है कविता और हमारे बीचा ऐसे कवि हमारे मॉडल भी हैं, हमारे प्रिय भी हैं। कितने ही लोग जो कि सहज कहे जाते हैं (और बड़े कवि भी कहे जाते हैं) उनकी सहजता कितने ही आवरणों में अँटी हुई होती है।

कविता के जिस स्थापत्य की अवधारणा आपके मन में है या उस स्थापत्य के भरोसे जो कवि आपको प्रिय लगते हैं, क्या आपको लगता है कि आज के स्थापित कवियों के कृतित्व में इस स्थापत्य का निर्वाह हुआ है या उस स्थापत्य की निर्मिति दिखाई देती है?

स्थापत्य कभी अपने में कोई निश्चित वस्तु नहीं होता है। मैं स्वयं अपनी पुरानी कविताओं में कुछ हूँ।

स्थापत्य तो एकदम 'डायनेमिक' चीज है, बदलता रहता है, गतिशील है। स्थापत्य कोई भी हो, लेकिन वह स्थापत्य हमारे कथ्य के साथ संवाद करता हो, वह स्थापत्य अपने आप में एक मॉडल न बन जाए, अपने आप में एक लक्ष्य न बन जाए। हम कोई चीज चौंकाने के लिए न कहें। हम ऐसा कोई मॉडल न बना लें कि हम उसी के भीतर चलते रहें और उसी के भीतर चले हुए कुछ लोगों को चौंकाते रहें और लोग कहें कि सचमुच बड़ी चौंकाने वाली बात कही जा रही है, बड़ी चमत्कृत करने वाली बात कही जा रही है। सामान्य लोग तो चौंक जाएँगे किंतु कविता के जो पाठक हैं वे सोचेंगे कि इसमें धीरे से सहज भाव से एक बातचीत के ढंग से हमारे कान में कुछ सुनाने की ताकत है कि नहीं। यानी जिस तरह से हम मुक्त संवाद करते हैं उस तरह से बात है कि नहीं। एक सख्त भाषा में, सख्त मुहावरे में, सख्त बिंब में या सख्त प्रतीक में कसी हुई कविता हो, चाहे बहती हुई सहज भाव से चलती हुई भाषा और आसपास से लिए गए बिंबों से पगी भाषा हो, मेरे खयाल से स्थापत्य का कोई एक स्थिर और रूढ़ मॉडल मेरे मन में नहीं है। हाँ, यह जरूर है कि मैं हमेशा चाहता हूँ कि मन की जो बात है उसे बहुत सहज ढंग से रचनाकार कहे, उसके लिए स्थापत्य स्वयं बनाए और स्वयं अपने स्थापत्य को मिटाता भी चले। बार-बार उसी स्थापत्य में अपनी बात कहता रहेगा तो यह उचित न होगा, क्योंकि बात भी बदलती है, उसके साथ स्थापत्य भी बदलता है। यह क्रम चलता रहता है और हर कवि की कविता-यात्रा में यह बदलाव आता रहता है। अब अज्ञेय को ले लीजिए। अज्ञेय ने जिस स्थापत्य का इस्तेमाल किया था अपनी छायावादी संस्कार वाली कविताओं में, बाद में एकदम तोड़ दिया उसे। उनकी जो सामासिकता से लदी हुई भाषा थी, वह टूटी और छोटे-छोटे शब्द आने लगे। संस्कृत की शब्दावली हट गई और बोलचाल की भाषा आने लगी। जहाँ छायावादी भाव की कविताएँ हैं, वहाँ पर वह तत्सम शब्दावली चलती है किंतु जहाँ चूहे की खटपट, टाँड में, कागज, अखबार, खादर, बादर, किसान और खलिहान की बात आई, वहाँ पर वह भाषा नहीं चली। उनको लगा कि कविता में दृश्य बदल गया है तो भाषा बदलनी चाहिए, कहने का ढंग बदलना चाहिए।

एक सचेत कवि स्वयं निश्चित करता है कि वह जो कह रहा है, उसके संदर्भ में कथन-शैली कैसी हो। कोई भी स्थापत्य हो वह अगर बाहर दूर तक फेंकता है तो सार्थक है। नहीं फेंकता, अपने भीतर ही समेट लेता है बात को, और आप सिर टकरा-टकराकर उसमें से अर्थ निकालते हैं तो वह हमारे लिए मॉडल नहीं बन सकता।

डॉक्टर साहब, आज के कविता-परिदृश्य में कई रंगते हैं, आज की कविताओं को पढ़ते हुए एक आलोचक और पाठक के बतौर आपके भीतर क्या प्रतिक्रिया बनती है? आज के कविता-परिदृश्य को देखते हुए आप क्या महसूस करते हैं?

आज के कविता-परिदृश्य से मुझे बड़ा संतोष है और मुझे लगता है कि मैं कविता पढ़ रहा हूँ। यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है कि अनेक कवियों ने बहुत मामूली से मामूली संदर्भों को लेकर बड़ी संवेदनशील कविताएँ लिखी हैं। उन्होंने बड़ी कविता लिखने के लिए बड़े विषय नहीं उठाए, वे विषय लिए जो कविता के विषय ही नहीं थे। अब जैसे इन दिनों 'क्रूरता' की कविताएँ पढ़ रहा हूँ तो मुझे लगता है कि वहाँ बाजार है, गाँव है, करघा है या तमाम ऐसी चीजें

हैं जो हमारे आसपास से जुड़ी हैं। उन्हें कवि मानवीय सरोकारों के संदर्भ के साथ कविता में ला रहा है, कुछ कवि तो ऐसे है जो कि बहुत महीन संवेदनाओं के कवि माने जाते हैं, लेकिन लगता है कि वे कविताएँ मानवीय सरोकारों की कविताएँ हैं, समाज के सरोकारों की कविताएँ हैं। समाज के सरोकारों को कविताएँ बहुत आहिस्ता आहिस्ता और अपनी निजता के साथ खुलती हैं। लगता है, कविता में संवेदनाओं की, स्पंदनों की एक माला बुनती चली आ रही है और उसके भीतर जो मानवीय चिंता है, मानवीय सरोकार हैं, ये भी व्यक्त हो रहे हैं। वे मूल में हैं, किंतु वे ओझल नहीं है। जब उन्हीं मानवीय सरोकारों को हमारे क्रांतिकारी कवियों ने व्यक्त किया, प्रगतिशील कवियों ने व्यक्त किया तो बड़ा हल्ला-गुल्ला करके किया। कविता खत्म होती गई, हल्ला-गुल्ला शेष रह गया। इसके विपरीत तमाम छोटे-छोटे संदर्भों को जब कवि बुनता है तो कविता बची रहती है, बल्कि कविता नई होती रहती हैं और जो हमारी मानवीय चिंताएँ हैं वे बची रहती हैं। एक चिंता मुझे जरूर है कि क्या ये कवि कल भी ऐसे ही लिखेंगे? अगर ऐसे ही लिखेंगे तो इनकी सीमा बन जाएगी। जो वर्णनात्मक कविता होती है वह बड़ी आत्मीय होती है। उस वर्णन में पहले भी वाल्मीकि ने रामायण लिखी, तुलसी ने मनास लिखा, प्रेमचंद ने उपन्यास लिखे। नागर ने उपन्यास लिखे। तमाम बड़े लेखकों ने वर्णन शैली में बड़ी रचनाएँ लिखी हैं। फिर जैनेंद्र आए, अज्ञेय आए वे एक खास शैली लेकर आए। एक काव्यात्मक शैली लेकर आए तो एक नई चमक तो आई, लगा कि वर्णनात्मकता के विरुद्ध एक नई बात पैदा हो रही है लेकिन उसकी सीमा थी, वह कुछ दूर तक चलकर खत्म हो गई। उसके बाद उसकी व्याप्ति नहीं है लेकिन वर्णन की व्याप्ति आज भी है। उसी शैली में आज संजीव और शिवमूर्ति जैसे कहानीकार कहानियाँ लिखते हैं तो कितना अच्छा लिखते हैं। उसकी बड़ी ताकत होती है। ऐसे ही नागार्जुन की शैली है। उसकी ताकत चुकने वाली नहीं है। लेकिन यह जो लिखा जा रहा है बेशक नई शैली में, इसमें बहुत दूर तक चलने की क्षमता नहीं है। इसकी अपनी सीमाएँ हैं। कुछ दूर तक तो बहुत अच्छा लगता है, किंतु अगर इसी शैली में लिखते रहे तो कहना न होगा कि जो ताकत 'किवाड़' में थी, वह 'करता' में नहीं है। विषय को लेकर जो एक आधार पर यात्रा होती है, उसमें लगता है कि विषयाधारित अनुभव चलते रहते हैं और एक क्रम में चलते रहते हैं। मुझे लगता है कि यह कल भी चलेगा, किंतु वर्णनात्मक से अलग हटकर जा नए किस्म की कविताएँ लिखी जा रही हैं, वे बहुत दूर तक नहीं चल सकेंगी।

डॉक्टर साहब, अपनी अल्पजीविता के बावजूद लघु पत्रिकाएँ फिर व्यापकता से परिदृश्य में हैं। आज के परिदृश्य में बहुत-सी पत्रिकाएँ हैं जिनकी कि सार्थक रचना-संसार के साथ हमारे बीच आवाजाही है। इसके बावजूद क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि इन पत्रिकाओं की दुनिया पाठकीय दृष्टि से लगातार सिकुड़ती जा रही है?

यह तो है। इनका महत्त्व है तो इसलिए कि आज बड़ी पत्रिकाएँ गायब हो गई हैं। अभी भी कई पत्रिकाएँ हैं जो अखिल भारतीय स्तर की हैं और अच्छी हैं। ऐसी स्थिति में लघु पत्रिकाओं का महत्त्व तो है, लेकिन तमाम ऐसी पत्रिकाएँ हैं, जिन्हें मैं भी नहीं जानता। कभी-कभी देखता हूँ कि किसी पत्रिका में उनका नाम तो मालूम पड़ता है कि यह पत्रिका भी निकल रही है, वह भी निकल रही है। इन पत्रिकाओं

का उद्देश्य होता क्या है। होता यह है कि चलो भाई, हम कहीं छप नहीं पा रहे हैं तो हम लोग मिल-जुलकर एक पत्रिका निकालते हैं। तो वे केवल एक समुदाय के छपने के लिए निकलती हैं। कुछ लोगों की बात कहने के लिए निकलती हैं। जाहिर है कि वे पत्रिकाएँ अपनी गुणवत्ता के खयाल से भी और इस प्रचार तंत्र के युग में अपनी अक्षमता के नाते भी बहुत दूर तक पहुँच नहीं पाती हैं। आज भी जो पत्रिकाएँ दूर तक पहुँचती हैं उनमें आप पहले छपना चाहते हैं। वागर्थ है, साक्षात्कार है, आजकल है, उत्तर प्रदेश है, कुछ लोगों के लिए हंस है। जो भी पत्रिकाएँ अच्छी बन जाती हैं, उनमें हम चाहते हैं कि छपें। वे ज्यादा लोगों तक पहुँचती हैं और वे पाठकों के लिए सुलभ भी होती हैं। अब तो पत्रिकाएँ किसी एक खास दायरे में निकलती है, खास दायरे तक पहुँचती हैं, उनमें न तो रचनाकार अपनी रचना देना चाहेगा और न वे पत्रिकाएँ पाठकों तक पहुँच ही पाती हैं। ऐसी स्थिति में इन पत्रिकाओं की दुनिया तक पाठकीय पहुँच निश्चय ही नहीं होगी।

क्या मीडिया के बहुविध प्रक्षेपण के चलते भी साहित्यिक विधाओं पर या कि मुद्रित शब्द-सत्ता पर आपको कोई खतरा दिखाई देता है?

नहीं, मुझे खतरा नहीं दिखाई पड़ता है। यह जरूर लग रहा है कि आज तमाम लोग साहित्य पढ़ने के स्थान पर सीरियल देख रहे हैं या और तमाम दृश्य माध्यम की चीजें देख रहे हैं। लेकिन मुझे लगता है कि साहित्य का जो पाठक है, वह साहित्य में ही तृप्ति पाता है। उसकी पूरी तृप्ति साहित्य के पठन से ही होती है। वह ऐसे ही है जैसे आप टेलीविजन पर समाचार देख-सुन लेते हैं फिर भी अखबार पढ़ते हैं। अखबार पढ़ने का सुख और है और समाचार देखने-सुनने का सुख और है। एक बात मैं और कहना चाहूँगा कि जो लोग केवल दृश्य माध्यमों के कार्यक्रमों से संतुष्ट हो लेते हैं, वे साहित्य के पाठक कभी नहीं रहे। वे साहित्य पढ़ते रहे हैं तो वह साहित्य पढ़ते रहे हैं जो बहुत पॉपुलर है, चालू किस्म का है। बाकी जो साहित्य के पाठक रहे हैं और आज भी हैं, वे टी.वी. देखने के बाद भी साहित्य पढ़ते हैं और एक सीमा के बाद उन्हें दृश्य माध्यमों से ऊब-सी होने लगती है। जब हमारे अच्छे उपन्यासों के ऊपर सीरियल बने थे तो बड़ा अच्छा लगा था और अब भी अच्छा लगेगा। कम से कम इस माध्यम से हमारे श्रेष्ठ उपन्यास तमाम लोगों तक पहुँचते हैं, पहुँचेंगे, लेकिन मुझे हमेशा लगा कि उपन्यास पढ़ने के बाद जो सुख मिलता है, वह देखने के बाद नहीं मिल रहा है। यह सुख उसका पर्याय नहीं है।

हम किसी उपन्यास को पढ़ते हैं तो अपने ढंग से पढ़ते हैं, अपनी शर्तों पर पढ़ते हैं, उनके साथ हम हो लेते हैं। उसके साथ हम सो जाते हैं, फिर जागते हैं, फिर चलते हैं और न जाने उन शब्दों के माध्यम से कितनी ध्वनियाँ, कितने संकेत निकलते हैं जिनको हम अपनी कल्पना के माध्यम से सजीव करते हैं या हमारी कल्पना को खुलकर खेलने का मौका मिलता है। मीडिया में जो कुछ है, वह अंतिम है और जो लिखित है, उसमें अंतिम कुछ नहीं है। वहाँ आपकी अनंत कल्पना के लिए अनंत विस्तार होता है। आपकी कल्पना जहाँ तक चाहे जा सकती है। इसलिए जो साहित्य का संस्कारी पाठक है, वह जानता है कि साहित्य पढ़ने का सुख और होता है, मीडिया पर उसे देखने का सुख और होता है।

मिश्र जी, आपको अभी 'दयावती मोदी कवि-शेखर सम्मान' से विभूषित करने का निर्णय

लिया गया है। एक कवि के लिए यह निश्चय ही गौरव की बात है। इस पुरस्कार से विभूषित होकर आप कैसा महसूस कर रहे हैं?

मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। इसलिए भी कि एक बड़ा सम्मान तो है ही, किंतु मुझे बहुत सहज भाव से मिला। पुरस्कारों की जोड़-जोड़ की राजनीति के युग में हम जी रहे हैं और हम लगातार यह अनुभव कर रहे हैं कि पुरस्कार राजनीति का शिकार हो गए हैं। ऐसी स्थिति में एक महत्त्वपूर्ण पुरस्कार मेरे पास चला आया तो मुझे इसका एक सहज सुख है। मैं एक बात और कहना चाहता हूँ कि पुरस्कारों के साथ मेरा संबंध बड़ा सहज रहा है। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि हमारे समय के अनेक लोगों ने पुरस्कार लेने और पुरस्कार ठुकराने की राजनीति बना रखी है। वे मिल-जुलकर पुरस्कारों पर कब्जा भी जमाएँगे और अगर उनको लगेगा कि पुरस्कार छोटा है (या और भी कारण हो सकते हैं) तो उस पुरस्कार को ठुकराकर फिर चर्चा में आ जाएँगे। इस तरह से पुरस्कार लेने और उसे ठुकराने दोनों की राजनीति और उससे जुड़ी चर्चाएँ चलती रहती हैं। मुझे यह बात कभी पसंद नहीं आई। छोटे पुरस्कार भी मेरे पास आए। मैंने उन्हें बहुत सहज भाव से स्वीकार कर लिया क्योंकि पुरस्कार छोटे हों या बड़े हों, मैंने कभी किसी पुरस्कार के लिए प्रयत्न नहीं किया। किसी से कुछ कहा नहीं, कोई दौड़-धूप नहीं की। इसलिए कोई सम्मान मिलता है मुझे घर बैठे तो सहज भाव से स्वीकार्य होता है। मैं उनका सम्मान करता हूँ।

आप अपने साहित्यिक जीवन में अनेक साहित्यिकों के सान्निध्य में रहे। काशी के कालखंड में हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे गुरुजन, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह तथा आगे चलकर विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती जैसे सुधी लेखक-मित्रों के प्रति आपके मन में विशेष आदर भाव रहा है। अपने समकालीनों के साथ इस मैत्री भाव को आप किस रूप में देखते हैं तथा इसमें और कौन-कौन-से लोग जुड़ते हैं?

देखिए, आपने जो बात उठाई है, उसमें मित्र भी हैं, गुरुजन भी हैं, उसमें हमसे बड़े भी हैं, छोटे भी हैं। यहाँ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे बड़े लोगों के क्रम में मैं उमाशंकर जोशी का भी नाम लेना चाहूँगा, जो गुजराती के एक बड़े हस्ताक्षर हैं। उनका भी स्नेह मुझे प्राप्त था। नगेन्द्र जी का भी स्नेह प्राप्त रहा है। उनके साथ काम करने का मौका मिला। अपने से जो कनिष्ठ लोग हैं, उनमें नित्यानन्द तिवारी का नाम लेना चाहूँगा। वह मेरे बहुत अभिन्न हैं, मेरे सहकर्मी भी रहे और उन्होंने मेरे साहित्य को बड़े गौर से देखा और समझा है। मैं गोरखपुर के रामदेव शुक्ल का नाम लेना चाहूँगा, जो मेरे साहित्य को समझते भी हैं, प्यार भी देते हैं, गौरव भी देते हैं। अव समवयस्कों में बहुतों से मेरा उठना-बैठना रहा। बनारस में ठाकुर भाई थे ही, शिवप्रसाद सिंह थे, नामवर जी थे, केदार थे-कौन कितना चल सका, कितना निभा सका, यह और बात है लेकिन बनारस में मैंने कहा न कि सब साथ थे और साथ बन रहे थे, साथ जैसे कि एक सहयोग-भावना लेकर ताकत प्राप्त कर रहे थे। त्रिलोचन जी थे ही, शंभुनाथ जी थे, अब कौन कितना मित्र था यह बात तो अलग है लेकिन लगता था एक दुनिया थी हम लोगों की। भारती जी से मेरा संबंध बाद में बना, जब मैं गुजरात चला गया और वे मुंबई गए संपादक होकर धर्मयुग कें तो फिर धर्मयुग के माध्यम से हम लोगों के संबंध जुड़े और एक मैत्री भाव कायम हुआ। दिल्ली के कन्हैयालाल नंदन हैं, मेरे बड़े

अच्छे मित्र हैं। एक बात है ओम जी कि मैंने मित्रता की निर्मिति के लिए साहित्य को आधार नहीं बनाया। साहित्य एक माध्यम हो सकता है लेकिन मुझे लगा कि जो आदमी मेरे साथ सहज बना रह सकता है, उसके साथ मैं चल सकता हूँ और जो लोग साहित्य को लेकर राजनीति करने लगे, जो लोग साहित्य को लेकर छोटा-बड़ा और क्या-क्या फेसला करने लगे, वे मुझे रास नहीं आते थे। मित्र हैं तो मित्र हैं। भले ही उसका माध्यम साहित्य हो। अव महीप सिंह मेरे मित्र हैं। हम लोगों की दृष्टि में बहुत अंतर है लेकिन मित्र हैं तो मित्र हैं, नरेंद्र मोहन और विनय मेरे मित्र हैं तो मित्र हैं, ललित शुक्ल और हिमांशु जोशी मेरे मित्र हैं तो मित्र हैं। हम लोगों के बीच जो सूत्र रहा, वह साहित्य ही रहा। उसके बाद जब मैत्री बनी तो मैत्री अपनी जगह, साहित्य अपनी जगह। लेकिन बहुत से लोग बनारस में मिले जिनके साथ मेरे संबंध पहले बहुत अच्छे थे लेकिन उन लोगों ने अच्छा रहने नहीं दिया क्योंकि वे साहित्य की राजनीति से मैत्री को नापने जोखने लगे। अब कुछ लोग याद आ रहे हैं, कुछ लोग नहीं याद आ रहे हैं, लेकिन हमारे मित्रों की दुनिया बड़ी है और साहित्य उसका आधार नहीं है।

आपके रचना संसार में चाहे वह कविता हो, कहानी, उपन्यास या संस्मरण-गाँव के कटने और महानगर में आ बसने के अनुभवों की वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्ति मौजूद है। क्या यह अभिव्यक्ति कहीं न कहीं आपके लेखन की सीमाएँ नहीं बनती गई हैं?

नहीं, ऐसा नहीं है। मैं इसे सीमा के रूप में स्वीकार नहीं करता हूँ, क्योंकि गाँव को जब मैंने देखा तो गाँव में गाँव है ही। अब 'पानी के प्राचीर' है, 'जल टूटता हुआ' है, 'सूखता हुआ तालाब' है, मेरा नया उपन्यास 'बीस बरस' है, ये सभी गाँव पर आधारित हैं तो इनमें गाँव आएगा ही। सवाल है कि हमारे शहरी उपन्यासों में गाँव क्यों आता है? अब देखें आप कि शहर भी एक नहीं है। दिल्ली हो या अहमदाबाद हो या मुंबई हो, या कोई शहर हो, कोई दावा नहीं कर सकता कि हमने पूरे शहर को चित्रित किया है। आज तक कोई भी ऐसा उपन्यास नहीं आया जो पूरे शहर का उपन्यास हो-चाहे मुंबई हो या कोलकाता हो या दिल्ली हो। हम लोग इस बड़े शहर में भी एक शहर देखते हैं, वह हमारा अपना शहर होता है। यानी वह शहर जिसमें हम जीते हैं। उसको हम नहीं जीते हैं जो इलीट शहर है। नई दिल्ली शहर है, धनपतियों का। वह हमारा अपना शहर नहीं है। उत्तम नगर भी शहर है। यह भी दिल्ली का एक हिस्सा है, जहाँ हम आप हैं, जहाँ प्राध्यापक हैं, सब्जी वाले हैं, ठेले वाले हैं, रिक्शे वाले हैं, जहाँ नाई हैं, धोबी हैं, अनंत सामान्य लोग हैं और वे सारे लोग हैं जो गाँव से आए हुए हैं। जब हम इस शहर को पकड़ते हैं तो गाँव अपने आप चला आता है। यह आरोपित नहीं है। हम शहर की उस दुनिया को लेते हैं जिस दुनिया का संबंध गाँव से है। मैंने अहमदाबाद पर 'दूसरा घर' उपन्यास लिखा। उसमें वे लोग हैं जो अपने घरों से गए हुए हैं, मिलों में काम करने के लिए या अध्यापकी करने के लिए। कुछ लोग वे हैं जो वहाँ जाकर बस जाते हैं। कुछ लोग वे हैं जो वहाँ बसते नहीं और नौकरी करके गाँव लौट आते हैं, तो अब वहाँ रहकर भी गाँव उनसे छूटता नहीं है। अगर हम अहमदाबाद के उस इलाके का चित्रण कर रहे हैं तो जाहिर है, उस इलाके का एक सिरा वहाँ है, एक सिरा गाँव में है। वे यहाँ आए हैं नौकरी करने, मार खा

रहे हैं दुकानदार की। कहते हैं, गाँव में जमींदार की मार खाकर तो यहाँ भाग आए, यहाँ भी अपनी वही हालत है। वे दो घरों के बीच में कैसे पिस रहे हैं, यह मेरे इस उपन्यास में है। 'अपने लोग' में प्रमोद है, जो दिल्ली से गोरखपुर आकर सोचता है कि वह अब प्राय: अपने गाँव जाएगा। वह गाँव तो नहीं जा पाता था लेकिन गाँव खुद आता था उसके पास। घर-परिवार के लोग, जवार के लोग, कचहरी करने के लिए, सिफारिश कराने के लिए, गाँव से आ जाते हैं। शहर में सब्जी बेचने वाली भी आ रही है, लकड़ी बेचने वाला आ रहा है-यह मैंने गाँव को आरोपित नहीं किया है। जिस जिंदगी को लिया है मैने उस जिंदगी के साथ गाँव अपने आप जुड़ा होता है। उसके बगैर इस शहर की जिंदगी पूरी नहीं होती। इस रूप में मैंने उसे अनिवार्य वस्तु के रूप में लिया है, इसलिए मैं नहीं समझता हूँ कि मेरे लिए यह खतरा है।

डॉक्टर साहब, कहीं-कहीं लगता है कि आपके उपन्यासों की जो यात्रा है-अब तक लगभग 10-11 उपन्यास आपने लिखे हैं, इन उपन्यासों के जो चरित्र हैं, उनमें कहीं न कहीं आपका भी एक केंद्रीय चरित्र अपने पूरे स्वभाव के साथ, अपनी मस्ती के साथ अपने सोच और अपने विन्यास के साथ उपस्थित है। क्या जैसा कि हमें लगता है यह कहीं न कहीं आपके भीतर, आपके आसपास और आपके मिजाज की कहानी भी है?

हाँ, यह सही है कि हर उपन्यास में कहीं न कहीं मुझ जैसा एक पात्र दिखाई पड़ जाएगा आपको द्य अब वो कैसा बन जाता है यह तो नहीं कह सकता लेकिन इतना सच है कि 'प्रमोद' हो या 'गौतम' हो या और कई पात्र हों, मुझ जैसे आ जाते हैं। शायद इसलिए कि मैं उसके माध्यम से वह बात कहना चाहता हूँ, जो मैं अपने माध्यम से जिंदगी में सोचता-विचारता हूँ। लेकिन हर उपन्यास का कथ्य अलग होता है, उसकी जमीन अलग होती है तो मुझ जैसा पात्र भी एक-सा नहीं होता है, उसकी समस्याएँ अलग-अलग होती है। 'प्रमोद' टीचर है, गोरखपुर में। 'गौतम' भी टीचर है। लेकिन दोनों अलग-अलग हैं, दोनों अलग-अलग जिंदगी जीते हैं और अलग-अलग कोणों से समस्याओं को झेलते और उससे निजात पाते हैं। 'यश' है वह बाढ़ में घिरा हुआ है, बाढ़ वहाँ की समस्या है। तो इन स्थानों में जो वस्तु है, वह पात्रों के एक-से पन को कहीं तोड़ देती है।

डॉक्टर साहब, कभी इलाहाबाद, वाराणसी, लखनऊ और ऐसे ही छोटे नगर-उपनगर साहित्य-लेखन, चर्चाओं और बहसों का केंद्र हुआ करते थे। धीरे-धीरे इन नगरों में एक उजाड़-सा दिखने लगा और दिल्ली साहित्य लेखन, प्रचार, प्रकाशन और बहुत हद तक सौदेबाजी का केंद्र बनती गई। इस परिवर्तन को लेकर आप क्या सोचते हैं?

अब परिवर्तन तो हुआ। जैसे भी हुआ लेकिन यह अच्छा तो नहीं कहा जा सकता है। मुझे याद है, सन् '63-64' में कुछ ऐसा संयोग बना कि दिल्ली के मॉडल टाउन में तमाम लोग आए। मैं '64' में आया। नामवर जी आए, शमशेर आए, मलयज आए, आग्नेय आए और इसके बाद कई लोग आए। केदार जी बाद में आ गए और कुछ लोग पहले से ही आकर पढ़ा रहे थे। इसके पीछे नौकरी-चाकरी की भूमिका थी। लोग आए और आते गए और एक माहौल बनता गया। उन दिनों दिल्ली का माहौल बहुत प्रीतिकर था। साहित्य की दृष्टि से उर्वर माहौल था। जो पुराने लोग थे, माचवे, भारतभूषण अग्रवाल और अज्ञेय आदि वे

तो थे ही, नए लोग आए और आते गए। एक अच्छी दुनिया बनी, मतलब जीवंत दुनिया। बनारस उजड़ गया, इलाहाबाद उजड़ गया और दिल्ली बस गई तो उसमें राजनीति शुरू हो गई, साहित्य की। कोई एक केंद्र प्रधान हो उठे और अन्य सारे शहर वीरान हो जाएँ, अपने आप में यह अच्छी बात नहीं है, संतुलन कहाँ छूट जाता है। दिल्ली जैसे नगर में जहाँ पर सुविधाओं की दृष्टि से संभावनाएँ हैं, वहाँ पर साहित्य को विकृत होते देर नहीं लगती है। यानी, साहित्य का जो एक सोच था खास सोच था, वह धीरे-धीरे सुविधा के जाल में घिर गया। सुविधा की प्राप्ति के लिए लोग दिगड़म करने लगे। सुविधाओं की प्राप्ति के लिए ही नहीं, बल्कि उन सुविधाओं पर किनका कब्जा रहे और कब्जे के लिए हम किन्हें छोटा बनाएँ, किन्हें बड़ा बनाएँ, ये सारी बाते होने लगीं। इस तरह से धीरे-धीरे माफिया ग्रुप तैयार हो गया, जो कि धीरे-धीरे यहाँ की सारी संस्थाओं को, सुविधाओं को, अधिकारों को, पुरस्कारों को अपने कब्जे में लेने लगा। विदेश यात्राओं को, विदेशों के कोर्स में संकलित होने वाली समस्याओं का नियंत्रित करने लगा। यानी एक माफिया ग्रुप हावी हो गया और बाकी लोग बटते गए। और दूसरे शहर तो उजाड़ हुए ही, यह जगह भी उजाड़ होने लगी, एक खास ग्रुप को छोड़कर। तो जो हुआ, मेरा खयाल है कि अच्छा नहीं हुआ।

कुछ आलोचकों का यह भी ख़्याल है कि सच्चा साहित्य अभी भी ऐसे ही उपनगरों, कस्बों में लिखा जा रहा है, दिल्ली में नहीं। परंतु 'परिमल' जैसी साहित्यिक संस्थाओं की सुगंध या कि सक्रियताएँ अब इन कस्बों उपनगरों में नहीं दिखती। इनकी जगह प्रगतिशील, गतिशील, जन संस्कृत मंच जैसे वैचारिक संगठनों ने ले ली है—पहले जैसा समरस साहित्यिक माहौल देखते-देखते बिला गया। साहित्यिक सन्नाटे से गुजरते इन उपनगरों में पहले की-सी साहित्यिक गतिविधियों का पुनर्वास क्या आपको संभव दीखता है?

नहीं दीखता है। कारण यह कि वह माहौल बनना मुश्किल है। यह बात अपने में सच हो सकती है कि दिल्ली में उर्वरता नहीं रही, किंतु यह बात भी सामान्य तरीके से कहना बड़ा कठिन है। दिल्ली में भी काफी लोग अच्छा लिख रहे हैं और घटिया भी लिख रहे हैं। दूसरे स्थानों पर भी क्या सब लोग अच्छा ही लिख रहे हैं? किसी शहर में कोई इक्का-दुक्का आदमी अच्छा निकल आता है। लेकिन जितने भी लोग लिख रहे हैं, उर्वर लिख रहे हैं, अच्छा लिख रहे हैं, यह कैसे कह सकते हैं आप? कह सकते हैं क्या? हाँ, इस रूप में यह कथन सच हो सकता है कि जिंदगी की जो खरी हलचल है, जिंदगी का जो एक 'रा-नंस' (कच्चापन) है वह छोटे शहरों में या गाँवों में ज्यादा होता है, पकी जिंदगी से साहित्य नहीं निकलता है। तो जो छोटे कस्बे हैं, शहर हैं, वहाँ अभी जिंदगी की हलचलें कुछ हैं और वहाँ पर जो लड़के निकल रहे हैं, वे उस मिट्टी से पैदा होते है, उस समस्या से पैदा होते हैं, उस अनुभव से पैदा होते हैं। उस कच्ची मिट्टी से एक बड़ी मूर्ति बनने की संभावना होती है। दिल्ली में मिट्टी पक गई है। बड़ी मुश्किल से उसमें ये चीजें निकलती हैं। दिल्ली ने ही कोई ठेका नहीं ले रखा है, अच्छे लेखन का। बाहर से भी लेखन आ रहा है। वहाँ भी अच्छे लिखने वाले लोग हैं ही। उसका कारण यही है, जैसा कि आपने अभी कहा। खासकर उपन्यासों में गाँव आता है। तो उस गाँव ने ही बचा रखा है, मंगलेश को उनकी कविताओं में, हिमांशु

जोशी को उनकी कहानियों में। जो कहानीकार हैं, उपन्यासकार हैं–गाँव से उनका रिश्ता बना हुआ है। तो अभी उतना हिस्सा जो है वह उनको पकने से बचाता है। मैंने लिखा है न–''मैंने अपने पक्के मकान के आँगन में कच्ची जमीन छोड़ रखी है ताकि एक नया पेड़ लगा सकूँ।'' अगर कच्ची जमीन न हो तो फिर यहाँ कुछ उगने की संभावना नहीं है। तमाम लोगों के भीतर एक ही चीज मिलती है। 'परिमल' संस्था की जो बात आपने उठाई, वह सच है। 'परिमल' जैसी संस्था नहीं बन सकती है। आप दिल्ली में रचना की संभावना भले न देख पाते हों, लेकिन दिल्ली 'गवर्न' करती है। सारे कस्बों और शहरों के लोग दिल्ली की ओर मुँह किए रहते हैं। राजेंद्र यादव का जो 'हंस' है, अपनी सारी तिकड़म, अपनी सारी फूहड़ता, अपनी सारी राजनीति का प्रसार बिहार में, यहाँ-वहाँ किए रहता है। एक कहानी छापिए जिसकी, वह 'फालोवर' हो जाता है। बहुत-से लोग देखते हैं, नामवर क्या कहते हैं हमारे बारे में। तो अब जो शहरों या कस्बों में गोष्ठियाँ हैं, उन गोष्ठियों के यहाँ बैठे हैं। 'परिमल' शुद्ध साहित्यिक संस्था थी और अपने लोगों के बीच बनी हुई थी। किसी से गवर्न नहीं होती थी। अब आपने ठीक कहा कि वहाँ प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना नामवर सिंह करा देंगे। जनवादी लेखक संघ की स्थापना राजेन्द्र यादव करा देंगे। लेकिन अच्छे साहित्यकारों की एक अपनी संस्था बने, जिसमें कि साहित्य की बुनियाद पर साहित्य की बातचीत हो, ऐसा संभव नहीं रह गया है। दिल्ली ने प्रदूषित कर दिया है, पूरे देश को। सब लोग आँख उठाकर इसी की ओर देखते हैं।

'दूसरा घर' के बाद आपके दो छोटे-छोटे उपन्यास आए किंतु आपके बड़े उपन्यासों के जो पाठक रहे हैं, उन्हें जैसे लगा कि वे एक रचनात्मक गैप को भरने के लिए या कि समय के हाशिए पर रचे गए या कि आपके मिजाज में भी यह है कि आप जिस समय जो कुछ लिखना चाहते हैं, उसके लिए ऐसी कोई सीमाबद्धता नहीं है कि उसे आप किसी अगले समय के लिए टाल देंगे और केवल बड़ी ही चीज लिखेंगे। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि ये दोनों छोटे उपन्यास-इनकी जो भी चर्चा हुई हो, इनकी कोई विशेष केंद्रीयता नहीं बन पाई। अब जैसा कि आपसे अभी चर्चा हुई कि आपके मन में, अवचेतन में कहीं न कहीं है कि दिल्ली पर एक बड़ा उपन्यास लिखा जाए। मैं समझता हूँ इस बीच जो चर्चित उपन्यास आए हैं–'मुझे चाँद चाहिए', 'चाक', 'इदन्नमम्', 'नीला चाँद', 'वैश्वानर' तथा और भी कुछ लेखकों के बड़े उपन्यास, जैसे 'काल कथा', 'कलिकथा वाया बाईपास' जिनकी चर्चा हो रही है-जो कि वस्तु और विन्यास, देश-काल और मानवीय समस्याओं-सरोकारों को छूते हैं। जाहिर है, हम यह जानना चाहेंगे कि क्या 'दिल्ली' ऐसा ही उपन्यास होगा, यदि लिखा गया, जो कि देश-काल, मानवीय सरोकारों तथा एक बड़े उपन्यास के फलक को छूता हुआ हो?

देखिए, मेरे मन में जो उपन्यास है, एक बड़ा उपन्यास है और मेरी कल्पना है दिल्ली के एक बड़े और जटिल रूप को पेश करने की। इसमें उसका मुख्यतः जो सामाजिक, शिक्षिक और साहित्यिक जगत् है, उसकी आपसी आवाजाही, आपसी हलचलें होंगी, फिर उसमें लोगों या साहित्यकारों के माध्यम से गाँव भी आएगा। गाँव के तमाम पात्र है, वे भी आएँगे। अभी मेरे मन में कुछ साफ नहीं है लेकिन दिल्ली को चित्रित करना है। इतना साफ है कि दिल्ली पर छोटा

उपन्यास नहीं, एक बड़ा उपन्यास होगा। देखिए ओम जी एक बात कहूँ, हमारे साहित्य की यह नियति बन गई है कि किसी एक आदमी की वार्च एक कृति के साध बाँध दी जाती है। अब श्रीलाल शुक्ल चाहे जो लिखें, यह 'जग हसने' के अलावा कुछ नहीं है। एक-एक कृति के साथ लोगों को जोड़ दिया गया है। ठीक है कि मुझे मेरे बड़े उपन्यासों के साथ जोड़ा गया मैंने कहा न कि दिल्ली एक नहीं है, दिल्लियाँ है, बड़े उपन्यास महत्वपूर्ण हैं, लेकिन मान लीजिए, मेरे बड़े उपन्यास न होते और लोग चर्चा करना चाहते तो में छोटे उपन्यासों के माध्यम से मेरी चर्चा करते। अब आप ही देखिए श्रीकांत वर्मा का 'दूसरी बस' कोई खास नहीं है। लेकिन चर्चा में है। उनका वही उपन्यास है। मेरे तो बड़े उपन्यासों की भी चर्चा नहीं की इन लोगों ने, तो छोटे उपन्यास अपने आप छूट गए। तरह-तरह उपन्यासों की चर्चा कैसे होती? प्रेमचंद की नहीं हुई। मुझे छोटे उपन्यास भी बहुत प्रिय हैं, लेकिन जाहिर है कि हर आदमी का चुनाव अलग-अलग होता है। कुछ लोगों को छोटे उपन्यास अच्छे लगते हैं, कुछ को बड़े उपन्यास अच्छे लगते हैं। मेरे बड़े उपन्यास लोगों को अच्छे लगे तो छोटे उपन्यास हाशिए पर चले गए। लेकिन जब मैंने उन्हें लिखा तो किसी सर्जनात्मक तकाजे से ही लिखा-'थकी हुई सुबह' ही चाहे 'बीस बरस' हो, 'सूखता हुआ तालाब' हो, एक खास चीज को अन्विति में लेकर लिखा, अपनी बात कही। फिर हर रचना तो बड़ी नहीं होती। हर बार आप बड़ी रचना लिखने चलेंगे तो कुछ नहीं लिख पाएँगे। पहले क्या था-चाहे प्रेमचंद रहे हों, चाहे नगर रहे हों। लिखते थे। कोई रचना बड़ी हो गई, कोई छोटी हो गई। अब क्या है कि पैदा होते ही कालजयी लेखक हो गया। अब वह सोचता है कि कालजयी तो पहले ही लिख दिया। अब जो लिखे इससे ज्यादा कालजयी हो। तब वह लिख पाएगा? मैं शिखर से शिखर तक यात्रा नहीं करता रहा हूँ, शिखर से नीचे भी आता रहा हूँ फिर ऊपर चढ़ता रहा हूँ। कुछ लोग सोचते हैं कि शिखर से शिखर तक कूद जाओ। तो शिखर से शिखर तक कितना कूदिएगा। एक बार कूदिएगा, दो बार कूदिएगा।''

दिल्ली पर उपन्यास की जो योजना है, उस पर जैसे खुशवंत सिंह ने एक खास तरह का उपन्यास लिखा या कि और कुछ नए लेखकों ने दिल्ली पर औपन्यासिक रूप से जोर-आजमाइश की। आपकी रचनात्मक भावभूमि, जाहिर है कि इन उपन्यासों से अलग होगी और खास तरह की दिल्ली होगी आपकी दृष्टि से देखी गई, रची गई, बुनी गई?''

मैंने कहा न कि दिल्ली एक नहीं है, दिल्लियाँ कई हैं और एक ही दिल्ली को हम कई निगाह से देखते हैं तो कई दिल्ली हो जाती है। खुशवंत सिंह की दुनिया दूसरी है और मेरी दूसरी है। मेरी जो चिंता होती है, वह आम आदमी की होती है, उसकी भूख-प्यास की होती है, उसकी नौकरी-चाकरी की होती है। उनकी समस्या कुछ और है। जाहिर है कि उनके संस्कार में और मेरे संस्कार में बड़ा फर्क है।

डॉक्टर साहब, इन दिनों कहानियों में आपने क्या-कुछ पढ़ा है, कौन-से कहानीकार छू रहे हैं आपको?

कहानियाँ बहुत सुनियोजित ढंग से नहीं पढ़ता रहा। पत्रिकाओं में जो आती हैं, उन्हें पढ़ लेता हूँ। पढ़ता सबको हूँ, लेकिन आजकल बहुत कम पा रहा हूँ। कहानियाँ इस दृष्टि से नहीं पढ़ता कि उन पर लिखना है। बस आनंद के लिए पढ़ता हूँ। जो सामने आया, पढ़ लिया। कितनी पत्रिकाएँ निकलती हैं, उनमें

कहानियाँ छपती हैं, जो पढ़ लिया, पढ़ लिया। बहुत प्रामाणिक पाठक उनका नहीं रहा।

आपने एक दौर में निश्चय ही अच्छी कहानियाँ लिखी हैं-पठनीयता की दृष्टि से कि उसे आप एक बार उठा लें तो पढ़े बिना नहीं छोड़ सकते। उनमें जो सामाजिक समस्याएँ हैं, गाँव-घर की समस्याएँ हैं, सामाजिक सरोकार हैं, उन पर आपका सर्वाधिक बल रहा है। किंतु पिछले दिनों यह चर्चा रही कि एक समय के चर्चित कथा-लेखक रामदरश जी अब कहानियों में चुटकुले परोस रहे हैं। आपने शायद कहीं उसका जवाब भी दिया था। आपके पाठक जो अभी भी आपसे अच्छी कहानियों की उम्मीद रखते हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए आप इस बारे में क्या कहना चाहेंगे?

देखिए, अभी मेरा एक संग्रह आया है–'फिर कब आएँगे'। उस पर चर्चा हुई। आपने भी उस शीर्षक कहानी की चर्चा की थी। उस संग्रह की बड़ी सराहना हुई है। हाल ही की एक गोष्ठी में लोगों ने कहा कि संस्मरण कैसे कहानी बन जाता है, उसका अद्‌भुत उदाहरण ये कहानियाँ हैं। अब देखिए, जिनको चर्चा करनी होगी, वे करेंगे। दूसरी बात यह कि 'एक कहानी लगातार' की कहानियों को किसने चुटकुला कहा, मुझे याद नहीं। किंतु इन कहानियों की अच्छी चर्चा करने वाले भी बहुत-से मिले। उनकी दृष्टि में इन छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से आदमी ने अपने जीवन के कुछ अनुभवों को व्यक्त किया गया है। तो ये चुटकुले नहीं हैं और ये ऐसे ही नहीं लिखी गई हैं-कुछ समय भरने के लिए। अपनी पूरी चिंता के साथ मैंने ये छोटी कहानियाँ लिखी हैं। एक अलग अंदाज की कहानियाँ हैं–ये चुटकुले नहीं हैं, छोटी कहानियाँ नहीं हैं–बड़ी कहानियाँ नहीं हैं। बस कहानियाँ हैं।

अच्छा डॉक्टर साहब, यह चर्चा की जाती है कि आलोचना का स्तर गिरा है और आलोचना में वैसी वस्तुनिष्ठता नहीं है, जिसकी अपेक्षा एक आलोचक से की जाती है। आज की आलोचना को छिटपुट रूप से जहाँ तक देख पा रहे हैं, आपको कैसा लगता है–क्या आलोचक अपने दायित्व के प्रति प्रतिबद्ध हैं?

देखिए, अब ऐसा है कि जब दृष्टि खुली न हो और पहले से तय कर लिया जाए कि अमुक के बारे में अमुक बात कहनी है तो आलोचक की विश्वसनीयता आप कहाँ पाएँगे? अब कोई उपन्यास आ रहा है तो आते ही कह देंगे कि पचास वर्षों में इतना बड़ा उपन्यास नहीं लिखा गया या किसी आदमी से अगर आपको चिढ़ है तो या तो पढ़ेंगे नहीं या पढ़कर चुप रहेंगे या घटिया कह देंगे। अपवाद की बात नहीं कह रहा हूँ–यह एक 'ट्रेंड' बन गया है। सब जानते हैं कि जो अमुक आलोचक है, वह अमुक की चीज नहीं पढ़ेगा और पढ़ेगा तो चुप रहेगा। और अमुक आदमी अमुक को पढ़ रहा है तो अमुक आदमी उसके जवाब में एक मुहावरा तय कर रहा है। चीजें अच्छी भी लिखी जा रही हैं तो भी इन आलोचनाओं के दुराग्रह के कारण इनकी पहचान नहीं हो पाती। माना यह जाता है कि ये लोग जो कह रहे हैं, वे पूर्वग्रह से बँधे हुए हैं–चाहे बड़ाई कर रहे हों, चाहे उपेक्षा कर रहे हों, चाहे खराब कह रहे हों। यह एक आम धारणा बन गई है। किसी का भी इंटरव्यू लीजिए आप पूछिए वही दस नाम आएँगे। दूसरे-का इंटरव्यू लीजिए, वही दस नाम गिनाएगा। एक रिकॉर्ड बना लिया है इन्होंने, जो कभी वे प्ले करते हैं, कभी वे प्ले करते हैं। वस्तुनिष्ठता से इनका कोई लेना-देना नहीं है।

यात्रा संस्मरण

प्रकृति के साथ (शिलांग यात्रा)

–रामदरश मिश्र

सन् 1975 का वर्ष था। शिलांग की यह मेरी दूसरी यात्रा थी किन्तु इसका एक अलग तरह का बिंब मेरी कल्पना में उभर रहा था। पहली यात्रा जाड़े में हुई थी, इसलिए वह यात्रा शुरू करने के पूर्व मेरे मन में पर्वतीय प्रदेश का भय और सन्नाटा जमा हुआ था, किन्तु यह यात्रा पावस में हो रही थी, इसलिए पर्वत प्रदेश में पावस की रंगीन कल्पना मेरे भीतर उमड़ रही थी। हालांकि वर्षा की भीषणता का एक हल्का-हल्का भय भी मेरे भीतर कहीं रेंग रहा था। यह भय कछार में बाढ़ के समाचार से और भी गाढ़ा हो उठता था। किन्तु कछार क्षेत्र का होने के कारण, बचपन में बाढ़ से क्रीड़ा करते रहने के संस्कार होने के कारण यह भय कोई भय नहीं था।

हाँ, एक भय जरूर था, वह था आसमान की यात्रा का भय। हवाई जहाज की यात्रा मुझे बहुत आश्वस्त नहीं कर पाती। हर बार मुझे पूरी यात्रा में अनुभव होता रहता है कि मैं ठोस धरती से कटकर शून्य में निराधार अटका हुआ हूँ। ट्रेन दुर्घटनाएँ, हवाई दुर्घटनाओं से कम नहीं हुई हैं, फिर भी ट्रेन में कभी भी यह भय मेरे भीतर नहीं कौंधा कि कहीं दुर्घटना हो न जाए। लगता है कि ट्रेन चाहे कितनी भी तेज क्यों न दौड़े, है वह धरती पर ही। धरती, जिसे मैं जानता हूँ। किन्तु हवाई जहाज जहाँ से उड़ता है, वह शून्य है। उसे क्या जाना-पहचाना जा सकता है? और बहुत ऊँचाई से गिरे हुए को धरती भी सँभाल नहीं पाती। और फिर यह यात्रा तो बादलों के बीच से करनी थी। पावस के बादलों के बीच यह मेरी पहली हवाई यात्रा थी, और पावस के बादलों के बीच भटकते हुए और भटककर नीचे गिरते हुए हवाई जहाजों के समाचार कई बार पढ़ चुका था, इसलिए मन में इस हवाई यात्रा का एक भय था। लेकिन बादलों के बीच से या उनके ऊपर से गुजरने का एक नया अनुभव प्राप्त होगा, इसका सुख भी कम नहीं था।

पालम से विमान उड़ा तो पानी बरस रहा था। उड़ने के तुरन्त बाद लगा कि हम घने कुहरे में घिर गए हैं। मैं खिड़की के पास बैठा हुआ था। कोशिश करता हूँ कि गाड़ी हो या हवाई जहाज, कोने की सीट मुझे मिले। इसे लड़कपन कह लीजिए, लेकिन यह मुझमें है। लड़कपन के और भी कई संस्कार मुझमें हैं, किन्हें-किन्हें काटूँ और क्यों काटूँ? हाँ, घने कुहरे को चीरता हुआ हवाई जहाज उठता हुआ आगे बढ़ रहा था। लगा जैसे उफनती हुई धाराओं को चीरकर कोई बड़ी रूपहली मछली वेग से तैरती जा रही हो। कहीं कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा था, केवल कुहरा और उसे फाड़कर वेग से आगे बढ़ते और ऊपर उठते हवाई जहाज की गति का अनुभव। मेरे मन में उठा कि कहीं यह जहाज इसमें खो न जाए, हम कहाँ हैं, कहाँ हैं? मैंने जहाज के भीतर अपने आसपास देखा। लोग बेखबर अखबार पढ़ रहे थे, आँख मूँदकर तंद्रिल हो रहे थे, यानी किसी को चिंता नहीं थी। लोग जहाँ हैं, उसी के दायरे में संतुष्ट निश्चिंत थे। और मैं लगातार बाहर की दुनिया की ओर झाँकता हुआ, उससे अपनी स्थिति का रिश्ता जोड़ने का प्रयत्न कर रहा था।

लोग बाहर से इतने बेखबर क्यों हैं? शायद वे

अधिक समझदार हैं, वे समझते हैं कि यह कुहरा-बुहरा, ये बादल-वादल इस जहाज का कुछ नहीं बिगाड़ सकते, या वे प्रायः इस या उस मौसम से गुजरते हैं और उन्हें बाहर के दृश्यों में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है, आखिर इन्हें कहाँ तक देखें? इनके लिए तो हवाई जहाज एक साधन मात्र है, दो शहरों के बिन्दुओं को जोड़ने के लिए। उन्हें दो शहरों के ये बिन्दु ही दिखाई पड़ते हैं। यानी कहाँ से चले हैं और कहाँ पहुँचना है। बीच का देश और काल का सारा अंतराल इनके लिए फालतू है। सचमुच ही ये बड़े समझदार और यथार्थवादी हैं, केवल लक्ष्य देखते हैं। लेकिन मैं थोड़ा भावक प्रवृत्ति का आदमी हूँ यानी उस अर्थ में यथार्थवादी नहीं हूँ, जिस अर्थ में ये अनेक लोग हैं। मेरे लिए रास्ता केवल रास्ता नहीं रह जाता, एक जिन्दगी बन जाता है। रास्ते में आने वाली वस्तु-सत्ता और समय से एक रागात्मक संबंध जोड़कर एक अनुभव से गुजरना चाहता हूँ इसलिए वह कुहरा मुझसे जुड़ गया है। एक नए अनुभव के रूप में। बाद में भी जुड़ा रहेगा। यह मात्र कुहरा नहीं था, यह बादलों के बीच का कुहरा था, जो आकाश की ऊँचाइयों पर एक विशेष समय-संदर्भ और मेरी मनःस्थिति से मिलकर मेरे लिए एक विशिष्ट अनुभव बन गया था।

जहाज काफी ऊँचाई पर चढ़कर प्रायः समतल पर आ गया था और इस फेनिल अंधकार से भरे आकाश को चीरता हुआ सीधा आगे बढ़ रहा था। कुहरे की घाटी से निकले ही थे कि एक विराट दृश्य देखा-धुनी हुई कपास की तरह सफेद और कोमल, किन्तु सघन बादलों के बड़े-बड़े अंबार एक–दूसरे पर लदे पड़े थे। लगा जैसे एक बड़े सफेद गाँव पर दूसरा और दूसरे पर तीसरा गाँव बसा हुआ हो, या फिर पर्वत की हिम धवल चोटियाँ एक दूसरे पर लदी हुई हों। विराटता के अहसास से मैं अभिभूत हो गया, जिसमें आनंद भी था और भय भी। मुझे, इन गाँवों के आसपास बगीचे दिखाई पड़ने लगे, कुएँ और चौपाल भी लक्षित होने लगे, गलियाँ और रास्ते भी उभर आए। कितने सुंदर गाँव हैं ये, किन्तु अभिशप्त-से। यहाँ सब कुछ है, लेकिन मनुष्यों की हलचल नहीं।

पूरा आकाश एक रहस्यमय सौन्दर्य से आंदोलित हो रहा था। दृश्य पर दृश्य छूट रहे थे। पहाड़ों की घाटियों में से लहराकर उठता हुआ कुहरा एकाएक दृष्टि-पथ को ढक लेता था, जैसे रात हो गई हो। जहाज उसे चीरकर आगे निकलता जाता था और सूरज की रोशनी पड़ते ही दिन निकल आता था और सारा-का-सारा दृश्य धूप के स्पर्श से एक नई आभा से चमक उठता था। दूर नीचे सफेद बादलों के टुकड़े ऐसे लगते थे जैसे सफेद जल से भरे हुए गड्ढे धरती पर चमक रहे हों या धरती पर सफेद-सफेद फूलों के झुरमुट हों। इन बादलों पर बादल, फिर उन पर बादल, फिर बादल। बादलों की भी अनंत परतें और श्रेणियाँ थीं। आकाश भी ऊँच-नीच के विभाजन से मुक्त नहीं हो सका है। सफेद-सफेद बादलों का जमघट अनेक उत्प्रेक्षाएँ मेरे भीतर जगा रहा था। लगता था, जैसे किसी खेत में सफेद-सफेद अनंत भेड़ें घिरी हुई हों, या धारा पर धारा आकुल व्याकुल हो रही हो, या पानी के लौट जाने के बाद धारीदार रेत अनंत विस्तार में लेटी हुई हो, या सूर्य के फाहे फैले हों, या सफेद धरती में दरारें फटी पड़ी हों। कभी-कभी सफेद बादलों के पार गेरुए बादल दिखाई पड़ते थे। लगता था, जैसे पके हुए गेहूँ के खेत फैले हों। कभी लगता था कि कोई कच्ची सड़क या पगडंडी गाँव के बाजार को जा रही है। और मैं इन दृश्यों को देखने में इतना तन्मय हो गया कि लगा कि यह भी एक धरती ही है–दृश्य-बहुला धरती। बादलों के आवरण के पार जब सूर्य दिखाई पड़ता था और उसकी धूप से जब ये विविध दृश्य रंजित हो उठते थे,

तब तक अद्‌भुत ही सौन्दर्य सृजित हो उठता था। कहीं-कहीं पहाड़ों की घाटियों में कुहरे की तरह उड़ते हुए बादलों का झीना जाल, स्वप्न लोक की याद दिलाता था।

इस वायवीय सौन्दर्य से गुजरने के बाद मैं उससे पूरा आश्वस्त नहीं हो पाता, कहीं उससे छूटकर गिरने और नष्ट होने की आशंका भी होती है। इसलिए जब-जब धरती पर उतरता हूँ, चैन की साँस लेता हूँ। धरती के सौन्दर्य का क्या कहना? सूक्ष्म और ठोस रंग-रूपों की जो संगति और अनंतता यहाँ है, वह भला और कहाँ है! और अपना देश तो वैविध्य का खजाना है। आसाम का क्या कहना, आसाम में गोहाटी और शिलांग के बीच की जो यात्रा है उसका क्या कहना? मैंने भारत भूमि को उसके पूरे विस्तार में नहीं देखा है। अनंत विस्तार, अनंत बिन्दु, अनंत कोण और हर बिन्दु और कोण का अपना सौन्दर्य। किन्तु जो नहीं देखा है, उसके लिए पश्चात्ताप करता हुआ जो देखा है, उसकी सौन्दर्यानुभूति को कम नहीं करना चाहता। जिसे देख रहा हूँ, जिसे जी रहा हूँ, उसे पूरा पा लूँ तो भीतर एक समृद्धि का अनुभव कर सकता हूँ।

किसी अनंत और असीम की प्रतीक्षा में या उसके न पा सकने के पश्चात्ताप मैं क्यों उसे खोऊँ? और मैं अनुभव करता हूँ कि इस यात्रा से गुजरकर मैं भीतर समृद्ध हुआ हूँ, अपने ही देश की प्रकृति और जीवन का एक नया आयाम मेरे भीतर उभरा और बसा है। दो ऊँचे पहाड़ों के बीच से गुजरती हुई यह सड़क। टैक्सी भागी जा रही है। इसे पहली बार नवंबर में देख रहा था तो अलग 'थ्रिल' का अनुभव किया था। अब की जुलाई में देख रहा हूँ तो अलग थ्रिल का अनुभव कर रहा हूँ।

पानी बरस रहा है लेकिन मूसलाधार नहीं (जिसकी मुझे आशंका थी। बल्कि हलका-हलका। जिन बादलों को मैं उनके ऊपर से देख रहा था, उन्हें नीचे से देख रहा हूँ किन्तु अब मैं धरती पर हूँ, अधिक आश्वस्त हूँ और उन्हें केवल देख नहीं रहा उन्हें अपने में व्याप्त अनुभव कर रहा हूँ, बूँदों को छू रहा हूँ, बूँदों से भीगी हवा को पी रहा हूँ। पत्तों पर बूँदों की फड़फड़ाहट का संगीत सुन रहा हूँ, बूँदों से भीगकर एक नई स्पंदित हरियाली में नहाती वनस्पतियों को देख रहा हूँ, समाधि से जागकर चारों ओर देखते हुए और आत्मविस्तार करते हुए पुलकित पर्वतों को देख रहा हूँ। मैं बादलमय हो गया हूँ। उनके ऊपर उड़ने का खोखला और वंध्या अभिमान, उनमें भीगकर उन्मय हो जाने के उर्वर आह्लाद में बदल गया है-द्रष्टा भोक्ता हो गया है और कुछ साल पहले लिखी हुई अपनी ही कविता गुनगुनाने लगता हूँ–

पल-छिन मेरा संग न छोड़ें, यायावर बादल
जाने कहाँ-कहाँ से भटके आएँ, दल-के-दल

टैक्सी भागी जा रही है, ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी, साँप की तरह बलखाती सड़कों से। इस गति की भी अपनी लय है–स्थिरता को, एकरसता को तोड़ने वाली लय, हरदम सावधानी के झटके देने वाली लय। वैसे लय इस पूरी सृष्टि में है, किन्तु हर लय एक-दूसरे से अलग होती है, विशिष्ट होती है। पहाड़ी सड़कों और स्थानों की लय, मैदानों की लय से अलग होती है, और इस पहाड़ी प्रदेश की लय, दूसरे पहाड़ी प्रदेशों की लय से अलग है। इतनी गहरी हरियाली इसी पहाड़ी की लय है। सड़क के दोनों ओर उठी हुई पहाड़ियों पर बाँसों, केलों और अनानासों के हरे-भरे विस्तार देखते ही बनते हैं। कहीं एक ओर की पहाड़ी सरककर कुछ दूर हो जाती है और सड़क और उस पहाड़ी के बीच एक चौड़ा नाला सड़क के साथ चलता रहता है। नाले के पार सघन वनस्पतियाँ और वृक्ष एक हरे-भरे अस्त-व्यस्त सौन्दर्य का निर्माण करते हुए ऊपर उठते हुए चले जाते

हैं-जिसके बीच से नीचे गिरता हुआ कोई छोटा-सा झरना नाले के पानी की लय में अपनी लय मिला देता है। जैसे किसी बड़े संगीतज्ञ के स्वर में कोई बच्चा अपना तोतला स्वर मिला देता हो। सड़क के पास की उठी हुई पहाड़ियों पर और नाले के पार के बीहड़ ऊबड़-खाबड़ विस्तार के बीच किसी खंड पर मक्के के खेत देखता हूँ तो आदमी की जिजीविषा से अभिभूत हो जाता हूँ। बीहड़ पहाड़ियों के बीच अथक श्रम से खेती लायक जमीन बना लेना कितना कठिन होता होगा और खेती भी समतल नहीं सीढ़ीदार ढापलुआँ। भागती हुई टैक्सी में बैठा हुआ मैं उन रास्तों को खोज रहा हूँ जिनसे लोग इन खेतों में जाते होंगे–लेकिन रास्ते कहीं दिखाई नहीं पड़ते। मैं कल्पना करता हूँ कि मैं होता तो कहाँ से जाता, लेकिन कल्पना को कोई भी मार्ग नहीं सूझता। नाले में काठ का एक पुल दिखाई पड़ता है, मेरे ग्राम संस्कारी मन को यह पुल कितना अच्छा लगता है। नीचे पहाड़ी चट्टानों पर उछलता-बहता नाला, नाले के दोनों ओर सघन वनस्पतियाँ और वृक्ष और उस पार वनस्पतियों से नीचे की ओर जाता हुआ एक रास्ता। कहाँ जा रहा होगा, यह रास्ता? उस पुल पर से एक औरत उस पार जा रही है। उस पार जाकर वनस्पतियों से उलझे रास्ते में कहीं खो जाएगी। क्या इसे डर नहीं लगता? शायद ये ही वे रास्ते हैं, जिनसे लोग इन खेतों की ओर जाते हैं–और खेतों की ओर जाने वाले रास्तों पर डर कैसा?

शायद यहाँ डर नामक भाव विद्यमान नहीं है–न आदमी को आदमी से डर, न आदमी को जानवर से डर, न आदमी को अपने से डर। इस पहाड़ी सुनसान सड़क पर दूर-दूर छोटे-छोटे गाँव। कहीं-कहीं एक या दो घर मात्र बसे हुए हैं। रास्ते में टैक्सी के रुकने पर दो बार मैंने डिक्की की ओर सावधानी से देखा कि सामान तो सुरक्षित है न! टैक्सी वाले ने कुछ विस्मय से कहा, 'क्यों बाबूजी, आप जहाँ से आते हैं, वहाँ चोरियाँ बहुत होती हैं क्या?' मैं झेंप गया फिर तुरन्त बोला, 'चोरियाँ? अरे, एक मिनट में तुम्हारी पूरी टैक्सी गायब हो सकती है और दूसरे मिनट में उसका पूरा रूप बदल सकता है।'

'बाबा रे बाबा!' उसकी आँखें भय से फैल गईं। मैंने अपनी झेंप मिटाने के लिए यह सही बात कही थी और मुझे प्रसन्नता हुई कि मैं अपने कार्य में सफल रहा। मुझे लगा कि इतना अकेला रहने के बाद भी यहाँ लोग आदमी या जानवर या अपने से डरते नहीं हैं, लगता है यहाँ आदमी को अपने श्रम पर भरोसा है, इसलिए वह दूसरों के श्रम की चीज नहीं छीनता होगा। शिलांग से लौटते समय रात हो गई थी। उस सुनसान पहाड़ी सड़क पर भागती हुई टैक्सी के प्रकाश में कभी-कभी बस्ती से दूर कोई आदमी चलता हुआ दिखाई पड़ता था–'घोर अंधकार में डूबा हुआ। कहाँ है भय? किसको भय?'

इस सन्नाटे में सड़क पर या किसी चोटी पर एक दो मकान। क्या इन्हें अकेलापन या अजनबीपन नहीं सताता होगा? कैसे रहते हैं ये लोग, इतने सन्नाटे में इतने अकेले? मैं बार-बार यह सोचता था। महानगर की भीड़-भाड़ और सुविधा भरी जिन्दगी के बीच जब इतना अकेलापन है, इतना अजनबीपन है तो यहाँ की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन मैंने हँसते-हँसते बच्चों, बोझा ढोते लोगों, अपने-अपने काम में व्यस्त औरतों के चेहरों पर कहीं भी तो अकेलेपन की छाया नहीं देखी–चाहे मैं किसी बड़े गाँव से गुजरा होऊँ, चाहे एक घर के पास से। तब क्या अकेलापन एक भाव मात्र नहीं है जो अपने परिवेश के साथ असंपृक्ति से पैदा होता है? महानगर की परिवेशगत असंपृक्ति ही अजनबीपन है, अकेलापन है। वहाँ हर व्यक्ति एक-दूसरे से असंपृक्त है, इसलिए वहाँ अकेलापन एक भावगत सत्य के साथ-साथ परिवेशगत सत्य भी बना दिया गया

है। यहाँ हर व्यक्ति अपने परिवेश से जुड़ा है। वह परिवेश चाहे अपने अनानास या केले के खेत का हो, चाहे बाँस के काम का हो, उसे कोई शिकायत नहीं, उसके साथ उसे रहना है चाहे बोझा ढोने का हो इसलिए वह उससे संपृक्त है—और संपृक्ति के लिए श्रम बहुत जरूरी है। श्रम अकेलेपन को काटता है और श्रम यदि दिमागी है तो उसके साथ हाथ का श्रम जुड़ना बहुत आवश्यक होता है। हाथ का श्रम करने वाले का मन बहुत महत्वाकांक्षाओं, रंगीन सपनों और वायवीय उड़ानों में नहीं भटकता, वह तो हाथ से जुड़ा होकर अपने आस-पास की दुनिया में रस लेने लगता है। ठोस कर्म का ही रस उसका रस होता है। किन्तु केवल दिमागी काम करने वाले व्यक्ति का मन महत्त्वाकांक्षी होता है, वह अपने परिवेश से असंतुष्ट होकर निरन्तर एक वायवीय लोक की ओर भागता है, वह अपनी वर्तमान स्थिति से ऊबता है, अपने को सबसे ऊँचा समझकर अपने को स्वयं सबसे अलग रखता है और अकेलेपन या अजनबीपन के बोध से ग्रस्त रहता है। अकेलेपन को तोड़ने के लिए जरूरी है कि वह हाथ से काम करे। हाथ का श्रम उसके दिमाग के श्रम को यथार्थ से, जनसामान्य से जोड़ता है और यथार्थ से जुड़ना ही अकेलेपन की अनुभूति को काटता है।

दूर पहाड़ों पर धुएँ की तरह बादल उड़ रहे हैं, हमारे ऊपर झुक आए हैं, तेज बूँदें पड़ रही हैं, वनस्पतियाँ नहा रही हैं, चट्टानें जैसे द्रवित होकर वह रही हैं, दोनों ओर की चोटियों के बीच की दूरियाँ और घाटियाँ बूँदों के गिरने की एक सम और विराट लय से भर गई हैं। आकाश गर्जन के स्वर से इस लय को कभी-कभी प्रगाढ़ कर दे रहा है। टैक्सी दाएँ-बाएँ मोड़ लेती हुई ऊपर और नीचे भागी जा रही है। लगता है जैसे किसी तिलिस्मी दुनिया से होकर गुजर रहा हूँ। एकाएक सामने खुलते हुए आसमान के प्रकाश को देखकर अनुमान करता हूँ कि बड़लेक आ रहा है। और यह रहा बड़लेक-पहाड़ों के बीच उगा हुआ जलाशय। इसे पर्वत का हृदय कहा जाए या कवि पंत के शब्दों में दर्पण कहा जाए, क्या कहा जाए? कुछ भी कह लीजिए, इस दृश्य का सौन्दर्य उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं या संदेहालंकारों से बाँधा नहीं जा सकता। देखने में यह लेक बहुत बड़ा नहीं लग रहा था, एक दृष्टि से आसानी से नापा जा सकता था किन्तु सड़क उसका चक्कर काटती हुई काफी टेढ़े-मेढ़े रूप में जा रही थी, इसलिए इस झील के साथ मेरे साहचर्य का विस्तार बढ़ता गया। अद्भुत दृश्य था—पानी थम गया था, झील के ऊपर काले-काले बादल छाए हुए थे। देखा पास की पहाड़ियों पर, रसोई घर से उठते हुए धुएँ या तैरते हुए कुहरे की तरह, नीचे से ऊपर को उठते हुए बादल। झील में बादलों और पास की हरी-भरी पहाड़ियों की अनंत परछाइयाँ मुखर हो रही थीं, लगता था जैसे पर्वत के हृदय के भीतर अनेक संवेदनाओं और छवियों के बिंब तैर रहे हैं और पहाड़ियों पर कुहरे की तरह उठते हुए बादल आकाश की ओर उठती हुई कल्पनाएँ हों, विराट के हृदय में मूर्त होती हुई एक सजीव कविता मेरे सामने थी और मैं अभिभूत था।

टैक्सी पहाड़ों में ओझल हो गई, चढ़ती गई और मैं एक कविता से साक्षात्कार हो चुकने के अनुभव से भरा था कि फिर वही कविता, फिर वही झील और यह देखकर मुझे बड़ा आनंद आया कि काफी समय तक, ओझल हो-होकर यह झील मेरे समीप आ रही और अनुभव हुआ कि जिस झील को मैंने पहली दृष्टि से नाप लिया था, वह उतनी ही नहीं थी—वही अदृश्य भाव से पहाड़ों मैं पैठकर काफी दूर तक चली गई है और अब मैं अधिक ऊँचाई से इसे देख रहा था। झील के विविध परिवेश और उत्तरोत्तर ऊँचाई पर मेरी अवस्थिति के कारण झील के सौन्दर्य में निरन्तर

नवीनता उभरती गई और शिलांग आ गया। शिलांग में एक बार देख चुका था। पहाड़ी शहर का आकर्षण एक बार बहुत तेज होता है, किन्तु उस छोटे से शहर में दो-चार बार घूम लेने पर उसका आकर्षण काफी कम हो जाता है। मैं एम.एल.ए. हॉस्टल में पिछली बार भी ठहरा। उसके पास स्थित एक छोटी-सी झील (वर्डस लेक) है उसका खास आकर्षण है।

हमेशा मौसमी फूलों से घिरी, टेढ़ी-मेढ़ी यह बनावटी झील बहुत प्यारी है, इसे बार-बार देखने की इच्छा होती है; किन्तु शहर में ऐसा कोई आकर्षण नहीं जिसे दूसरी बार की यात्रा में देखने की तड़प हो। इसलिए मैं नॉर्थ ईस्ट हिल यूनिवर्सिटी (शिलांग) की हिन्दी-समिति की बैठक (जिसके लिए आया था) में भाग लेकर चुपचाप लौट आने की सोच रहा था। किन्तु किसी सत्य का खंडित ज्ञान अपने को कितने बड़े सुख से वंचित रखता है, इसका ज्ञान मुझे तब हुआ है, जब हिन्दी समिति के सदस्य, शिलांग के स्थानीय कॉलेज के प्रवक्ता श्री अजित गुरंग ने हम लोगों के सामने प्रस्ताव रखा कि वे अपनी टैक्सी में हमें शिलांग का वह हिस्सा दिखाना चाहते हैं, जिसे हमने नहीं देखा है। हम यानी मैं और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डॉ. विजयशंकर मल्ल, जो उपर्युक्त हिन्दी बोर्ड के अध्यक्ष हैं। हम दोनों साथ ही ठहरे थे। हम लोगों ने हर्ष और कृतज्ञतापूर्वक श्री अजित का प्रस्ताव स्वीकार किया। दूसरे दिन प्रात: हम दोनों जब अजित के साथ टैक्सी मे सवार होकर शिलांग के बाहरी भाग की ओर चले तब लगा कि हमने शिलांग अभी देखा कहाँ था?

शहर के बाहरी भाग में प्रकृति की सहजता और रचना ने मनुष्य से मिलकर एक अलग ही सौन्दर्य का निर्माण कर दिया था। टैक्सी टेढ़ी-मेढ़ी सड़कों से होकर नीचे की ओर उतरती गई। एक बड़े नाले के पुल से होकर हम गुजरे और आबाद घाटी के सौन्दर्य-बिंब आँखों में भर गए। गोल्फ-लिंक और पोलो ग्राउंड पर जाकर ठहरे। घास से भरा एक मैदान था जो सुनियोजित विषम धरातल वाला था। हम बादलों की छाँह में वहाँ घूमते रहे कि पानी आ गया। फिर टैक्सी में आकर बैठ गए। अजित ने बताया कि यहाँ कहावत है कि यहाँ की औरत और पानी का भरोसा नहीं किया जा सकता। टैक्सी थोड़ी और आगे बढ़ी। आगे जंगल दिखाई पड़ रहा था। अजित ने बताया कि यहाँ कई बार फिल्मों की शूटिंग हुई है। पानी थम गया। हम लोग पैदल, खेतों की मेढ़ों से जंगल की ओर आगे बढ़े। कुछ कच्चे घर, मक्के के खेत, खेतों के मेढ़, पेड़, बाँस की कोठियों में काम करते लोग, कुछ चौपाए।

जब मैं ऐसे दृश्य देखता हूँ तो मुझे बड़ा अच्छा लगता है। लगता है, अपने गाँव आ गया हूँ। यही दृश्य मुझे किसी भी जगह से जोड़ देता है। लगता है मैं अपने घर आ गया हूँ। एक सार्वभौम गृहता का अनुभव करने लगता हूँ। खेतों की मेढ़ों से होते हुए हम लोग अभिजात जंगल में पहुँच गए। दूर-दूर तक एक शालीन सन्नाटा, लंबे-लंबे सफेद-सफेद पेड़... तो यहाँ शूटिंग होती है। खड़ा खड़ा मैं कल्पना करने लगा कि यहाँ शूटिंग हो रही है-नायक अपना स्वेटर या कोट उछाल-उछालकर झूमता हुआ आगे जा रहा है, बरसाती मौसम का एक गीत गा रहा है। पता नहीं कब मैंने नायक में अपना ही आरोपण कर लिया और मैं धर्मेंद्र या संजीव कुमार या राजेश खन्ना की मानसिकता में आकर मन-ही-मन इस जंगल में भटकने लगा, और सोचा कि फिल्मी कायदे के अभी कोई अनुसार पहाड़ी सुंदरी (सुंदरी हेमा मालिनी, शर्मिला टैगोर, मुमताज और अनेक जानी-पहचानी नायिकाओं के रूप में बदलती गई) निकलेगी, टकराएगी और कुछ न कुछ होकर रहेगा। मे ऐ... मे ऐ मैंने चौंककर बाईं ओर देखा एक बकरी थी और उसके साथ थी एक छोटी-सी पहाड़ी अभावग्रस्त बालिका।

स्वप्न टूट गया था और मैं फिर यथार्थ पर आ गया था।

दूर सामने देखा–पेड़ों के सघन झुरमुट से निकलते रास्ते पर, बहँगी पर लकड़ियाँ लादे एक आदमी चला आ रहा था। देहाती और पहाड़ी परिवेश पर बनी अनेक फिल्में कौंध गईं और यथार्थ और फिल्मों की दूरी के प्रति या फिल्मों में यथार्थ के अश्लील, भौंडे और मिथ्या प्रयोग के प्रति मेरे मन में जो तीखापन था, वह तेज हो उठा। अरे, यह तीखा होने का समय नहीं है, यह तो भीगते विराट सौन्दर्य के रस में सराबोर होने का समय है। और फिल्म के प्रति तीखेपन का भाव कब किधर बह गया–इसका मुझे पता ही नहीं चला। मैंने अनुभव किया कि चारों ओर हरियाली से लदे हुए विराट को आकाश नहला रहा है, और मैं भी भीतर से बाहर तक एक अनिर्वचनीय रस से भीग रहा हूँ। बच्चे की सी उत्सुकता से चारों ओर देख रहा हूँ और वही भाव डॉ. मल्ल के चेहरे पर देख रहा हूँ जो हर पेड़ को छू-छूकर अनुभव करना चाहते हैं कि यहाँ कौन-सा रस निहित है। 'चलिए साहब', अजित ध्यान भंग करते हैं और हम लोग टैक्सी में बैठे कहीं चले जा रहे हैं। हम कहाँ जा रहे है– इसे न मैं जानता हूँ, न डॉ. मल्ल। बस, अजित जानते हैं कि वे हमें कहाँ लिए जा रहे हैं। वे रास्ते में दिखाते हैं कि यह मौलाई है–खासियों की बस्ती। यह वह जगह है, जहाँ वे उत्सव के समय सामूहिक नृत्य करते हैं। यह नेपालियों की बस्ती है, यह अमुक बस्ती है, यह अमुक बस्ती है। मैं देख रहा हूँ बाँस के कलात्मक सामान। छोटे-छोटे सुंदर-सुंदर मकान, मकानों के बीच कहीं छोटे-छोटे खेत, कहीं बहते हुए छोटे-छोटे, प्यारे-प्यारे नाले, स्कूल जाते ताजा चेहरे वाले लड़के और लड़कियाँ, एक विशेष वेशभूषा में विशेष आकृति वाली सुंदर स्वस्थ औरतें। सर्वत्र मुझे एक छंद और लय का अनुभव होता है। एकाएक टैक्सी एक स्थान पर आकर रुक जाती है। 'उतरिए साहब' अजित बोलते हैं। उतरकर चारों ओर देखता हूँ कहीं कुछ दिखाई नहीं पड़ता, एक महाशून्य चारों ओर दिखाई पड़ता है।

''कहाँ उतरे हैं हम लोग?'' पूछता हूँ।

''सामने एलिफेंट फॉल है साहब, हम इसे देखने आए हैं।''

तब मैं सावधान होता हूँ और एक हहराती हुई आवाज सुनकर अनुमान लगाता हूँ कि झरना किस ओर है। हम लोग पत्थर की एक छोटी-सी दीवार के पास खड़े होकर आगे की ओर देखते हैं, आँखें फाड़-फाड़कर देखते हैं कि कहीं कुछ दिखाई पड़ जाए परन्तु कुछ दिखाई नहीं पड़ता। घना कुहरा आदिगंत फैला हुआ है। ऊपर झुके-झुके काले-काले बादल। आगे घाटी में फैला हुआ अपारदर्शी कुहरा, कुहरे में से उभरता झरने का सघन भारी निनाद। लगता था मानो दिग्-दिगंत तक धरती से आकाश तक व्याप्त एक विराट समुद्र हहरा रहा है। मेरी कल्पना में अनेक दृश्य, अनेक रूप रंग उभरने लगे। मेरी भीतरी आँखें इस कुहरे को चीरकर पता नहीं कितने देश-देशान्तरों की यात्रा करने लगीं। क्या है इस कुहरे के भीतर? कहाँ तक इस स्वप्न लोक का विस्तार है? मुझे लगा कि मैं एक बहुत ऊँची चोटी पर स्थित हूँगा। और सामने सारी पर्वत चोटियाँ समाप्त हो गई होंगी और उस ऊँचाई से दिख रहा होगा, मैदानों का वैविध्यपूर्ण, अनंत हरा-भरा विस्तार जो अपनी अस्पष्टता के कारण माया-लोक सा लगता होगा, या एकाएक कोई समुद्र दिखाई पड़ेगा जो अपने अनंत विस्तार के ऊपर एक मुखर सन्नाटे की नीलिमा ओढ़े लहरा रहा होगा। रहस्य के सौन्दर्य का आज पहली बार इतनी प्रगाढ़ता से अनुभव कर रहा था और छायावादी कवियों के रहस्यवाद से प्रकृति के जुड़ाव की सार्थकता अपने सही अर्थ में खुल रही थीं। हम लोग बच्चों की तरह जगह बदल-बदलकर, आँखें फाड़-फाड़कर इस

कुहरे के भीतर झाँकने की और कुछ देख पाने की कोशिश कर रहे थे।

''ओ देखिए।'' मल्लजी चिल्लाए।

हाँ, कुहरे के कम पड़ जाने से, दूर झरने की रजत चमक दिखाई पड़ गई थी। रहस्य के भीतरी रूप की एक झलक। वाह, कितनी प्यारी लग रही थी झरने की यह झलक, जैसे पिघली हुई चाँदी छलक रही हो, ऊपर से नीचे की ओर! कहाँ से आ रहा है, कहाँ जा रहा है यह झरना? कहाँ-कहाँ-कहाँ, केवल एक शब्द 'कहाँ' मेरे भीतर गूँजने लगा। कुहरा हिला, और वह दृश्य फिर ओझल हो गया। कुहरा हिलने लगा था और इस तरह एक लय में हिलता हुआ चलने लगा, जैसे वह सजीव और सचेत हो। उसके हिलते ही हम जहाँ खड़े थे-उस ओर की घाटी थोड़ी खुल गई और देखा, किनारे एक पेड़ खड़ा है, अकेला पेड़। पेड़ की डालियों, टहनियों और पत्तों से उलझे हुए कुहरे के सफेद-सफेद अवशेष फूल जैसे लग रहे थे। कुहरे में डूबे, तन्हाई झेलते इस पेड़ को देखकर न जाने कैसा-कैसा लगा।

धीरे-धीरे घाटी के नीचे तक अवकाश हो गया, कुहरा पूरा का पूरा सरककर आगे बढ़ गया और तब लगा कितना लंबा कुहरा है यह। और इस लंबे घने कुहरे का हिलते हुए आगे बढ़ना, फिर पीछे लौट आना, कभी इधर आना, कभी उधर जाना, उसकी गति की अन्विति और सचेतता का अहसास करा रहा था। कुहरे में से झरने की दूसरी धारा भी चमक उठी। टेढ़ी-मेढ़ी, चाँदी की मोटी लकीर-सी धारा। हिलता हुआ लंबा कुहरा घाटी में चक्कर काटने लगा और बारी-बारी से घाटी का हर हिस्सा खुलने और बंद होने लगा और इस प्रक्रिया में हमने पूरी घाटी की गहराई और विस्तार का दर्शन कर लिया। घाटी बहुत बड़ी नहीं है, वह चारों ओर पहाड़ों की दीवारों से घिरी हुई छोटी-सी घाटी है-जो कुहरे के कारण अनंत विस्तारवती लग रही थी। हाँ गहरी कम नहीं थी। कुहरा घाटी में हिलता रहा, फिर एकाएक ऊपर की ओर उठता और पहाड़ों की चोटियों पर छा गया। मल्लजी पंत की कविता गुनगुना उठे–

उड़ गया अचानक लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर
धीरे-धीरे कविता साकार होती गई
धँस गए धरा में सभय-शाल
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल...

अब पूरा यथार्थ सामने था, जो रहस्य की तरह विराट तो नहीं था, किन्तु ठोस और प्रत्यक्ष था। झरने की दो धाराएँ भारी रव से झरती हुई घाटी में गिर रही थीं और पानी नाले की शक्ल लेकर पता नहीं कहाँ चला जा रहा था। नीचे वाटर वर्क्स की कुछ बिल्डिगें नजर आ रही थीं। एक ओर पहाड़ों पर तैरते हुए बादल या उठता हुआ कुहरा दिखाई पड़ रहा था, दूसरी ओर ऊँचाई पर एक चिमनी खड़ी थी जो लगातार धुआँ फेंक रही थी और धुआँ बादलों से टकरा रहा था। प्रकृति और मशीन की संगति या विसंगति का अद्‌भुत दृश्य था–जैसे छायावाद और प्रगतिवाद पास-पास खड़े होकर एक-दूसरे से संवाद या प्रतिवाद कर रहे हों। कल्पना दोपहरी की परछाई की तरह मेरे पास सिमट आई थी और संवेदना, विराट रहस्य के मोहक मायावी बिंबों से गुजरती हुई, समीप यथार्थ के प्रत्यक्ष और गहरे बिंबों के सौन्दर्य से सम्पन्न हो उठी थी। मेरा संपूर्ण अस्तित्व एक नये अनुभव, नये सौन्दर्य- बोध की स्फूर्ति से दीप्त था। हमें इच्छा हो रही थी कि घंटों यहाँ बैठे हुए रहस्य और यथार्थ के द्वंद्व से निर्मित होती हुई छवि को निहारते रहें, किन्तु पानी बरसने लगा और ग्यारह बजे हमें बैठक में भी पहुँचना था। इसलिए हमें टैक्सी में आकर बैठना पड़ा। यंत्र से बनी टैक्सी यांत्रिक समय का इशारा समझती है, धीरे-धीरे वहाँ से सरक चली।

कथा-कहानी

माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो

–रामदरश मिश्र

गाँव से कल ही लौटा हूँ माँ का क्रियाकर्म करके एक अजब सन्नाटा मन में अँटा पड़ा है। नदी के कटे हुए तट, खेतों में खुली हुई दरारें, उजड़े हुए सिवान...ठूँठ होते हुए पेड़...चारों ओर घूमती मृत्यु की गंध...

जनता का मनोबल बहुत ऊँचा है, अपनी सारी कठिनाइयों के बावजूद वह बड़ी बहादुरी से जूझ रही है, मैं जनता के इस वीर भाव से बहुत प्रभावित हूँ...

चौंककर रेडियो पर एक मंत्री जी की आवाज सुनी, वे भी कल ही लौटे हैं सूखा क्षेत्र से उठकर मैंने वॉल्यूम एकदम कम कर दिया और मंत्री जी की गरजती आवाज ऐसी लगने लगी मानो कोई लाचार व्यक्ति दूर से बोल रहा है...हाँ, अब ठीक है यह डूबती आवाज मेरी मन:स्थिति के पास आ गई है और इसमें वह टूटता प्रदेश कहीं अपना साम्य खोज रहा है।

बस से उतरकर गाँव की ओर देखा-सामने एक विशाल भू-भाग अपने समस्त खालीपन से मेरे भीतर उभर उठा। मैं हाथ में बैग लिये कुछ क्षणों तक उदास आँखों से इस विशाल सूने विस्तार को देखता रहा फिर धीरे-धीरे पैदल गाँव की ओर चल पड़ा...

नदी का निचाट कछार... इस रास्ते मैं कई बार आया हूँ इस मौसम में। तब खेत तरह-तरह की फसलों से भरे रहते थे। बाँगर पार के खेतों में अरहर की फसल लपसती रहती थी, किसानों से रास्ते बजते रहते थे, गाँव की लड़कियाँ और स्त्रियाँ हँसती हुई खेतों में उतराई रहती थीं... आज रास्ते सूने हैं। जाड़े की इस उदास दोपहरी में खाली फटी हुई जमीन लेटी है और मैं उदास पगडंडियों से सरकता जा रहा हूँ... माँ मर गई है–मन की उदासी इस विशाल भूभाग की उदासी के साथ मिलकर गाढ़ी हो रही है।

नदी का तट... तट ही तट... पानी की एक रेखा बीच में आहत-सी खिंची है और तट का लम्बा विस्तार यहाँ से वहाँ तक फट गया है।

लोग अब लोग नहीं रहे व्यक्ति बन गए हैं जो कहीं-कहीं नदी में नहा रहे थे, मुझे आता देख सूनी आँखों से ताक रहे थे। तट पर कुछ गन्दे कपड़े सूख रहे थे जिन्हें कुछ नंग-धड़ंग बच्चों ने धोकर फैला दिया था... नाव थकी सी एक किनारे पड़ी थी।

नदी के बाद कछार का बीहड़ इलाका। दूर तक रेत ही रेत...। हर साल बाढ़ आती है, सारी हरियाली निगल जाती है और छोड़ जाती है सन्नाटा, भुखमरी लेकिन रबी के लिए ओदी जरूर दे जाती है। बेबसी और अभाव में भी एक हँसता हुआ सपना।

इस साल बाढ़ नहीं आई, पानी भी नहीं बरसा। खरीफ की फसल जो गई सो गई, रबी की फसल के लिए भी जमीन तैयार नहीं हो सकी। बाँगर और कछार एक से। मगर बाँगर पर बिजली के कुएँ तो हैं, नहरें तो हैं, लेकिन वह कछार एकदम अपने भाग्य पर ठहरा हुआ–पानी तेज बरसा तो उजड़ गया, कहीं कोई सुनने वाला नहीं...

मेरी टाँगों में दर्द हो रहा था, हाँ, पाँच मील लगातार चलकर आया, कोई सड़क नहीं, कोई सवारी नहीं, ऊँची-नीची पगडंडियाँ और टाँगों में दर्द। मंत्री

जी दौरा करने गए थे–बाढ़ क्षेत्र का, सूखा क्षेत्र का, हवाई जहाज, कारें...। पहनाई जाती हुई मालाएँ, जय-जयकार, जनता को देखती नागरिक आँखें... खपरैलों पर उदास धूप में लौकी-कोहड़ों की सूनी बेलें फैली हुई थीं। तिजहर हो गई थी। घर पहुँचा तो पिताजी तीर बाँस लिये बैलों को चरन पर से अलगाते दिखाई पड़े। उनकी दुबली-पतली काया दाढ़ी बढ़ जाने से और भी विषादग्रस्त दिखाई पड़ रही थी। मैं उनके सामने जाकर खड़ा हो गया। गमी में प्रणाम नहीं करते। उन्होंने मुझे देखा, खड़े-खड़े क्षण भर देखते रहे फिर उनके सर्द चेहरे पर एक रेखा उभरी, काँपी और सारा ठहराव टूट गया।

तड़ड़ाक...

मैंने चौंककर देखा...बैल ने पगहा तुड़ा लिया था। पिताजी नहीं चौंके जैसे यह तो सामान्य घटना है। बोले–क्या हो? बैलों का पेट भरता नहीं, पगहा न तुड़ाएँ तो क्या करें। पहले तो दिन में कई बार तुड़ाते थे अब तो गलकर आधे रह गए हैं।

मैं देखता रहा–बैलों के शरीर का मांस गलकर बह गया है, हड्डियाँ ही हड्डियाँ बच गई हैं।

''एक तो मर गया।'' बड़े कष्ट से पिताजी ने कहा।

मैं चुप रहा। पिताजी बोलते गए, ''भयंकर अकाल फैला हुआ है, न पशुओं को चारा मिलता है न मनुष्यों को भोजन।''

''हे राम!'' कहकर पिताजी चुप हो गए और उनकी चुप्पी में न जाने कितनी व्यथाएँ उभर आईं

बस-स्टेशन से देखता आ रहा हूँ–नदी, खेत, गाँव और लगता है कि इस छह मील की सारी उदासी पिताजी की चुप्पी में समा गई है।

पिताजी एक काठ की चौकी पर बैठ गए और मैं एक चारपाई पर। अन्दर से बुआ जी लोटे का पानी लिये निकलीं तो मैं धक्क से रह गया। लगा, माँ लोटे का पानी लिये निकली हो। मन एकाएक कितनी स्मृतियों से भर उठा, कितनी यात्राओं की वापसी और लोटे का जल लिये माँ का निकलना...

''कल ही आई हैं,'' बुआ जी की ओर लक्ष्य करते हुए पिताजी ने कहा। फिर चुप हो गए जैसे किसी भँवर में फँस गए हों।

''तुम्हारी माँ तुम्हें देखने को तड़पती रह गई। उनकी आँखों में अन्तिम दम तक जैसे एक ही प्यास थी–तुम्हें देखने की। तुम समय से न आ सके।''

मेरे भीतर एक हूल सी मारने लगी। माँ की तरल निरीह आँखें मुझमें भर आईं। मैं भीतर-भीतर गलने लगा। मेरे रक्त में बचपन से लेकर अब तक का समय बहने लगा–हर पल में, हर मोड़ पर, हर व्यथा में माँ. .. हर संघर्ष में माँ...। जब से शहर में रहने लगा था माँ अकेली छूट गई पिताजी के साथ। मैं इकलौती संतान परिवार के साथ शहर में।

"तुम्हें मरते समय देख नहीं पाऊँगी।'' हर बार घर जाने पर माँ कहती और हर बार मेरे जाने से पहले बेचैन हो उठती। मैं हँसी में टाल। देता। माँ और भारी हो आती।

मैंने कई बार माँ से शहर चलकर मेरे साथ रहने को कहा था लेकिन वह पिताजी को छोड़कर आने को राजी नहीं हुई और पिताजी खेती-बारी छोड़ने को तैयार नहीं थे।

मेरे भीतर एक पल में कितना कुछ बह गया। एकाएक याद आया कि पिताजी ने कुछ कहा है और मैंने सफाई देते हुए कहा–"पिताजी, मैं अपनी ओर से समय से ही आया किन्तु एक तो यहाँ से चिट्ठी जो पहुँची वह सात दिन में पहुँची। दूसरे, छुट्टी लेने में

और इन्तजाम करने में दो दिन का समय बीत गया और आने में दो दिन।''

''पताल में बसे हुए हैं हम लोग, चिट्ठी-पत्री के आने-जाने में कितना समय बीत जाता है, सरकार तो जानती भी नहीं कि इस देश में यह इलाका भी है...'' पिताजी दुखी स्वर में बोले।

''क्या हुआ था माँ को?''

''बीमारी तो कोई खास नहीं, कुछ पेट वोट का मर्ज था, वह तो पहले से ही था। लेकिन इधर पेट में बहुत तेज जलन होने लगी थी। यहाँ के वैद लोग चूरन देते रहे किन्तु कोई फायदा नहीं हुआ। रातभर चीखती रहीं और एक दिन बस सब कुछ समाप्त।''

मुझे मालूम है कि माँ के पेट में अक्सर दर्द होता था। जब मुझे भी वह दर्द होने लगा तो शहर के डॉक्टरों से मालूम हुआ कि वह हाइपर एसिडिटी है जो मुझे माँ से मिली है। डॉक्टर कहते हैं कि इसके बहुत बढ़ जाने पर पेट में गाँठ पड़ जाती है फिर वह फोड़ा बनकर फूट जाती है और पेट में जहर फैल जाता है... माँ इसी से मरी है... इस रोग में दवा के अलावा काफी दूध चाहिए...

''क्या खाती थी माँ बीमारी में?'' गाँव की हालत जानते हुए भी मैंने अभ्यासवश पूछ दिया।

''क्या खाती थी? अरे यहाँ खाने को और मिलता भी क्या? चना, मटर, मक्का, सत्तू भूजा... और वह भी कहाँ मिलता है इन दिनों? घर पर तो भूख दहाड़ रही है पैसा देने पर भी तो अब कोई अन्न नहीं मिलता।'' पिताजी आहत स्वर में बोले।

तो माँ मर गई मटर और मक्का खाकर। उसे पेट की बीमारी में खाने को अच्छा अन्न भी नहीं मिल सका। मुझे लगने लगा कि माँ की मौत का जिम्मेदार कहीं मैं भी हूँ—न उसकी दवा करा सका और न उसके पथ्य के लिए पर्याप्त पैसे भेज सका।

पैसे की याद आई तो हाथ जेब की ओर चला गया। हाँ, सौ रुपये सही-सलामत हैं। इसी का इन्तजाम करने में तो दो दिन लग गए थे। उसकी भी क्या कमाई है कि मौका पड़ने पर सौ रुपये भी नहीं निकाल सकता।

''पिताजी, ये रुपये लाया हूँ, सौ हैं।''

''ठीक है, जो हैं सो हैं। इस जमाने में किसी तरह काम चलाना है... पैसा देने पर भी सामान कहाँ मिलते हैं?''

पिताजी ने मेरे रुपयों की संख्या पर कोई टिप्पणी नहीं की, कभी नहीं करते। उन्होंने घर के लिए कभी पैसे नहीं माँगे जैसा कि गाँव के लोग अपने घर के कमासुतों से माँगते हैं। वे जानते हैं मेरी मजबूरियों को, शहर में परिवार लेकर रहने वाले एक व्यक्ति की मजबूरियों को।

शहर में राशनिंग चल रही है, रोज रेडियो पर नेताओं के भाषण आते हैं—देश संकट में है, अन्न का अपव्यय नहीं करना चाहिए। समारोहों में एक सौ आदमी से अधिक को नहीं खिलाना चाहिए-यह एक जुर्म है। मगर मैं प्रायः देखता हूँ समारोहों का फैलाव। सौ आदमी बाहर खाते हैं तो चार सौ आदमी परदे के पीछे और नेता लोग देश का काम-धाम छोड़कर इस प्रकार अपव्यय करने वाले धनपतियों के बेटी-बेटों को आशीर्वाद देने जाते हैं। अभी उस दिन मेरे मुहल्ले में रहने वाले एक सेठ की बेटी से मंत्री के बेटे की शादी थी और मैंने जो तमाशा देखा उसे बयान नहीं कर सकता। इसलिए जब रेडियो पर नेताओं के भाषण आते हैं, रेडियो बन्द कर देता हूँ, स्वार्थी, बकवासी, देशद्रोही। तिजहर ढल रही थी, मैं पास के गाँव के बाजार के लिए निकल पड़ा, धीरे-धीरे चीजें खरीदनी

हैं न। गाँव के बीच में होता हुआ जा रहा था, भयंकर सन्नाटा। मुझे याद हो आई बचपन में देखे हुए प्लेग की। गाँव में भयंकर सन्नाटा जैसे अभी-अभी कोई तूफान गुजरा है। लोग मुझे देखते थे, प्रणाम आशीर्वाद होता था। सब कुछ एक अजनबी की तरह। कुछ लोग दीवार से सटे हुए धूप के सहारे बैठे अपने मैले कपड़ों में से चीलर निकाल रहे थे, कुछ औरतें एक-दूसरे के सिर से जूँ निकालकर मार रही थीं, कुछ उपले पाथ रही थीं, गुड़साल सूना था, उसमें घुसकर एक कुत्ता लेटा हुआ था। दरवाजे दरवाजे पर बच्चे खाली कटोरे लिये रो रहे थे या रोकर थक गए थे–पेट निकले हुए, हड्डियाँ उभरी हुईं, आँखों में एक थका अन्धकार।

लोग धीरे-धीरे बाजार की ओर निकल रहे थे जैसे खेत में खड़े किए गए धोखे चल रहे हों। गाँव के बाहर हुआ, सामने खेत बोये-अनबोये पड़े थे।

''खेत अनबोये पड़े हैं,'' मैं अपने आप से बातें करने लगा था।

''पालागी बबुआ।'' आगे-आगे सरकती हुई एक आकृति पीछे मुड़कर बोली, ''बबुआ, जब कुछ होना ही नहीं है तो घर में जो दो-चार दाना रखा हुआ है उसे भी कौन बरबाद करे?'' फिर वह हाँफने लगा।

''दुधई, अरे तुम!''

''हाँ, मालिक।''

''कहाँ से?''

''अब का बताएँ बबुआ, मजूरी-पताई तो मिलने की नहीं। चम्पारन का एक आसरा होता था। इस समय हम लोग वहीं जाकर धान-वान काटते थे, दिन गुजर जाते थे। सुना है वहाँ भी सूखा पड़ा है। कुछ काटने-ढोने को रहा ही क्या?... अब बबुआ, खाने बिना हम लोग तड़पकर मर रहे हैं, यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ घूम रहे हैं कुछ पाने के जोगाड़ में।''

''इस गठरी में क्या है दुधई?''

''अब का बताएँ मालिक, अब तो इसी का सहारा रह गया है न... पेड़ की छाल है।... लेकिन बबुआ हम लोगों के पास पेड़ भी तो नहीं हैं। किसी के पेड़ की छाल काटो तो गाली-मार सहनी पड़ती है।''

पेड़ की छाल आदमी खाता है-कितना अमानुषिक। उफ! लेकिन मेरे लिए मानव की यह बेबसी नई नहीं है। मैंने उसके कई रूपों, रंगों के बीच से यात्राएँ की है–-गोबरहा-पशुओं के गोबर में से अन्न के दाने निकालकर खाना क्या कम बेबसी है? हमारे यहाँ के हलवाहे खाते हैं और हम समाजवाद, मानवतावाद, प्रजातंत्र आदि का नारा लगाते नहीं अघाते। दुधई मेरा हलवाहा है, मैं मर्माहत-सा बाजार चला जा रहा था और वह धीरे-धीरे मेरे पीछे सरक रहा था जैसे कोई प्रेत।

''कें कें कें''–

पेड़ पर एक बड़ा पक्षी छोटे पक्षी को दबोचे हुए था।

मैं विचलित होकर देख रहा था।

''आ का देख रहे हैं मालिक! चिरई-चुरुमन भी अपना धरम खो बैठे हैं। खेतों के ऊपर उड़ते रहते हैं, कहीं कोई दाना दिखाई नहीं पड़ता, पटपटाकर मर रहे हैं। क्या करें, अपनी जाति के छोटे-छोटे पक्षियों को मारकर पेट की आग बुझा रहे हैं।''

चें चें चें-स्वर धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया।

चाँय-चाँय-चाँय-चाँय ढलती धूप सूअर के चीत्कार से और भी उदास हो आई। एक श्मशान सहसा चिल्लाता हुआ मालूम पड़ा।

''चमरौटी के चमार एक सूअर मार रहे हैं, अब सूअर ही सहारा रह गए हैं। रोज दो-एक कटते हैं।

चमरिया की पूजा हो जाती है और पेट की भी पूजा।'' दुधई ने फिर पैलगी की और डगमगाता हुआ अपनी झोंपड़ी की ओर बढ़ गया। मैं सूनी हरिजन बस्ती के बीच से धीरे-धीरे बाजार की ओर बढ़ गया।

बाजार में पहले से ज्यादा भीड़ थी लेकिन शोर नहीं था। लोग एक-दूसरे के लिए अजनबी से घूम रहे थे, बेकार थे, काम ही क्या था? लेकिन लेन-देन का शोर नहीं उठ रहा था। बनिया दुकान पसारे बैठे थे और लोग अपनी खाली जेबों में हाथ डाले सामने से गुजर-गुजर जाते थे। कुछ बनिया से उधार के लिए चिरौरी कर रहे थे और बनिया अपनी असमर्थता के साथ झिड़क रहा था।

मैं अँ अँ अँ अँ–

चिक्क खसी को रेत रहा था। थाने के सिपाही जी, किसी साहब के चपरासी जी, बाबू साहब के खवास जी और कुछ बाहर से आए हुए देहाती बाबूजी लोग उसके आसपास घिरे थे। कुत्ते बहते हुए खून के लिए लड़ते हुए आपस में कटाक्ष कर रहे थे और पेड़ से बँधे कुछ बकरे आँखों में अजब भय भरे सब कुछ देख रहे थे। चील ऊपर चक्कर काटती हुई टिहा रही थी, बाजार थर्रा उठता था।

भर्र भर्र भट भट भट–

एक शोर बाजार के सन्नाटे को कुचलता हुआ आया।

बाबू साहब हैं, छावनी पर आ रहे हैं, देखा नहीं उनका खवास गोश्त खरीद रहा है।

मैंने बाबू साहब को फिर देखा–और मोटे हो गए हैं। उनके भार से मोटरसाइकिल के पहिये कराहते से लग रहे हैं। उनके साथ एम.एल.ए. साहब भी हैं–कल कोई सभा है कांग्रेस की जिसमें भूखी जनता को उपदेश पिलाया जाएगा–हाँ, बाबू साहब को इस बार कांग्रेस चुनाव टिकट देने वाली है।

तो क्या बाबू साहब कांग्रेसी हो गए हैं? जमींदार बाबू साहब...। जमींदारी टूटने लगी तो बहुत से खेत बेचकर व्यापार में लगा दिया, अब कई कारखानों के मालिक हैं और कांग्रेसी भी। एक जमींदार, एक व्यापारी, एक कांग्रेसी, सभी कुछ एक ही व्यक्ति में...बाबू साहब।

पुलिस के सिपाही, एक सरकारी साहब तथा और बहुत से देहाती बाबू लोग छावनी की ओर बढ़ गए और भूखी जनता दुकानों के आस-पास चक्कर काटती रही...। एक औरत को जड़इया आ रही थी, उठकर कुछ सौदा लेने आई थी, बाजार में ही गिरकर काँपने लगी और एक बूढ़े आदमी की सूखी खाँसी ने इतना जोर मारा कि कटते हुए बकरे की तरह उसकी आँखें छटपटाने लगीं और एक पेड़ का आसरा लेकर जमीन पर पसर गया।

शाम होते ही गाँव में मौत का सन्नाटा छा गया–न कोई खेतों की ओर गया, न अलाव के पास जमघट इकट्ठा हुआ। लोग अपने घरों के अँधेरे में डूब गए। बहुत से घरों में न चिराग जले न चूल्हे। रात शाम को ही गहरी हो गई और अपने भारी डैनों के नीचे जमीन के सारे खालीपन को ढँकती गई।

पिताजी तीर-बाँस लिये चौकी पर लेटे थे और मैं चारपाई पर कम्बल ओढ़े वे रह-रहकर बातें करते थे और फिर डूब जाते थे किसी प्रदेश में और मैं भी रात के सन्नाटे में भारी हो रहा था। अँधेरे में हम दोनों अलग-अलग एक ही व्यथा में डूब रहे थे... माँ। पिताजी की आँखों के सामने उभरते अकेलेपन का मैं अनुभव कर रहा था। लम्बी यात्रा के एक ठहराव पर आकर सहयात्री ने साथ छोड़ दिया। किन्तु यात्री को अभी और दूर जाना है न जाने कहाँ तक और वह

अकेला है। अब मुड़-मुड़कर पीछे की ओर देख लेता है तब यात्रा और भारी हो उठती है।

मुझे लगता था कि अब माँ निकलेगी लोटे का पानी लेकर और पास घंटों बैठी हुई मेरा हालचाल पूछेगी, सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेरती हुई बच्चों के बारे में ढेर सी बातें करेगी...

घंटों बीत गए नींद नहीं आई। चौंक पड़ा–पिताजी शायद रो रहे थे। मैंने सो जाने का बहाना किया इसलिए उनके रोने में कोई विघ्न नहीं पड़ा। हबसते रहे, उनका दर्द बहता रहा और मैं अपने दर्द को भीतर दबाए मुँह कसे रहा। लगा कि मैं भी रो पड़ूँगा लेकिन अपने को पकड़े रखा और मेरी व्यथा भीतर ही भीतर जमती गई। सुबह आठ बजे घर से बगीचे की ओर निकला। सफाचट मैदानों पर निरवलंब गिरा हुआ कुहरा अब भी छाया हुआ था, धूप असहाय सी उसके भीतर रेंग रही थी, कुछ लोग दीवार पर चिपकी धूप से सटे थे, उनके चेहरों से लगता था कि रात अपनी पूरी आर्द्रता और अन्धकार से उन पर मोटी-मोटी रेखाएँ खींचकर गुजरी है।

मुझे अपना बचपन याद आ गया और डंक मारती हुई सुबहें, रातें मुझमें से तेजी से गुजर गईं, गरम कोट के भीतर मुझमें कँपकँपी होने लगी। ''दुधई मर गया।'' कोई बोला।

''मर गया?'' चलते-चलते मैं रुक गया। अभी कल ही तो उसे देखा था।

आज रात को टें बोल गया भइया। बहुत भला आदमी था।

भला-बुरा होने से क्या होता है मौत के सन्दर्भ में? हर मरने वाले के लिए भला शब्द सुनने का अभ्यास पड़ गया है हम लोगों को।... लेकिन दुधई सचमुच भला आदमी था। लेकिन वह भला न होता तो भी मुझे कष्ट तो होता ही। मेरा हलवाहा था वह और उसके साथ मैंने जीवन को अनेक सन्दर्भों में देखा है...।

''गाँव के दो हरिजन और मर गए।'' एक आदमी बोला।

''और किसी को खबर नहीं।''

''मरना कोई अजीब बात रह गया हो तो खबर हो, अब तो मौत हर दरवाजे पर धरना दे रही है... कौन कब चल देगा क्या खबर?... और जाड़े की रात में किसी के रोने-धोने की आवाज उठती भी है तो भीगे हुए अन्धकार में उलझकर रह जाती है।''

मैं आगे बढ़ा। एक कुत्ता रास्ते पर ठंडक से मर गया था और सवेरे-सवेरे कौओं की काली-काली भीड़ उसके आसपास मँडरा रही थी।

माँ का काम हो गया। बहुत संक्षेप में सारी क्रिया की गई। मेरे मन में बहुत पहले से कर्मक्रिया की इस परिपाटी के विरुद्ध-खासकर महापात्रों वाले विधान के खिलाफ विद्रोह था। लेकिन गाँव में ये सारी क्रियाएँ निभानी पड़ीं। आलोचनाएँ होने लगीं कि मैंने माँ का काम बिगाड़ दिया कि कुछ खर्च-वर्च नहीं किया, वैसी पुण्यात्मा के काम-काज में काफी टीम-टाम होना चाहिए था।... मैंने चुपचाप सब कुछ सह लिया और एक बार गुस्से से कुछ लोगों को सुना दिया कि भीड़-भाड़ देखनी हो तो चले जाओ मंत्रियों, नेताओं और सेठों के यहाँ चलने वाली शादियों में। इस अन्न-संकट के जमाने में अन्न-धन का अपव्यय करने के लिए मुझ जैसे आदमी के पास न तो पैसे हैं और न नैतिक साहस।

पड़ोस की चाची बीमार थीं, वे माँ की सखी थीं। दोनों को प्रायः साथ देखा था।...मैं उन्हें देखने गया था, एक दुर्बल काया खाट पर लेटी पड़ी थी। तन पर एक मैली सी फटी गूदड़ी। चाचा उनके पास गाल पर हाथ

धरे बैठे थे। उस घर में और कोई नहीं है। एक लड़का है मन्ना जो कलकत्ता के किसी जूट मिल में काम करता है।

''चाची को क्या हुआ है?''

''अब क्या बताएँ बच्चा, कल तो ठीक थी, लगता है रात को ठंडक लग गई है।''

''एक ही दिन की बीमारी में चाची ऐसी लट गई?'' चाचा की आँखें एक बार बहुत भारीपन से ऊपर को उठीं फिर अपने में लौट आईं। कुछ रुककर अटकते हुए से बोले, "बीमारी तो एक दिन की है बच्चा, लेकिन भूख तो कई दिन की है न।''

चाची कराहीं, उनकी आँखें ऊपर को उठीं। मैं धक्क से रह गया—माँ की दृष्टि, वही करुणा, वही व्यथा, वही आर्द्रता...।

मन्ना को देखने की रट लगाए है लेकिन बेचारे के पास आने का किराया हो तब न।'' चाचा बोले।

चाची कराहकर बोलीं, "बेटा, सखी तुम्हें देखने की प्यास लिये अन्तिम दम तक छटपटाती रहीं। कितनी भली औरत थी, गाँव सूना हो गया।''

चाची की दृष्टि मेरे भीतर चुभती चली जा रही थी। ओह, माँ भी ऐसे ही मरी होगी, ऐसी ही दिखी होगी—वही व्यथा, वही करुणा, बेटे को देखने की वही प्यास...। एक खाली हाँडी गिरी और चूर-चूर हो गई। शायद अन्न की तलाश में किसी चूहे ने गिरा दिया है। मेरी इच्छा हुई कि पाँच रुपये दे दूँ चाची के लिए... माँ बहुत याद आ रही थी। हाथ कई बार पॉकेट पर गया लेकिन मैं रुपये नहीं निकाल सका...अभी लौटना भी तो है।

चाची के पास से धीरे-धीरे लौट आया। मैंने पिताजी से बहुत आग्रह किया कि वे मेरे साथ चलकर रहें। अब यहाँ क्या रखा है?

पिताजी कुछ चुप होते हुए से बोले, "हाँ, रखा तो कुछ भी नहीं है मगर अपनी खेती-बारी तो है, अपना पुश्तैनी मकान तो है।''

''बेच दीजिए इन्हें?''

''राम-राम, कैसी बात करते हो बेटा, पुश्तैनी चीज कहीं बेची जाती है?''

''लेकिन पिताजी सोचिए, आपके बाद इनका क्या होगा? क्या मेरे बच्चे यहाँ आएँगे खेती-बारी कराने?''

''हाँ, नहीं आएँगे तो मेरे मरने के बाद बेच देना, मैं कैसे छोड़ सकता हूँ।''

पिताजी नहीं माने। मैं उन्हें अकेला छोड़कर शहर लौटने लगा... सुना चाची मर गई, चाचा अकेले भोंकर-भोंकर रो रहे हैं। चाची मर गई, मेरे पाँव चलते-चलते ठिठक गए—चाची की आँखों में वही माँ की आँखें। मैं माँ को नहीं देख सका लेकिन चाची की आँखों में उसे देख लिया। गाँव की बहुत सी औरतें बीमार हैं, हर औरत माँ है, मुझे हर औरत की तड़प में माँ की तड़प दिखाई दी।... अभावों से घिरा स्तब्ध वायुमंडल, इसमें भटकती मृत्यु की गंध और घर में दम तोड़ती एक माँ...माँ, मैंने तुम्हें देख लिया...!

मेरे रुके हुए पाँव फिर चल पड़े और गाँव के बाहर हो गए। धीरे-धीरे छूटने लगे सिवान पर खड़े अकेले पिताजी, सूने-सूने गाँव... फैली रेत... दरारों-भरा नदी का तट...। एकाएक बच्चे ने आकर रेडियो तेज कर दिया, ''लेकिन लोग बहुत मनोबल से लड़ रहे हैं, उनमें बड़ी शक्ति है, किसी को भूख से मरने नहीं दिया जाएगा।''

उठकर मैंने खटाक से रेडियो बन्द कर दिया और कुछ जरूरी काम निबटाने में जुट गया।

काला हंस

–प्रदीप देवीशरण भट्ट

सुनो तुम काले हंस सरीखे हो गये हो, सुदीप ने चौंक कर सुदीप्ता को देखा जैसे जानना चाह रहा हो कि शादी के इतने दिनों बाद मैं तुम्हें सफेद हंस न लगकर काला हंस सरीखा क्यूँ लगने लगा हूँ।

इससे पहले कि सुदीप कुछ बोलता सुदीप्ता ने हाथ के इशारे से उसे अपने पास सोफे पर बैठने के लिए कहा और उसके हाथ में कॉफी का मग पकड़ा दिया। सुदीप्ता का यही अंदाज़ था, उसे जब भी कोई खास बात करनी होती थी तो पहले उसके और अपने लिए कॉफी बनाती फिर चिन्हित मगों में कॉफी उँड़ेलती, फिर किचन से निकलते हुए सुदीप को इसी तरह किसी न किसी नये नाम से सम्बोधित करती थी।

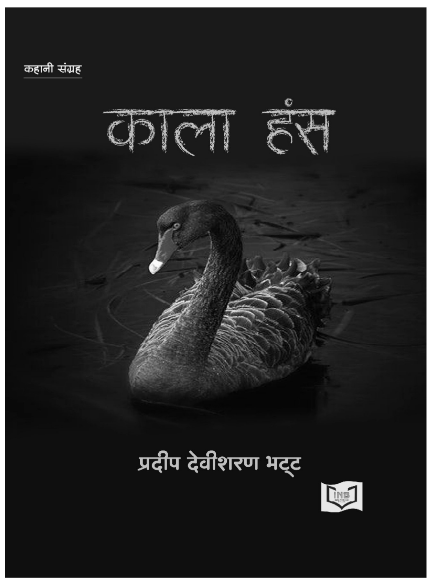

आज भी कुछ ऐसा ही था, प्रणव और सुरभि अपने अपने ऑफिस जा चुके थे। सुदीप की आज दूसरे शनिवार की छुट्टी थी इसलिए सुदीप्ता ने आज सुदीप से कुछ खास बात करने का मन बनाया और पूर्व की भाँति कॉफी बनाकर किचन से सुदीप को काले हंस का सम्बोधन दे डाला। सुदीप जब सुदीप्ता के पास सोफे पर बैठा तो सुदीप्ता ने बड़े ही आत्मीय अंदाज़ में कहा—क्यूँ आज मेरा सम्बोधन पसंद नहीं आया तुम्हें।

सुदीप ने कॉफी की चुस्की लेते हुए कहा, नहीं ऐस कुछ भी नहीं है सुदी किंतु शादी के तैंतीस वर्षो में इस तरह का नामकरण तुमने पहले कभी नहीं किया। मुझे तो सिर्फ सफेद हंस के विषय में ही पता है, काले हंस के विषय में मुझे ज्यादा जानकारी नही है। खैर तुम्हारी दी हुई हर चीज़ बड़े करीने से सम्भाल कर रखी हुई है फिर वो पैन हो, जींस हो, टी शर्ट हो या कि खूबसूरत नामकरण ही। आज तुमने काला हंस कहा है तो इसके पीछे भी कोई न कोई लॉजिक तो होगा ही। खैर अपनी तो आज छुट्टी है और बच्चे भी अपने अपने कामों पर चले गये, हम दोनों ही दिन भर घर में रहेंगे। तुम तसल्ली से आज किये गये नाम नामकरण पर व्याख्यान देना। बच्चे तो तुम्हारी सुनने से रहे तो अब मैं ही एक गरीब बचा हूँ चलो शुरू करो। सुदीप्ता ने हँसते हुए कहा, नहीं पहले घर के काम निपटा लूँ फिर तुमसे तसल्ली से बात करूँगी।

दोपहर का खाना खाने के बाद सुदीप और सुदीप्ता फिर आमने सामने पड़े सोफे पर बैठ गये। सुदीप्ता को इस बात का अहसास हो चुका था कि उसने सुदीप के इतने सारे नामकरण किये उसने सभी नामकरण हँसते-मुस्कुराते हुए स्वीकार कर लिये थे किंतु इस बार "काला हंस" कहते ही उसने सुदीप्ता को जिन विशेष नज़रों से देखा था वो अभी तक उसके चेहरे पर गड़ी हुई महसूस हुईं। वो जल्द से जल्द काला हंस कहने के पीछे की वजह जानने का बहुत उत्सुक था। जब थोडी देर तक सुदीप्ता ने कुछ भी न कहा तो सुदीप ने स्वयं ही कहा अब बोलो भी देवी ऐसे कब तक मुझे हलकान किये रहोगी। सुदीप्ता ने गौर से सुदीप को देखते हुए कहा, क्या बात है पति देव आज आप कुछ ज्यादा ही क्यूरेसिटी नहीं दिखा रहे। सुदीप ने दाएँ हाथ से बालों को पीछे धकलेते हुए कहा, अगर तुमने मुझे सिर्फ हंस कहकर पुकारा होता तो कोई बात नहीं थी किंतु तुमने काला हंस कहा तो मुझे चौंकना पड़ा क्यों कि ज्यादातर लोगों को

तो पता ही नहीं होगा कि हंस काला भी होता है। मेरी जानकारी के अनुसार काले हंस का वैज्ञानिक नाम सिग्नस अट्रैट्स (CygnusAtratus) जिसे हम लोग आम भाषा में ब्लैक स्वान कहते हैं। जनरली ये ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण पूर्वी और दक्षिण पश्चिम क्षेत्रों में मिलने वाली हंस की एक जाति है। ये ज्यादातर अपना स्थान बदलता रहता है या यूँ कहूँ तो ज्यादा बेहतर होगा कि ये भारत में पाई जाने वाली खाना-बदोश जाति से मिलता जुलता है। तभी सुदीप्ता ने मुस्कुराते हुए कहा, कहीं ने भारतीय खानाबदोश जाति के मामा का लड़का तो नहीं। इतना सुनते ही सुदीप खिलखिलाकर हँस पड़ा। अच्छा मेरा डॉयलाग मुझे ही चिपका दिया।

सुदीप्ता ने सुदीप की तरफ देखते हुए कहा चलो पहले तुम ही सारी जानकारी दे दो फिर मैं बताऊँगी कि मैंने तुम्हें आज काला हंस कहकर क्यूँ पुकारा। सुदीप ने सोफे पर ही पालथी मारकर दीवान पर रखा हुआ गोल तकिया अपने घुटनों पर रखते हुए कहा, ज्यादा तो नहीं हाँ थोड़ी-बहुत जानकारी जरूर है सुदी।

काले हंसों के पैर भूरे या काले होते हैं, इनकी चोंच लाल भी हो सकती है और पीली भी। नर (कॉब्स) (मादा) पेन हंस से थोड़ा बड़े होते हैं। एक मैच्योर काला हंस लगभग 110 से 145 सेंटीमीटर तक का हो सकता है। इनका सामान्य वजन 7 से 9 किलोग्राम का होता है। इनके पंख 5 से लगभग साढे छः फीट के हो सकते हैं अगर इनकी गर्दन की बात की जाए तो ये अंग्रेजी के एस एल्फाबेट की तरह होती है।

नर हंस सीटी भी बजा सकता है, जब ये बिगुल की तरह ध्वनि उत्पन्न करता है। काले हंस ज्यादातर ताजे या खारे पानी की झीलों में रहते हैं। सुदीप्ता ने देखा सुदीप आँख बंद कर लगातार काले हंस के विषय में जानकारियाँ साझा कर रहा था अब उसे लगा उसने तो एक घटना मात्र से सुदीप को काला हंस कहकर पुकारा था उसे क्या पता था कि सुदीप को काले हंस के विषय में इतनी सारी जानकारी है।

सुदीप्ता ने अचानक कहा सुदीप कॉफी पीओगे। अचानक हुए व्यवधान से सुदीप ने आँखे खोली फिर सुदीप्ता को देखते हुए पूछा आज दिन में इस समय कॉफी, सब ठीक तो है देवी। सुदीप्ता ने प्यार से सुदीप को देखते हुए कहा, नहीं कुछ खास नहीं बस ऐसे ही मन किया कॉफी पी जाए तो मुझे लगा तुमसे भी पूछ लूँ वैसे भी हम दोनों कभी अकेले तो कॉफी पीते नहीं। सुदीप का इशारा मिलता ही सुदीप्ता तुरंत किचन की ओर चली गई। इधर सुदीप अभी भी असमंजस में था कि सुदीप्ता ने आज उसे काला हंस कहकर क्यूँ पुकारा।

थोड़ी देर बाद सुदीप्ता चिन्हित मगों में कॉफी लेकर आ गई फिर सुदीप को कॉफी देते हुए बोली काले हंस के बारे में और कुछ खास जानकारी है या बस हो चुका। सुदीप ने कॉफी की चुस्की लेते हुए कहा नहीं मोटा मोटी तो बस यही है। वैसे भी काफी पहले एक आर्टीकल पढ़ा था काले हंस के बारे में तो वही आँखें बंद कर याद करने की कोशिश कर रहा था।

अच्छा एक बात बताओ मेरी जानकारी से तुम कुछ इम्प्रेस हुई या नहीं। सुदीप्ता ने सुदीप को देखते हुए कहा, ऐसा कुछ नहीं है सुदीप मैं तो तुम्हारी नॉलिज से कॉलिज टाइम से ही प्रभावित रही हूँ। तुम हमारे ग्रुप के पढ़ाकू लड़कों में से एक थे। मुझे याद है तुम इंट्रोवर्ट (Introvert) तभी तक थे जब तक कि तुम्हें तुम्हारा मन पसंद विषय न मिल जाए। एक बार तुम्हारा मनपसंद विषय चर्चा के लिए चयनित हुआ नहीं कि फिर तुम्हें रोकना कितना मुश्किल होता था। तुम बाल की खाल निकालने में एक्सपर्ट थे।

शायद तुम्हारी इसी खूबी से मैं इम्प्रेस हो गई थी और तुम्हें अपना दिल दे बैठी। सुदीप ने बीच में टोकते हुए पूछा ये तुमने शायद क्यों कहा, सुदीप्ता बोली शायद इसलिए कि रूप-रंग, कद-काठी से तो किसी के पास है या किसी के पास नहीं है किंतु ऐसे कितने होते हैं जिनके पास इनके साथ-साथ तेज और तार्किक बुद्धि भी होती है। तुम ऐसे ही विशेष लोगों में से हो सुदीप इसलिए मैं

तुम्हारी तरफ आकर्षित हुई और आज तुम्हारी पत्नी हूँ, दो बच्चों की माँ भी हूँ।

सच कहूँ तो मुझे इतने बरस में तुमसे कभी कोई शिकायत नहीं रही इसका भी कारण है तुम बहुत संतोषी स्वभाव के भी हो। तुम चादर के अंदर ही रहते हो कभी भी अनधिकृत चेष्टा नहीं करते। तुम्हारे लिए परिवार ही सब कुछ है। तुम परिवार के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार रहते हो किंतु स्वयं के लिए सदैव की भाँति सब कुछ सह जाते हो। पिछले तैंतीस वर्षो में मैंने यही सब नोट किया है। कोई तुम्हें कुछ कहे या सुने फिर चाहे वो घर हो या बाहर तुम शांत रहते हो किंतु बात यदि मेरी या बच्चों पर हो तो तुम्हारा रौद्र रूप बाहर आ जाता है। पिछले दिनों कुछ ऐसा ही हुआ जिसके विषय में मैं ये सोचकर खुद को समझाने का यत्न कर रही थी कि तुम तो सफेद बुर्राक हंस की मानिंद हुआ करते थे जो दुग्ध और पानी को अलग करने की कला जानता था किंतु पिछले कुछ वर्षो में तुम्हारा व्यव्हार कभी-कभी एक दम बदल जाता है।

सुदीप ने सुदीप्ता के चेहरे पर नज़रें गड़ा दीं फिर कुछ देर रुककर बोला मैं कुछ समझा नहीं, तुम कहना क्या चाहती हो सुदीप्ता।

सुदीप्ता ने मुस्कुराते हुए कहा सुदीप काले हंस के विषय में दो-तीन बातें और मैं तुम्हें बताती हूँ। तुम जानते हो काला हंस, कई अन्य जल पक्षियों की तरह, अपने सभी उड़ान पंखों को एक निश्चित समय के बाद खो देता है। सुदीप को प्रश्नवाचक दृष्टि से अपनी ओर ताकता पाकर सुदीप्ता ने आगे कहा जब मादा हंस प्रजनन करती है तो उसके बाद उसके पंख गल जाते हैं, तब ये लगभग एक माह तक उड़ने की स्थिति में नहीं होती तब अपनी सुरक्षा के प्रति सचेत होते हुए मादा हंस बड़ी-बड़ी झीलों या नदियों को अपना डेरा बना लेती है ताकि ये अपनी और अपने बच्चों की रक्षा कर सके।

इस दौरान अगर कोई इन्हें वहाँ से विस्थापित करने की चेष्टा करे तो ये बेहद आक्रामक हो जाती हैं इस समय इनका साथ नर हंस भी देता है। तुम्हें जानकर आश्चर्य होगा कि ये एक साथ कई व्यक्तियों से लड़ने का साहस कर लेते हैं। इनके पंख इतने मजबूत होते हैं कि अगर उनकी चोट किसी व्यक्ति के हाथ या पैर पर पड़े तो एक बडा फ्रैक्चर हो सकता है। ये सिर्फ व्यक्तियों को ही नहीं वरन जल में रहने वाले अन्य जीवों से भी इसी प्रकार अपनी और अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। सुदीप्ता की आँखें खुली हुई थी और वह अपने ही फ्लो में कहे जा रही थी तभी सुदीप की आवाज़ ने उसे चौंका दिया। सुदीप्ता ने सुदीप को देखकर पूछा क्या हुआ। सुदीप ने कंधे उचकाते हुए कहा कुछ नहीं, मैं ये जानना चाहता था कि तुमने आज मुझे काला हंस कहकर क्यूँ पुकारा लेकिन हम दोनों उस विषय में बातचीत न करके काले हंस पर चर्चा किए जा रहे हैं।

सुदीप्ता ने मुस्कुराते हुए कहा, तुम ठीक कह रहे हो सुदीप किंतु अगर मैं तुम्हें काला हंस न कहती तो मुझे भी पता कैसे चलता कि तुम्हें काले हंस के विषय में इतनी जानकारी है और थोड़ी बहुत मुझे भी खैर पिछला जिक्र करना तो ज़रूरी नहीं है किन्तु सुरभि के विषय में पिछले दिनों कुछ ऐसा हुआ जिसकी जानकारी तुमने मुझे आज तक नहीं दी। परसों जब सुरभि ने मुझे बताया तो मुझे गुस्सा तो बहुत आया लेकिन फिर ये सोचकर कि तुमने कुछ सोचकर ही मुझसे ये सब छुपाया होगा मैं शांत रही किंतु कल हंस के विषय में नेट पर पढ़ रही थी तो काले हंस के विषय में जानकारी मिली और मैंने तुम्हें व्यंग्य स्वरूप काला हंस कहकर सम्बोधित किया।

कुछ देर सुदीप्ता खामोश रही फिर बोली कॉलिज के दिनों में जब एक प्रोफेसर शम्सुद्दीन ने मुझे मोलेस्ट करने की कोशिश की थी तब मैंने ये बात अपने घर वालों को बताई थी, छोटे भाई प्रवीण को बहुत गुस्सा आया था उसने उस प्रोफेसर के हाथ पैर तोड़ने की धमकी दे डाली थी। पापा और माँ ने उसे समझाया कि ऐसा करने से सुदीप्ता की ही बदनामी होगी, वैसे भी वो मेरा अंतिम वर्ष था इसलिए किसी तरह का कोई विवाद उत्पन्न न

हो पूरे परिवार ने ही मुझे सम्भल कर रहने के लिए कहकर इस मामले से पल्ला झाड़ लिया अलबत्ता प्रवीण ने मुझे यूनिवर्सिटी छोड़ने और लेने के स्वयं ही अपनी ड्यूटी लगा ली थी।

कुछ दिनों बाद जब मैंने तुमसे ये बात शेयर की तो तुमने भी सहेलियों के साथ ही कहीं आने जाने के लिए कह दिया, सच बताऊँ मुझे उस दिन बहुत बुरा लगा था। मैंने पी.एच.डी के लिए बनारस से दिल्ली जाने का निर्णय लिया जिसे परिवार में सभी ने स्वीकार कर लिया।

पी.एच.डी. के दौरान ही मुझे पता चला कि उन प्रोफेसर महाशय की उनके घर में ही तबियत से धुलाई की गई और उसी अवस्था में कुछ फोटोस भी लिए थे ताकि प्रोफेसर साहब बाकी सभी स्टूडेंट से इज्ज़त से पेश आएँ। मुझे लगा था ये काम प्रवीण और उसके दोस्तों का है किंतु बहुत बाद में पता चला ये कारगुज़ारी तुम्हारे अकेले की थी। सुदीप ने सुदीप्ता को बीच में टोकते हुए कहा कि ये सब बीती बातें हैं मैंने वही किया जो मुझे ठीक लगा। मैं आज भी वास्तव में अच्छा ही हूँ किंतु इस तरह की हरकत अगर उस प्रोफेसर ने किसी और परिचित के साथ की होती तो मैं तब भी ऐसे ही रियेक्ट करता मैं इसमें कुछ भी गलत नहीं मानता। अच्छा होने का मतलब कायरता नहीं है और कायर मैं न तब था न अब हूँ। मुझे अपने माता-पिता, भाई बहनों से अगाध प्रेम रहा है। परिवार के बाद सिर्फ तुम थीं जिसके लिए मैं कुछ भी कर सकता हूँ और अब तो घर में बेटा है बेटी है और तुम तो हो ही। अगर तुममें में किसी के साथ भी कुछ गलत होगा तो मैं आज भी वैसे ही रियेक्ट करूँगा जैसे पैंतीस बरस पहले किया था।

सुदीप्ता ने फिर सुदीप की तरफ देखकर कहा सुदीप मुझे तुम पर गर्व है। सुरभि बहुत समझदार है, धैर्यवान है और ब्रेव भी, शायद ये गुण उसे तुमसे ही मिला है। उसी ने मुझे बताया कि प्रणिता के साथ कुछ अनिष्ट होने वाला था किंतु तुमने पैंतीस साल वाला अपना रूप फिर अख़्तियार कर लिया और स्थिति को बेहतर ढंग से सम्भाल लिया। प्रणीता हमारे घर की बहू बनने वाली है, तुमने पिता और ससुर का फर्ज़ पहले ही निभाना शुरू कर दिया।

सुदीप ने सुदीप्ता को अपने पास बैठने के लिए कहा फिर उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, देखो सुदीप्ता मैं रिश्तों के प्रति शुरू से ही सेंसेटिव रहा हूँ। दो साल पहले जब प्रणव ने प्रणिता को हम सबसे मिलवाया था मैंने तभी से उसे अपने घर की बहू मान लिया था। मैंने प्रणिता को बहू माना है उसको वो सब अधिकार इस घर में हासिल होंगे जो एक बेटी को होते हैं। वो इस घर में बहू बनकर ही आएगी अब ये उसे तय करना है कि वो सिर्फ बहू बनकर रहना चाहती है या फिर बहू और बेटी दोनों। वैसे तो मैंने सुरभि और प्रणिता दोनों को इस विषय में किसी से भी कोई बात न करने के लिए कहा था किंतु मैं जानता था वो आज नहीं तो कल तुमसे उस घटना का जिक्र अवश्य करेगी। ये इत्तिफाक ही था कि पिछले साल सुरभि और प्रणिता को आई आई टी पवई, मुम्बई में अपना शोध प्रस्तुत करने के लिए जाना पड़ा और मुझे अपने काम से।

चूँकि दोनों ही आई आई टी कैम्पस के गेस्ट हाऊस में रुकी हुई थीं तो मैं भी अपना काम निपटाकर दोनों को सरप्राइज़ देने के उद्देश्य से उनसे मिलने चला गया। मैंने जानबूझ कर उन्हें फोन नहीं किया ताकि दोनों मुझे देखकर चौंक जाएँ किंतु कभी-कभी कुछ ऐसा हो जाता है कि आप सरप्राइज़ देने जाते हैं और खुद सरप्राइज़ हो जाते हैं। मेरे गेस्ट हाउस पहुँचने के लगभग एक घंटे बाद सुरभि और प्रणिता वहाँ पहुँचीं दोनों काफी बदहवास थीं। मुझे देखकर दोनों चौक पड़ी और प्रणिता तो मेरे गले लगकर रो ही पड़ी। मुझे तुरंत ही काफी कुछ समझ आ गया था। लेकिन दोनों पर कुछ भी जाहिर नहीं होने दिया फिर कमरे में जाकर सुरभि ने बताया कि पापा प्रणिता को एक लड़का काफी दिनों से तंग कर रहा है, हम परसों दिल्ली से मुम्बई आएँ हैं पता नहीं उसे कैसे पता चल गया और वो दिल्ली से एस.यू.वी लेकर अपने

दो दोस्तों के साथ मुम्बई आ गया है।

कल शाम से वो कभी यूनिवर्सिटी के अंदर आकर हमें परेशान करता है और अगर हम बाहर जाएँ तो हमारा पीछा करता है। आज तो उसने हद ही कर दी अभी जब हम सिद्धिविनायक मंदिर से टैक्सी में वापिस आ रहे थे तो उसने आई आई टी गेट के बाहर ही प्रणिता के साथ बदतमीज़ी की उसे जबरदस्ती अपनी गाडी में बिठाना चाह रहे था वो तो अच्छा हुआ चार-पाँच सिक्योरिटी गार्ड दौड़कर आ गये फिर भीड़ भी जुट गई तो डर के वो तीनों भाग गये।

सुदीप्ता मैंने वही किया जो मुझे करना चाहिए था मैंने सुरभि को प्रणिता की देखभाल करने के लिए कहा और मुम्बई पुलिस के ज्वाइंट कमिश्नर प्रशांत त्रिपाठी से बात की वो मेरा ही बैच मैट है, हम दोनों ने ही यू.पी. एस.सी क्लीयर की मैं आई आर एस सलेक्ट हुआ और आज ज्वाइंट कमिश्नर इंकम टैक्स हूँ।

वो आई पी एस सलेक्ट हुआ और उसे महाराष्ट्र कैडर मिला। अब एक साथ के हैं तो काफी लोग टच में रहते हैं। एक बात बताऊँ प्रोफेसर शम्सुद्दीन की अक्ल ठिकाने लगाने में उसने काफी मदद की थी सो जब ये सब प्रणिता के साथ घटित हुआ तो मैंने उसे ही फोन लगाया, अब हर जगह कैमरे लगे हैं तो आई आई टी के गेट पर लगे कैमरे में उन दुष्टों की कार और वो तीनों नज़र आ गये। अगले दो घंटे में उन्हें जुहू के होटल से पकड लिया गया।

मैं जुहू पुलिस स्टेशन गया तब प्रशांत त्रिपाठी भी आ गया था। चूँकि मामला ज्वाइंट कमिश्नर खुद ही हैंडल कर रहे थे इसलिए पूरा थाना सकते में था। दिल्ली में उन तीनों के परिवार को स्थिति बताई गई। किशोर जो मेन एक्यूज्ड था उसकी माँ विडो निकली वो पति के जाने के बाद उनका बिजनेस सम्भाल रही है।

वो फोन पर ही रो रही थी सो मामले की नज़ाकत को समझते हुए और तीनों के भविष्य को देखते हुए मैंने ही प्रशांत को एफ आई आर नहीं करने के लिए कहा और मामले को प्रोफेसर शम्सुद्दीन की तरह निपटा दिया गया। इतना कहकर सुदीप ने सुदीप्ता की तरफ देखा जो उसे एकटक देखे जा रही थी। फिर बोली पैंतीस साल में काफी समझदार हो गये हो। सबक भी सिखा दिया और उन तीनों का भविष्य भी बचा लिया। सुदीप ने हँसते हुए कहा सुदी प्रश्न समझदार होने या न होने का नहीं है। वो तीनों सुरभि की उम्र के आस-पास के ही हैं, शायद छोटे भी हों। उम्र है न इस उम्र में जिसको पहली बार देखते हैं बस उसी से प्यार जताने लगते हैं। सभी को लगता है भगवान ने बस इसी के साथ हमारी जोडी बनाई है। समय के साथ जब अनुभव आता है तब पता चलता है कि ज़िंदगी इसके सिवा भी है। मैं, तुम प्रशांत इस दौर से गुजर चुके हैं इसलिए उस समय यही ठीक लगा कि इन तीनों को एक अच्छा सा सबक दे दिया जाए ताकि वो अन्य किसी के साथ ये सब करने से पहले दस बार सोचें। वैसे भी सुधर गये तो ठीक वरना बकरे की माँ कब तक खैर मनाएगी। अच्छी बात ये है कि उसके बाद सब कुछ आशा के अनुरूप ही हुआ। उनमें से किसी ने भी कभी प्रणिता को तंग नहीं किया।

जहाँ तक इस घटना को प्रणिता के घर वालों से साझा नहीं करने या तुमसे भी साझा न करने का प्रश्न है ऐसा मैंने ये सोचकर किया कि जब प्रणव और प्रणिता की शादी हो जाएगी तो मैं सही समय देखकर खुद ही प्रणिता के घर वालों को बता दूँगा। लेकिन मुझे उम्मीद है प्रणिता ने इसे अपनी माँ के साथ जरूर साझा किया होगा।

सुदीप्ता ने सुदीप को देखते हुए कहा काले हंस महाराज कहानी पूरी हो गई या अभी और कुछ बाकी है। सुदीप ने ना में सर हिला दिया। फिर बोला बेहतर है तुम भी अब इस विषय को यहीं समाप्त कर दो। एक अंतिम बात सुदी हर घर में एक काला हंस होना ही चाहिए वो भी बिना किसी जेंडराइज़्ड किये हुए।

एक था मंगलू

–जगदीश चंद चौहान

पहाड़ी क्षेत्रों में आमतौर पर छोटे-छोटे गांव होते हैं। वहीं मेरा भी एक छोटा सा गाँव है जहाँ मेरा बचपन बीता। गाँव में सभी जमींदार लोग हैं परंतु वैसे जमींदार नहीं जैसे आमतौर पर फिल्मों में दिखाए जाते हैं। वे सरल और सीधी-साधी प्रवृत्ति के लोग हैं। उस समय वर्षा पर निर्भर खेती से ही उनकी आजीविका चलती थी। वे स्वयं कोई बहुत अच्छी स्थिति में नहीं थे फिर भी यदि कोई उन पर आश्रित होता तो वे उसकी देखभाल भी बखूबी किया करते थे। छोटे-मोटे झगड़ों और मनमुटावों के बावजूद भी उनमें अभी तक शराफत और इंसानियत जिंदा थी। हमारे गाँव के पास ही मंगलू नाम का एक व्यक्ति रहता था। उसके पास अपनी तो कोई जमीन-जायदाद थी नहीं, बस रहने के लिए एक छोटा सा घर था। हमारे बड़े-बूढ़े बताया करते थे कि मंगलू जब बहुत छोटा था तो हमारे ही किसी बुजुर्ग ने उसे आश्रय दिया था। वह खेती-बाड़ी के काम में उनका हाथ बंटाता था। बड़ा होने पर उसकी शादी कर दी गई और उन्हें रहने के लिए अपनी जमीन पर घर बनाकर दे दिया था जहाँ मंगलू और उसकी घरवाली बंतो सुखपूर्वक अपना जीवन बिताने लगे। पति-पत्नी दोनों लोगों के खेतों में तथा घर के अन्य कामों में मदद करते रहते जिससे उनकी गुजर-बसर अच्छी हो जाती। दुर्भाग्य से उस दंपती के कोई संतान नहीं हुई।

अब मंगलू और बंतो काफी बूढ़े हो गए थे।

उनकी आयु तब 80-85 वर्ष से ऊपर की रही होगी। मैंने बचपन में उन्हें इसी रूप में देखा था। आज भी मेरी आँखों के सामने उनका चित्र तैरता रहता है। मंगलू नाटे कद का था और उसका शरीर गठीला था। सिर पर बेतरतीब ढंग से पहनी मटमैली सी खद्दर की पगड़ी, खद्दर का कुर्ता और नीचे खद्दर का ही लंगोट बांधे रखता था। कंधे पर परना, चेहरे पर बहुत सारी झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। बुढ़ापे के कारण उसका शरीर हल्का सा झुक गया था। बंतो भी काफी बूढ़ी और कमजोर हो गई थी। हम बच्चे जब भी उसे देखते तो सोचा करते थे कि इसकी जान कहाँ अटकी पड़ी है। वह इतनी कमजोर थी कि शायद ही शरीर पर कोई माँस बचा हो। ऐसा जान पड़ता था कि जैसे हड्डियों के ढांचे पर चमड़ी की चादर सी उढ़ा रखी हो। अब उनके जीवन में अभाव ही अभाव था। सुबह खा लिया तो शाम का पता नहीं। अब वे दोनों इतने बूढ़े हो गए थे कि खेतीबाड़ी में किसी का हाथ नहीं बंटा सकते थे, अपनी कोई जमीन थी नहीं। दूसरों की तरफ देखने के सिवाय उनके पास और कोई चारा भी नहीं था। अब मैं सोचता हूँ कि बापू गांधी जी समाज के कौन से आखिरी आदमी की बात करते थे। बापू जी कहा करते थे कि सरकारों को समाज के आखिरी आदमी को ध्यान में रखकर योजनाएँ बनानी चाहिए उसके हित के लिए फैसले लेने चाहिए। काश उस वक़्त किसी ने बापू जी की बात मानी होती तो शायद मंगलू और बंतो को ऐसे दिन न देखने पड़ते। हर सुबह मंगलू सिल्वर या मिट्टी की हांडी लेकर हमारे घर की तरफ आया करता था। वह सभी को देखकर बस हँसता ही रहता था। शायद यह उसका स्वभाव रहा होगा परन्तु आज मैं सोचता हूँ कि हँसना उसकी मजबूरी रही होगी। जब आपको दूसरों पर ही निर्भर रहना है तो आप उन्हें नाराज करने का जोखिम तो उठा भी नहीं सकते। उस हांडी में वह छाछ लेने आया करता था। जब हम बच्चे उसके बर्तन में छाछ डालते और अगर बर्तन भर जाता तो वह बैठे-बैठे दो-तीन गिलास छाछ पी जाता ताकि उसमें और छाछ आ सके। वह अक्सर कहता था कि "मुझे जब भी बुखार आता है तो मैं दो-तीन गिलास छाछ पी लेता हूँ और बुखार ठीक हो जाता है।" एक घर में अगर उसकी हांडी नहीं भरती तो वह दूसरे घरों में भी

जाता। गाँव के लोग उसे कभी दूध, दही या रोटी आदि भी दे देते। परन्तु वह रोटी वहाँ अकेले नहीं खाता बल्कि परने में बांधकर घर ले जाता और दोनों पति-पत्नी मिल बांट कर खाते। बंतो कमजोरी के कारण ज्यादा चल फिर भी नहीं सकती थी इसलिए मंगलू ही उसका आश्रयदाता, अन्नदाता सब कुछ था।

बुढ़ापे के बावजूद भी मंगलू की इच्छाशक्ति बहुत दृढ़ थी। दो वक़्त की रोटी का जुगाड़ करना उसकी मजबूरी थी। ऐसे में मंगलू के पास खुद बीमार हो कर बिस्तर पर पड़ने का समय ही कहाँ था। अगर वह भी बीमार पड़ जाता तो उसकी गृहस्थी ही बैठ जाती और दोनों शायद भूख से ही मर जाते।

वैसे मंगलू के पास अपनी आजीविका चलाने के कुछ और भी साधन थे। वह चलंगी (तंत्र-मंत्र) भी जानता था अर्थात भूत-प्रेत भगाने, झाड़-फूँक करने से लेकर रूठे देवी-देवताओं को मनाने का काम भी करता था। उस समय उन पहाड़ी दुर्गम क्षेत्रों में डॉक्टरी सहायता तो नाम मात्र की हुआ करती थी, इसीलिए लोगों को मजबूरन वैद्यों, चेलों और तांत्रिकों की शरण में जाना पड़ता था। युवावस्था में तो बताते हैं कि दूर दूर से लोग उसके पास इलाज करवाने आया करते थे परन्तु अब लोगों का मानना था कि अब उसके हाथ में वह गुण नहीं रहा जो कभी हुआ करता था। फिर भी गांव की औरतों के लिए वह सहज उपलब्ध होने के कारण उसे कभी-कभार किसी न किसी काम के लिए बुला ही लेते जैसे भैंस दूध नहीं दे रही है, किसी बच्चे को नजर लग गई, किसी को भूत लग गया, देवता रुष्ट हो गया और उसका खोट निकल आया है, कोई बीमार पड़ गया इत्यादि-इत्यादि। हम जब छोटे थे तो मंगलू को अक्सर बच्चों के ऊपर छाड़ छोड़ने के लिए बुलाया जाता। मेरी माँ का मानना था कि छाड़ छोड़ने से बच्चों की सारी छाईं-बलाईं दूर हो जातीं हैं। उस दिन मुझे चिकनी मिट्टी और कई प्रकार के पत्ते वगैरह इकठ्ठे करने पड़ते थे। मंगलू शाम के समय आता, मिट्टी की चिड़ियाँ वगैरह बनाता, एक भूतनुमा मूर्ति बनाता, सिंदूर लगाता, एक रोटी काली करके उसमें डालता और जोर-जोर से मंत्र पढ़ता रहता। उसके मुँह में दाँत तो थे नहीं इसलिए जोर से बोलने के बावजूद भी वह क्या उच्चारण कर रहा है हम कुछ समझ नहीं पाते। सारा सामान टोकरी में डालकर, उसमें पाँच-सात दीये जलाकर बच्चों के सिर पर घुमाता, कभी झाड़ू पटकता और अंत में अपने लिए परने में खाना बांधकर जलती छाड़ को उठा कर चला जाता। हम छोटे बच्चे उसे बड़ा बहादुर मानते थे क्योंकि वह घनी अंधेरी रात में उस छाड़ को दूर सुनसान जगह पर छोड़ आता था। हम सोचते थे कि भूत उससे बहुत डरता है इसलिए वह भूत को पकड़ कर ले जाता है और कहीं दूर छोड़ आता है। जब उसे ऐसे काम के लिए बुलाया जाता तो उस दिन उसके चेहरे पर एक अजीब-सी चमक फैल जाती। शायद यह चमक उसके स्वाभिमान की द्योतक थी।

जब कोई आदमी किसी के आगे हाथ फैलाता है तो स्वभावतः उसका स्वाभिमान चूर-चूर हो जाता है और जब वह अपनी मेहनत से कुछ कमाता है तो उसके अंदर का स्वाभिमान और आत्मविश्वास उसके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई देता है। समाज की उन्नति उसके नागरिकों के स्वाभिमान और आत्म-सम्मान में समाहित होता है। उसको जगाना और उसे बनाए रखना सरकार और समाज की जिम्मेदारी है। समाज में यदि कोई वर्ग स्वावलंबी नहीं है तो देश और समाज धन-धान्य से पूर्ण होते हुए भी एक उन्नत और समृद्ध राष्ट्र की श्रेणी में नहीं आ सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज में हर हाथ को काम मिले, बुढ़ापे में वृद्धावस्था पेंशन हो ताकि समाज में कोई मंगलू न रहे। मंगलू की कमाई का एक और साधन भी था। सावन मास में लखमण (शेषनाग) देवता की मंडली फेरी जाती थी। मंगलू इस मंडली का सरताज होता। पांच-सात गाँव में वह मंडली घर-घर जाकर गाना-बजाना करती थी। आठ-दस दिनों के इस कार्यक्रम में मंडली को अलग-अलग घरों में ठहराया

जाता, अच्छे-अच्छे पकवान बनते और देर रात तक मंडली गाने-बजाने की खूब रौनक लगाए रखती। मंडली में भी वह अकेले न खाकर खाना घर ही ले जाता था। लोग मंडली को अनाज और पैसे देते। युवावस्था में तो मैंने सुना था कि मंगलू खूब नाच-नाच कर गाने गाया करता था। खँजरी, डमरू, ढोलक, थाली और चिमटे की ताल पर खूब ठुमके लगाया करता था और लोगों का खूब मनोरंजन करता था। परंतु अब वह बूढ़ा हो गया था, खुद तो नाच नहीं सकता था परंतु अपनी खँजरी की तान पर बड़ों-बड़ों को नचा देता था। उस समय तो उसके चेहरे की रौनक देखते ही बनती थी। उस समय तो चूंकि मंगलू देवता का प्रतिनिधि होता था इसलिए वह गाँव के बड़े-बूढ़ों को भी किसी गलती या त्रुटि के लिए डाँट भी देता था।

मंडली के अंतिम दिन, गगनौमी के अवसर पर पूरी रात देवता का आह्वान किया जाता। मटके के ऊपर कांसे की थाली रखकर मंगलू ऐसी तान लगाकर बजाता कि सबके शरीर प्रकम्पित हो उठते। सुबह देवता को रोट चढ़ाया जाता, सामूहिक भोग का आयोजन होता। सब लोग खुशी-खुशी आते, देवता को प्रसन्न करते, देवता प्रसन्न होते और मंगलू भी प्रसन्न होता क्योंकि उसका कम से कम दो-तीन महीने के राशन का जुगाड़ तो हो ही जाता। अब उसकी कोई निश्चित आमदनी तो थी नहीं। भूख बुरी चीज है उसे मिटाने के लिए आदमी को क्या-क्या नहीं करना पड़ता। जब कभी वह ब्याह-शादी में या किसी समारोह में जाता तो बड़ी-सी गठरी बांधकर भात और सब्जियाँ लाता ताकि वह घरवाली को भी कभी-कभार स्वादिष्ट भोजन करवा सके। मैंने सुना था कि वह जो भात बच जाता उसे धूप में सुखाया करता था ताकि जरूरत पड़ने पर उन्हें फिर से उबाल कर खा सकें। एक दिन ऐसा ही हुआ था। उसे किसी शादी का निमंत्रण था। वहां से वह अपने परने में बड़ी-सी भात की गठरी बांधकर सड़क के किनारे-किनारे अपने घर की तरफ आ रहा था। अचानक मोड़ पर एक ट्रक तेजी से मुड़ा। सड़क संकरी थी, मंगलू हड़बड़ाहट में बाहर की तरफ किनारे तो हुआ मगर संभल नहीं पाया और ढलान से नीचे लुढ़क गया। वह 10-12 फीट की दूरी पर एक झाड़ी में अटक गया। उसे शायद ज्यादा चोट नहीं लगी थी इसलिए उठते ही वह अपनी खाने की गठरी ढूंढ़ने लगा। उसकी गठरी छिटक कर और नीचे दूसरी झाड़ी में फंस गई थी। जैसे ही वह उसे लेने के लिए नीचे लपका उसका पैर फिसल गया और ढलान पर लुढ़कते-लुढ़कते वह करीब 50-60 फीट नीचे जा गिरा। लोग इकट्ठा हो गए। किसी ने कहा, “मंगलू भगवान को प्यारा हो चुका है।” भगवान को प्यारा हो चुका है ऐसा शायद इसलिए कहा होगा कि अब मंगलू को इस बुढ़ापे में दो जून की रोटी के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ेगा, उससे उसे अब मुक्ति मिल गई थी। अब शायद भगवान स्वयं उसका ध्यान रखेंगे। मंगलू जीवन भर पेट की आग बुझाने के लिए जिस खाने के पीछे दौड़ता-भागता रहा उसी खाने के कारण आज उसकी जान भी चली गई।

घर में जब बंतो को यह समाचार मिला तो वह रोई नहीं। हमें लगा शायद इस बुढ़ापे तक पहुँचते-पहुँचते उसके आँखों के आँसू भी सुख गए होंगे। गाँव वालों ने मंगलू का क्रियाकर्म किया। तेहरवीं तक जो भी संस्कार थे सब किए। तेहरवीं के दिन जब सब काम निपट गए तो बूढ़ी बंतो ने कहा, “मैं बहुत थक गई हूँ, थोड़ा आराम करना चाहती हूँ।” वह अपनी टूटी-फूटी चारपाई पर आँगन में खुले आसमान के नीचे लेट गई। वह फटी आंखों से आसमान को टकटकी लगाए देखती रही। इसी दौरान वह कब चिरनिद्रा में चली गयी किसी को पता ही नहीं चला। उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे और वह हमेशा के लिए अपने अन्नदाता और आश्रयदाता मंगलू के पास चली गयी थी। आज भी जब हम उस घटना पर नजर दौड़ाते हैं तो समझ नहीं पाते कि क्या पति-पत्नी में इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि बंतो मंगलू की जुदाई सह नहीं पाई या सिर्फ अपने आपको बेसहारा हो जाने के डर से ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए, भगवान ही जाने।

एक बार मिल तो लें

–आचार्य राजेश कुमार

जी, यह मिलना रिश्तों के लिए है। लेकिन हम उन "रिश्ते ही रिश्ते" की बात नहीं कर रहे, जिसके लिए प्रोफ़ेसर साहब से बस एक बार मिल लेना ही काफ़ी रहता है और जिनके विज्ञापन हर गली, हर नुक्कड़, हर चौराहे, गोकि हर जगह पर दिखाई देते हैं।

हम उन रिश्तों की बात भी नहीं कर रहे, जिन्हें ईश्वर खुद अपने हाथों से स्वर्गलोक में गढ़ता है, और उसके बाद वह उन रिश्तों के हिसाब से लोगों को पास-पड़ोस में, स्कूल-कॉलेज में, या कार्यालयों आदि में व्यवस्थित करता है, ताकि वे रिश्ते घटित हो सकें। अब टेक्नॉलॉजी के प्रसार के बाद वह अलबत्ता इस काम को शादी डॉट कॉम जैसी ऑनलाइन वेबसाइट, ऐप, आदि और फ़ेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम जैसी सामाजिक नेटवर्किंग साइट के माध्यम से अंजाम देने लगा है, और लोगों को आसपास व्यवस्थित करने की ज़रूरत अब उतनी नहीं रह गई है।

हम इन सबसे हटकर सामान्य रिश्तों की बात कर रहे हैं। कहा जाता है कि दोस्ती चुनी जा सकती है, लेकिन आदमी रिश्ते नहीं चुन सकता। आदमी को जो रिश्ते मिल जाते हैं, उन्हीं को निभाना पड़ता है। और रिश्तों को निभाने के लिए आदमी को जो न करना पड़े, थोड़ा। एक पति-पत्नी घर में खूब घमासान करने के बाद कार में बैठकर जा रहे थे, तो सड़क पर एक जगह पर पति ने कार धीमी कर ली, क्योंकि उसके सामने से सड़क पर गधों का झुंड जा रहा था।

गधों के सम्मान में तो लोग न जाने क्या-क्या कर गुजरते हैं, उसने तो खैर कार ही धीमी की थी। पति के दिमाग़ में अभी भी युद्ध के बादल छाए हुए थे और आदर्श पति होने के नाते, वह पत्नी को नीचा दिखाने का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहता था, इसलिए उसने पत्नी की ओर देखकर, कुटिलता से मुस्कुराते हुए कहा कि देखो तुम्हारे रिश्तेदार जा रहे हैं। पत्नी भी कहाँ चूकने वाली थी, चौहान की बहन जो ठहरी, तपाक से बोली, "हाँ, शादी के बाद बने हैं।" यह भी देखने में आया है कि कभी-कभी ऐसे रिश्ते भी बन जाते हैं, और खूब बन जाते हैं, जिन्हें कोई नाम देना मुश्किल होता है। इसका मतलब यह हुआ कि ऊपर दी गई कहावत ग़लत साबित हो रही है कि रिश्ते नहीं चुने जा सकते। आप शायद उन्हें मी टू का नाम देना चाहें, लेकिन हम उनकी बात भी नहीं कर रहे।

रिश्तेदार होना, रिश्ते होना बहुत अच्छी बात है लेकिन रिश्ते बनाना बहुत ख़राब बात मानी जाती है, क्योंकि ऐसे में देखा यह गया है कि साधु, संत, महात्मा, और उच्च पदों पर आसीन अधिकारी तक रिश्ते बनाने के बाद जेल में ही नज़र आते हैं। तो कहानी की नैतिक शिक्षा यह हुई कि हमें ऐसे रिश्ते बनाने से दूर रहना चाहिए, जिनका रास्ता जेल की तरफ़ जाता है।

या अगर आप नहीं मानना चाहते, तो हमें ऐसे रिश्ते बनाने में सावधानी बरतनी चाहिए। हैं कि नहीं? कुछ रिश्ते ऐसे होते हैं, जिन्हें समझना बहुत मुश्किल होता है। उदाहरण के लिए, पिछले दिनों सच्चे सौदे करने वाले एक डेरे में पिता और पुत्री के रिश्तों के बारे में बहुत चर्चा हुई है।

लोग यह समझने के लिए अपने बाल नोचते हुए घूमते नज़र आए कि उन रिश्तों में और आशिक माशूक के रिश्तों में आखिर अंतर है, तो वह अंतर क्या है। वे

लोग आज तक वैसी ही स्थिति में घूमते हुए नज़र आ रहे हैं। यह ज़रूर है कि समय के साथ-साथ संस्कृति, परंपराएँ, प्रथाएँ वगैरह बदलती जाती हैं, और वे नया रूप भी लेती रहती हैं, लेकिन पिता-पुत्री का रिश्ता ऐसा नया रूप ले लेगा, यह तो किसी के सपने में भी नहीं आया होगा। कलयुग जो न दिखाए सो थोड़ा!

रिश्ते बनाना बहुत आसान हो सकता है, लेकिन रिश्तों को संभालना बहुत मुश्किल होता है। कुछ ऐसे लोगों के उदाहरण भी सामने आए हैं जो रिश्तों को बनाते-बनाते, और फिर उन्हें संभालते-संभालते या निभाते-निभाते अपना जीवन ही कुर्बान कर देते हैं।

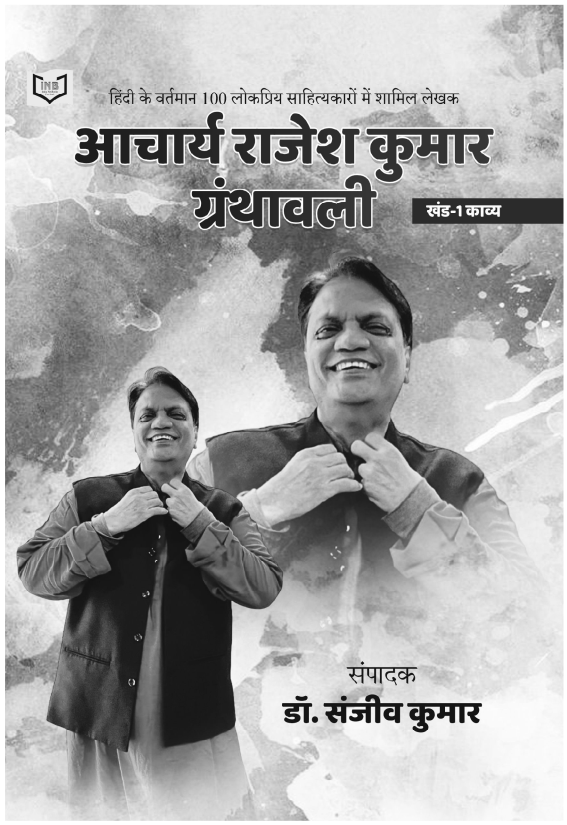

एक ऐसे व्याकरण की गाथा सामने आती है, जिन्होंने संस्कृत व्याकरण लिखने में अपना पूरा जीवन लगा दिया। दीन-दुनिया से कोई संबंध नहीं रखा। बस वे रोज़-रोज़ यह देखते थे कि कोई स्त्री आकर उनका सब काम कर देती है, भोजन वगैरह दे देती है, कपड़े वगैरह रख देती है, आदि-आदि। उन्हें अपना व्याकरण पूरा करने में अनेक वर्ष लग गए, और उसके पूरा होते-होते वे वृद्धावस्था को प्राप्त हो गए, यानी उनके जीवन का व्याकरण ढीला पड़ने लगा। जब उनका काम पूरा हो गया, तो एक दिन उन्होंने उस स्त्री को बहुत कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम करते हुए पूछा कि—देवि, आखिर तुम कौन हो जो मेरी इतनी मदद करती हो।

उस देवी ने उनके पैरों पर गिरते हुए, घूँघट के पीछे से, बहुत धीमी आवाज़ में, क्षमा जैसी माँगते हुए जो बुदबुदाया, जिसका मतलब यह था कि वे प्रणाम करके और कृतज्ञ होकर उसे काँटों में न घसीटें, वह उनकी दासी है। इस पर व्याकरण ने कहा, पर मैंने तो आपको आज तक कोई मेहनताना नहीं दिया, तो स्त्री ने बताया कि वह बिना मेहनताने की दासी है। तब वैयाकरण को ख्याल आया कि दासी का एक अर्थ पत्नी भी होता है।

जब कोई ऐसा रिश्ता बन जाता है, जिसके बारे में हमें समझ में नहीं आता कि उसे क्या नाम दें, ख़ास-तौर से स्त्री और पुरुष के मामले में, क्योंकि हमारी महान भारतीय संस्कृति कुछ ऐसी है कि उसमें स्त्री और पुरुष के रिश्तों को बहुत बँधी हुई नज़रों से ही देखने की परंपरा है, मसलन वे पति-पत्नी हो सकते हैं, बहुत करके शादी से पहले प्रेमी-प्रेमिका हो सकते हैं, पिता-पुत्री हो सकते हैं, भाई-बहन हो सकते हैं, वगैरह-वगैरह।

लेकिन न तो शादी से पहले, और शादी के बाद तो बिल्कुल भी नहीं, स्त्री और पुरुष दोस्त नहीं हो सकते। भला बताओ कहीं रूई और आग में भी दोस्ती हुई है। इसमें ऐसे रिश्तों की गुंजाइश तो है कि पुरुष स्त्रियों का आना-जाना दुश्वार कर दें, उनके साथ दुर्व्यवहार करें, उन्हें बुरी नज़रों से देखें, उनके साथ हँसी-ठिठोली करें, उनका अपमान करें, अपने पद और रसूख आदि का

इस्तेमाल करके उनका शोषण करें, उनके साथ बलात्कार करें, वगैरह-वगैरह, लेकिन दोस्ती कभी नहीं! (लेखक कानों को हाथ लगाता है) ओम शांत पाप! ऐसे में समस्या जन्म लेती है कि ऐसे रिश्ते को नाम दें, तो आखिर क्या नाम दें।

यह सुनना शायद देशभक्ति के खिलाफ़ माना जाएगा कि अंग्रेज़ों ने हमारे ऊपर अत्याचार तो किया, लेकिन उसके साथ-साथ हमारी कई तरह से मदद भी की, जैसे आधुनिक विचारधारा से परिचय करवाना, हमें अंधविश्वासों से दूर करना, हमारी जाहिली कुछ कम करना, आधुनिक पोशाकें देना, परिवहन के आधुनिक साधन पेश करना, संचार के आधुनिक माध्यम दिखाना, आदि-आदि। इनमें से अंधविश्वास से दूर करना, जाहिली कम करना, आधुनिक विचारधारा से परिचय आदि पर तो हमने बहुत ध्यान नहीं दिया, लेकिन उनके रहन-सहन, जीवन शैली, और भाषा आदि का असर हम पर आज भी देखा जा सकता है।

इसकी अति होते देख कुछ लोगों ने तो मुहावरा ही बना दिया कि अंग्रेज़ चले गए, लेकिन अपनी औलाद यहाँ छोड़ गए! भाषा की दृष्टि से देखें, तो हम अपनी भाषा भूलकर अंग्रेज़ी की तरफ़ ही दौड़ते हैं और कोशिश करते हैं कि उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा लादे रहें, चाहे अंग्रेज़ी हमें आती हो या न आती हो और ख़ासकर अगर न आती हो तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम उसे और ज़्यादा-से-ज़्यादा लादें, ताकि किसी को पता न चल जाए कि हमें अंग्रेज़ी नहीं आती।

अगर हमें अंग्रेज़ी नहीं आती, तो हम अपनी भाषा में अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार करने की कोशिश करते हैं, चाहे उनके लिए हमारी भाषा में पहले ही संस्कृत, अरबी, फ़ारसी वगैरह के शब्द हों। इन्हीं में से दो शब्द हैं, अंकल और आंटी। हमारे ऊपर बताए गए सांस्कृतिक संकट को दूर करने में ये दो शब्द बहुत मदद करते हैं। जब भी स्त्री और पुरुष के संबंधों में हमारे सामने यह संकट आता है कि पुरुष को क्या नाम दें तो हम उसे अंकल कह देते हैं और इसी तरह स्त्री होने पर, हम स्वाभाविक तौर से उसे आंटी कह देते हैं। यह अलग बात है कि हमारे रिश्तों की विविधता और मधुरता अंकल और आंटी में बिल्कुल समा नहीं पाती। प्रथम अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश के रचयिता, फ़ादर (पिता नहीं) कामिल बुल्के के बारे में कहा जाता है कि जब वे सेंट स्टीफ़ंस कॉलेज के प्रधानाचार्य थे, तो एक आदमी उनके कार्यालय में आया और उसने निवेदन किया कि मैं फलाँ विद्यार्थी से मिलने के लिए आया हूँ। इस पर फ़ादर ने पूछा कि आप उसके क्या लगते हैं, तो उस व्यक्ति ने अभ्यासवश कहा कि मैं उसका अंकल हूँ।

इस पर फ़ादर ने कहा कि भाई ठीक है अंकल तो हो, लेकिन यह बताओ कि चाचा हो, ताऊ हो, मामा हो, कि फूफा हो। सही-सही बताओ, तो पता चले कि तुम्हारा उससे क्या रिश्ता है।

लेकिन शायद नई पीढ़ी रिश्तों के बारे में इतनी ज़्यादा उलझन और असमंजस नहीं पालती। बाबूलाल यों तो गुलाबो को घर पर फ़ोन करने से कतराता ही था और अगर उससे रहा नहीं जाता था, तो कोशिश करके वह ऐसा समय चुनता था कि गुलाबो के ही फ़ोन उठाने की सबसे ज़्यादा संभावना हो। लेकिन एक बार करने भगवान के ऐसे हुए कि जब उसने फ़ोन किया, तो गुलाबो की बेटी ने फ़ोन उठा लिया। माँ को सूचना देने के लिए उसने चिल्लाकर कहा कि ममा, आपका फ़ोन है। गुलाबो किसी काम में लगी हुई थी, सो फ़ोन का महत्व जानने की कोशिश करने के लिए कि सुनने के लिए आने की ज़रूरत है या कह दो घर में नहीं है, जैसा बहाना बनाना काफ़ी रहेगा, उसने पूछा कि किसका फ़ोन है?

माँ और बेटी का संवाद बाबूलाल को भी सुनाई दे रहा था और माँ के प्रश्न किए जाने के बाद वह स्वाभाविक रूप से सोच रहा था कि बेटी बताएगी कि अंकल का फ़ोन है। लेकिन बेटी ने तत्परता से जवाब दिया, आपके बॉयफ्रेंड का!

स्वास्थ्य साहित्य

क्या आप जानती हैं कि सर्वाइकल कैंसर से कैसे बचें

–डॉ. आराधना सिंह बुंदेला

सर्वाइकल कैंसर के बारे में आइए और जानें

लक्षण : सर्वाइकल कैंसर के कई लक्षण अन्य कम गंभीर स्थितियों के साथ भी देखे जाते हैं। ये चेतावनी के संकेत हैं जिन्हें आपको नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए।

कारण, जोखिम कारक और रोकथाम : लंबे समय तक रहने वाला एचपीवी संक्रमण लगभग सभी सर्वाइकल कैंसर का कारण बनता है। एचपीवी संक्रमण और सर्वाइकल कैंसर के अन्य जोखिम कारकों के बारे में जानें और अपने जोखिम को कम करने के लिए आप क्या कर सकते हैं।

स्क्रीनिंग : आपकी गर्भाशय ग्रीवा है, तो गर्भाशय ग्रीवा के कैंसर की जांच नियमित स्वास्थ्य देखभाल का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। जानें कि कब स्क्रीनिंग करानी है और स्क्रीनिंग के दौरान और बाद में क्या अपेक्षा करनी है।

एचपीवी और पैप परीक्षण परिणाम : जानें कि एचपीवी और पैप परीक्षण के परिणामों का क्या मतलब है और यदि परीक्षण का परिणाम असामान्य है तो अगले कदम क्या हैं।

निदान : उन परीक्षणों के बारे में जानें जिनका उपयोग सर्वाइकल कैंसर के निदान और चरण निर्धारण के लिए किया जाता है।

पूर्वानुमान और उत्तरजीविता दर : सर्वाइकल कैंसर से बचने की दर के बारे में जानें और यह आँकड़ा सटीक भविष्यवाणी क्यों नहीं करता कि आपके साथ क्या होगा।

चरणों : स्टेज से तात्पर्य आपके कैंसर की सीमा से है, जैसे कि ट्यूमर कितना बड़ा है और क्या यह फैल गया है। सर्वाइकल कैंसर के चरणों के बारे में जानें, जो आपकी उपचार योजना तय करने में एक महत्वपूर्ण कारक है।

इलाज

जानें कि सर्वाइकल कैंसर का इलाज किन विभिन्न तरीकों से किया जा सकता है।

बचपन में गर्भाशय ग्रीवा और योनि का कैंसर : बच्चों में सर्वाइकल कैंसर और योनि कैंसर बहुत कम होते हैं। संकेतों और लक्षणों, निदान और उपचार विकल्पों के बारे में जानें।

मुकाबला और समर्थन : सर्वाइकल कैंसर के निदान और उपचार के कुछ पहलू विशेष चिंता का विषय हैं। क्या अपेक्षा करनी है और इससे निपटने में आपकी सहायता के लिए कौन से संसाधन उपलब्ध हैं, यह जानकर नियंत्रण की बेहतर समझ प्राप्त करें।

क्या आप जानती हैं कि सर्वाइकल कैंसर के बचाव का टीका भी लगवाया जा सकता है?

जी हाँ! सर्वाइकल कैंसर एक ऐसा कैंसर है जिसका कि बचाव टीका लगवाने से हो सकता है यह टीका सर्वाइकल कैंसर की रोकथाम और बचाव के लिए होता है यह टीका ह्यूमन पैपीलोमा वायरस के सेल से इम्यूनिटी के लिए लगाया जाता है और इससे सर्वाइकल कैंसर का बचाव हो सकता है।

यह टीका 2-3 डोज में लगाया जाता है, 15 साल के पहले नौ से पहले 9-15 साल के पहले बच्चियों को दो डोज लगती है और पंद्रह साल पैंतालीस साल की महिलाओं को तीन डोज में लगाया जाता है, इसलिए सभी महिलाओं और बच्चियों को यह टीका लगाना चाहिए डॉक्टर की सलाह एक बार ज़रूर लें।

भारतीय न्याय संहिता, 2023 भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 और भारतीय साक्ष्य अधिनियम 2023 औपनिवेशिक युग के कानूनों का अंत

–सन्तोष खन्ना

प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने संसद द्वारा भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023, भारतीय न्याय संहिता, 2023 और भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 2023 के पारित होने की सराहना करते हुए कहा कि यह नये क़ानून बनना भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है क्योंकि यह क़ानून समाज के गरीबों, वंचितों और कमजोर वर्गों के लिए बढ़ी हुई सुरक्षा सुनिश्चित करते हैं और संगठित अपराध, आतंकवाद और ऐसे अन्य अपराधों पर भी कड़ा प्रहार करते हैं और इनसे भारत के क़ानूनी ढांचे को अमृत काल में अधिक प्रासंगिक और सहानुभूतिपूर्वक प्रेरित करने के लिए फिर से परिभाषित करते हैं। 'एक्स' पर एक थ्रेड पोस्ट में उन्होंने कहा है कि यह औपनिवेशिक युग के क़ानूनों के अंत का प्रतीक हैं। सार्वजनिक सेवा और जनकल्याणकारी कानूनों से एक नये युग की शुरुआत हुई है।

साथ ही, ये क़ानून संगठित अपराध, आतंकवाद और ऐसे कई अन्य अपराधों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करने में सहायक होंगे जो प्रगति की दिशा में हमारी शांतिपूर्ण यात्रा को कमजोर कर रहे हैं। इनके माध्यम से हमने राजद्रोह से संबंधित पुराने कानूनों को भी समाप्त कर दिया है।

इन तीनों क़ानूनों को वर्ष 2023 के दिसंबर माह में संसद के शीतकालीन सत्र में पारित कर दिया गया है और राष्ट्रपति ने उन पर हस्ताक्षर कर अपनी सहमति की मोहर लगा दी है और इन तीनों क़ानूनों को वर्ष 2024 के गणतंत्र दिवस पर लागू कर दिया जाएगा।

इससे पहले भारत ने 11 अगस्त, 2023 को विधि के क्षेत्र में एक नया इतिहास रच दिया था जब भारत की संसद के मानसून सत्र में भारत में अंग्रेजों द्वारा बनाए गए भारतीय दंड संहिता 1860, दंड प्रक्रिया संहिता 1973 और साक्ष्य अधिनियम के स्थान पर भारतीय न्याय संहिता, 2023, भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 और साक्ष्य अधिनियम, 2023 कानून पेश किए गये। इन तीनों क़ानूनों का नामकरण हिंदी में किया गया है यथा इंडियन पीनल कोड, 1860 के स्थान पर भारतीय न्याय संहिता, 2023, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के स्थान पर भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 तथा भारतीय साक्ष्य विधेयक, 2023 प्रस्तुत किये गये हैं।

केंद्रीय गृहमंत्री श्री अमित शाह ने इन विधेयकों को लोकसभा में प्रस्तुत करते हुए कहा कि यह तीनों कानून अंग्रेजों द्वारा बनाकर लागू किए गए थे, इसलिए भारत में अब तक 1860 से लेकर 2023 तक देश की आपराधिक न्याय प्रणाली अंग्रेजों के मुताबिक बनाए गए इन कानूनों से चलती थी।

अब इन तीनों कानून के स्थान पर नए कानून लाए जा रहे हैं। इन नए क़ानून का उद्देश्य भारतीय नागरिकों को अधिकार देना है दंड नहीं। उन्होंने यह भी बताया कि नए क़ानून को लाने से पहले 18 राज्यों, 6 संघ शासित प्रदेशों, उच्चतम न्यायालय, 16 उच्च न्यायालय, 5 न्यायिक अकादमी, 22 विधि विश्वविद्यालय, 142 सांसद, लगभग 270 विधायकों और जनता से इन नए कानूनों पर अपने सुझाव दिए थे। 4 सालों तक इस पर गहन विचार विमर्श के बाद इसे तैयार कर संसद में पेश किया गया है।

यह बात बिल्कुल सही कही गई है कि इन कानूनों

में बदलाव की लंबे समय से माँग की जा रही थी। भारतीय दंड संहिता, 1860 में बने कानून को मैकाले ने लिखा था। अब तक इस कानून को लागू हुए 163 वर्ष हो गए हैं और इन्हें हम पर राज करने वाले अंग्रेजों ने बनाया था। देश को स्वतंत्र हुए अब तक 76 वर्ष हुए परंतु हम अधिकांशतः अंग्रेजों द्वारा बनाए कानूनों से ही अनुशासित हो रहे हैं। ऐसा पहली बार हो रहा है कि भारतीय दंड संहिता, 1860 के स्थान पर एक नया कानून भारतीय न्याय संहिता, 2023 लाया जा रहा है। इन दोनों संहिता में मूल अंतर यह है कि भारतीय दंड संहिता में दंड पर जोर था क्योंकि अंग्रेज़ भारत की जनता को दबा कर, डरा कर और कानून से धमका कर रखना चाहते थे ताकि वह उनके अत्याचारों के समक्ष अपना सर ना उठा सके। इस कानून प्रणाली का एक दुष्परिणाम भारत में यह हुआ है कि कानून की इस व्यवस्था में मुकदमे प्रायः लटकते रहते हैं और वादी-प्रतिवादियों को उनके जीवन काल में न्याय नहीं मिल पाता है। अब भारतीय दंड संहिता, 1860 का नाम भी बदल दिया गया है। यह वस्तुतः सच्चाई है कि अंग्रेजों ने न केवल हम पर अपनी शासन-व्यवस्था और कानून थोपे बल्कि उन्होंने इनको अपनी भाषा अंग्रेजी के माध्यम से हम पर थोपा। अब भारतीय न्याय संहिता, 2023 की एक विशेषता यह है न केवल संहिता का नाम भारतीय भाषा हिंदी में है बल्कि इसका उद्देश्य भी भिन्न है अर्थात् दंड पर नहीं न्याय पर अधिक जोर देना है।

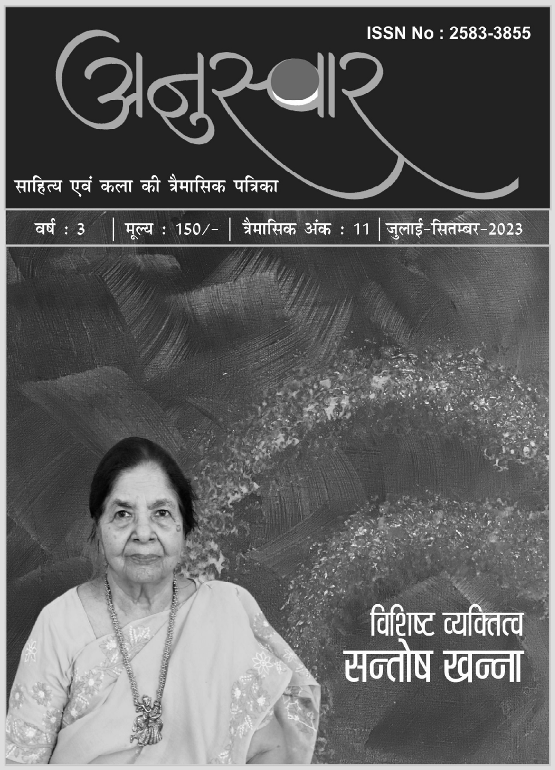

नई भारतीय न्याय संहिता, 2023 में केवल 356 धाराएँ हैं जबकि पुरानी भारतीय दंड संहिता में 511 धाराएँ हैं। इसमें 155 धाराएँ कम कर दी गई है। इसकी 176 धाराओं में बदलाव किया गया और 22 धाराएँ हटा दी गई हैं और 8 नई धाराएँ जोड़ी गई हैं। हत्या के अपराध में लागू होने वाली धारा 302 को हटा कर उसके स्थान पर अब धारा 101 कर दी गई है।

यहां भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 124, का उल्लेख करना समीचीन होगा। वास्तव में भारतीय परिप्रेक्ष्य में पहले भी और आजकल भी इस धारा को लेकर बहुत विवाद चलता आ रहा है। वर्तमान काल में भी उच्चतम न्यायालय में इस धारा को समाप्त करने के लिए सुनवाई चल रही थी जिसमें सरकार ने उच्चतम न्यायालय में शपथ पत्र फाइल कर अनुरोध किया था कि भारत सरकार स्वयं इस धारा की समीक्षा कर रही है इसलिए फिलहाल इस पर सुनवाई को रोक दिया जाए। इस धारा को उच्चतम न्यायालय में यह कोई पहली बार चुनौती नहीं दी गई थी। सातवें दशक में भी उच्चतम न्यायालय में इस धारा को समाप्त करने के लिए चुनौती

दी गई थी और उच्चतम न्यायालय ने एक मामले में इसे संवैधानिक ठहराया था। अब नई भारतीय न्याय संहिता में राजद्रोह संबंधी इस धारा को खत्म कर दिया गया है। अंग्रेजों ने इस धारा को देशद्रोह की धारा बताया था जब कि यह वस्तुतः राजद्रोह की धारा से संबंधित है।

देशद्रोह संबंधी अपराध के लिए अब नई भारतीय न्याय संहिता, 2023 में एक धारा 150 जोड़ी गई है जिसके अंतर्गत देश के खिलाफ युद्ध छेड़ने के मामले लिए जाएंगे। इसमें सशस्त्र विद्रोह, देश को तोड़ना, अलगाववादी गतिविधियों में सम्मिलित होना, देश की एकता और अखंडता को खतरा पहुँचाये जाने के अपराध जोड़े गए हैं। इस नई धारा में अब देशद्रोह के मामले लिए जाएंगे।

धारा 120बी जिसे आपराधिक साज़िश के लिए इस्तेमाल किया जाता है उसका नंम्बर भी बदल गया है अब वे 61वें नंबर पर हैं। जब भी कही दंगा या बवाल होता है तो पुलिस तुरंत धारा 144 लगा देती है। सीआरपीसी में धारा 144 भीड़ जमा होने से रोकने के लिए लगाई जाती है। भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 में अब ये धारा 163 हो गई है।

इस नई संहिता में महिलाओं और बच्चों के ख़िलाफ़ अपराधों में सज़ा को प्राथमिकता दी गई है। छोटे अपराधों के लिए सामुदायिक सेवा के दंड को नए क़ानून में शामिल किया गया है। यदि कोई व्यक्ति छोटी-मोटी चोरी जैसे मामलों में पकड़ा जाता है तो उसे बड़ी सजा देने की जगह कहा जायेगा जाओ समाज के लिए कुछ अच्छा काम करो। उसे काम बता दिया जायेगा। ये पहली बार शामिल किया जा रहा है। नए कानून में गैंगरेप के दोषियों को 20 साल से लेकर उम्र कैद तक की सज़ा का प्रावधान है। नाबालिग से बलात्कार पर इसे सख़्त करते हुए मृत्यु दंड तक की सज़ा कर दिया गया है। शादी या नौकरी का झांसा देकर रेप करने पर अलग से सज़ा का प्रावधान है।

मॉब लिंचिंग केस में 7 साल से उम्र कैद तक की सज़ा है। अगर भीड़ में कोई किसी को पकड़कर मारता है तो उसे अब अलग कानून में अब रखा गया है। अभी तक धारा 302 में ही ऐसे केस को शामिल किया जाता था। मामले में जल्द कार्रवाई के लिए जो ज़ीरो एफआईआर की सुविधा है उसमें कुछ बदलाव किया गया है। केस पर जल्द कार्रवाई के लिए अब जिस थाने का केस होगा वहाँ ज़ीरो एफआईआर 15 दिन के अंदर भेजनी होगी। ज़ीरो, एफआईआर का मतलब है आप राज्य के किसी भी शहर या थाने में जाकर अपना, एफआईआर दर्ज़ करा सकते हैं।

इससे फर्क नहीं पड़ता है कि केस किस थाने या शहर का है। साल 2012 में निर्भया गैंग रेप मामले के बाद केंद्र सरकार ने देश में बढ़ते गंभीर मामलों को रोकने के लिए ज़ीरो, एफआईआर की व्यवस्था लागू करने का फ़ैसला किया था। नए क़ानून में एफआईआर से लेकर पूरी प्रक्रिया तक डिजिटाइजेशन की बात कही गई है। हर केस में चार्जशीट 90 दिन में दाखिल करनी होगी। अगर कोई न्यायालय चाहे तो 90 दिन इसे और बढ़ा सकता है।

लेकिन 180 दिन से ज़्यादा का समय नहीं मिलेगा। नए कानून में चार्जशीट मिलने के 60 दिन के भीतर आरोप तय करने का प्रावधान किया गया है। सबसे ख़ास बात ये है कि सुनवाई पूरी होने के 30 दिन के अंदर न्यायालय को अपना फैसला सुनाना होगा। लेकिन अगर ज़रूरी हुआ तो इसे 60 दिन तक बढ़ाया जा सकता है। न्यायालय का फ़ैसला 7 दिन के अंदर ऑनलाइन उपलब्ध कराने की बात कही गई है। समरी ट्रायल को तीन साल की सज़ा में अनिवार्य किया गया है। पहले ये दो साल तक की सज़ा में अनिवार्य था।

माना जा रहा है कि इससे सेशन कोर्ट में केसों की संख्या में 40 फीसदी तक की कमी आएगी। निचले न्यायालयों में इससे न सिर्फ काम का बोझ कम हो सकेगा बल्कि मामलों के निपटारे में भी तेज़ी आएगी। दरअसल समरी ट्रायल का मतलब है कम गंभीर मामलों की तेज़ी

से सुनवाई कर केस का निपटारा करना। इनमें वे केस शामिल होंगे जिनकी अधिकतम सज़ा तीन साल तक की है।

मामले के तुरंत निपटारे और सही जाँच के लिए नए कानून में किसी भी क्राइम सीन में अब फॉरेंसिक टीम का वहाँ जाना ज़रूरी कर दिया गया है। नए क़ानून में पहली बार अपराध करने वाले को एक तिहाई सज़ा काटने के बाद खुद ज़मानत मिल जाएगी। लेकिन आजीवन कारावास या मौत की सज़ा पाए व्यक्ति को ये छूट नहीं मिलेगी।

अब बात करते हैं नए कानून भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 की इसे वर्तमान भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के स्थान पर लाया गया है। इसका मूल नाम भी अब भारतीय भाषा हिंदी में कर दिया गया है। वर्तमान में दंड प्रक्रिया संहिता के संबंध में भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अंतर्गत दिए गए प्रावधानों से नियंत्रित होती है। इसके अंतर्गत जांच, गिरफ्तारी, मुकदमा और अपील सहित अनुपालन किए जाने वाली प्रक्रिया का प्रावधान है।

अब नए कानून में नए प्रावधान किया गये हैं। भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 को स्वतंत्र भारत में 41वे विधि आयोग की सिफारिशों के आधार पर बनाया गया था और इसे संसद से पारित होने के बाद एक अप्रैल, 1974 को लागू किया गया था।

इस प्रक्रिया संहिता में वर्ष 2013 और 2014 में संशोधन किए गए थे। इस संहिता में 484 धाराएं, 37 अध्याय और दो अनुसूचियाँ हैं। यह संहिता कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019 के बाद जम्मू और कश्मीर सहित देश के सभी भागों में लागू है। इसका उद्देश्य देश के अपेक्षाकृत ग़रीबों को शीघ्र और निष्पक्ष न्याय दिलाना था। यह संहिता स्वयं में काफी विस्तार लिए है।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 को भारत में एक सितंबर, 1872 में लागू किया गया था, अब उस कै स्थान पर नया भारत साक्ष्य अधिनियम, 2023 बन गया है। पुराने कानून में 185 धाराएं और ग्यारह अध्याय थे। अब नये कानून में 170 धाराएं हैं, 23 धाराओं में बदलाव किया गया है, एक नई धारा जोड़ी गई है और 5 धाराएं निरस्त की गई हैं। साक्ष्य की दृष्टि से इसे अधिक व्यवहारिक बनाया गया है। इस अधिनियम में साक्ष्य को को इलेक्ट्रॉनिक उपकरण या सिस्टम द्वारा जानकारी को प्रस्तुत किया जा सकेगा। इसके अलावा, यह विशेषज्ञ की मेडिकल राय, लिखावट, विश्लेषण जैसे साक्ष्यों को भी मान्यता देगा।

जब अगस्त, 2023 में संसद में इन विधेयकों को पेश किया गया था तो इन्हें सभा ने समिति को विचार के लिए प्रेषित कर दिया था। इन पर समिति के प्रतिवेदन में कुछ सिफारिशें भी की गई हैं।

भारत सरकार ने उन सिफारिशों को ध्यान में रख कर इन अधिनियमों को बनाया हैं। राष्ट्रपति की सहमति मिल जाने के बाद अब यह कानून बन चुके हैं। इसके साथ ही अंग्रेज़ों द्वारा बनाए गए कानून अतीत की वीथिका में पहुँच चुके हैं। नारी शक्ति वंदन अधिनियम, 2023 की तरह कानून के क्षेत्र में एक और नया अध्याय जुड़ गया है।

अभी इन कानूनों को 26 जनवरी, 2024 को लागू किया जाना है पर उससे पहले ही इन तीनों क़ानूनों को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई है। उच्चतम न्यायालय में दाखिल याचिका में इस नए कानूनों पर भी रोक लगाने की माँग की गई है। उच्चतम न्यायालय के वकील विशाल तिवारी ने यह याचिका दाखिल की है। दाखिल याचिका में कहा गया है कि जब यह कानून संसद में पारित किये गये तो उस समय उन पर संसद में व्यापक चर्चा नहीं हुई।

अब देखना यह है कि उच्चतम न्यायालय इसे सुनवाई के लिए स्वीकार करता है या नहीं।

कविता/ग़ज़ल

रामदरश मिश्र की कविताएँ

मैं तो यहाँ हूँ

मन्दिर में अपनी मुरादों के चीथड़े छोड़ कर
मैं अकेले बैठा था प्रभु-मूर्ति के सामने
और बातें कर रहा था सुख-दुख की
लेकिन मूर्ति जड़ बनी रही
ऊब कर मन्दिर से बाहर निकला तो देखा
चारों ओर पुष्पित खेत खिलखिला रहे थे
चहचहाती चिड़ियों का महारास मचा था
हवाएँ खुशबू में नहा रही थीं
और जड़-चेतन की त्वचा पर
स्पंदन की कथा लिख रही थीं।
पास बहती हुई नदी में
तरंगों का नर्तन और गान चल रहा था
लगता था
धरती और आकाश के बीच संवाद हो रहा है
प्रतीत हुआ
जैसे चारों ओर एक आवाज गूँज रही है
''अरे, मैं तो यहाँ हूँ, यहाँ हूँ, यहाँ हूँ।''

बाहर तो वसंत आ गया है

बन्द कमरों में बैठकर
कब तक प्रतीक्षा करोगे वसंत की?
सुनो
वसंत लोहे के बन्द दरवाजों पर हाँक नहीं देता
वह शीशे की बन्द खिड़कियों के भीतर नहीं
झाँकता वह सजी हुई सुविधाओं की महफिल में
आहिस्ता-आहिस्ता आने वाला राजपुरुष नहीं है
और न वह रेकॉर्ड है
जो तुम्हारे हाथ के इशारे पर
तुम्हारे सिरहाने बैठकर गा उठेगा
बाहर निकलो
देखो,
बन्द दिशाओं को तोड़ती
धूल भरी हवाएँ बह रही हैं
उदास लय में झरते चले जा रहे हैं पत्ते...
आकाश में लदा हुआ लम्बा-सा सन्नाटा
चट्टान की तरह यहाँ-वहाँ दरक रहा है
एक बेचैनी लगातार चक्कर काट रही है
सारे ठहरावों के बीच
जमी हुई आँखें अपने से ही लड़ती हुई
अपने से बाहर आना चाहती हैं।
आओ गुजरो इनसे तब तुम्हें दिखाई पड़ेंगी
धूल भरी हवाओं के भीतर बहती
रंगों की छोटी-छोटी नदियाँ
पत्तियों की उदास लय में से उगता
नये हरे स्वरों का एक जंगल
नंगे पेड़ों के बीच कसमसाता
लाल-लाल आभाओं का एक नया आकाश
चट्टानों को तोड़-तोड़कर झरने के लिए आकुल
प्रकाश के झरने
कँपकँपाती आँखों के बीच तैरती
अनंत नई परछाइयाँ।
तुम कब तक प्रतीक्षा करते रहोगे वसंत की
बन्द कमरों में
तुम्हें पता नहीं
बाहर तो वसंत आ चुका है।

उसे क्या मिला

जनवादी कवि हूँ
जन के लिए लिखता हूँ
इसलिए उसके पास जाता रहता हूँ
जाड़े की दोपहर थी
एक बूढ़ा सिर पर अमरूद की टोकरी उठाये
काँपते स्वर में आवाज दे रहा था
अमरूद ले लो, अमरूद ले लो
वह थक कर मेरे दरवाजे के पास बैठ गया
मैंने असली जन को देखा
उसके पास पहुँचकर कहा
''बाबा जरा अपना तराजू उठा लो
''उसने तराजू उठा कर पूछा
''कितना तौल दूँ बाबू?''
''नहीं नहीं, मुझे अमरूद नहीं लेने हैं
''तो?''
आपकी फोटो लेनी है''
''उससे मेरा क्या होगा?''
''अरे आप पर लिखी मेरी कविता के साथ
आपकी फोटो छपेगी अखबार में''
''उससे मेरा पेट भरेगा क्या?''
वह उठा और आगे चल दिया
अमरूद ले लो आवाज लगाता हुआ
मेरी कविता के साथ उसकी फोटो छपी थी अखबार में
मुझे प्रसिद्ध मिली और पैसा भी
प्रसन्न बैठा था कि लगा कि वह पूछ रहा है–
''मुझे क्या मिला?''
उसकी आवाज दूर तक गूँजती चली गई।

मर्यादा के नाम पर

वह
माता-पिता की लाडली बेटी है।
भाइयों की स्नेहमयी बहना है
विवाहोपरान्त
पति की प्रिय-अप्रिय पत्नी है
सास-ससुर की भली-बुरी बहू है
पड़ोसियों की भाभी-चाची है
फिर बच्चों की माँ है
किन्तु उसकी निजी पहचान क्या है?
वह कभी-कभी प्राप्त होने वाले
फुरसत के क्षणों में सोचती है
उसने अपना जीवन कहाँ जिया
वह तो दूसरों के लिए जीती रही
मर्यादा के नाम पर
जो भी विष दिया जाता रहा उसे पीती रही।

अपना-अपना मन्दिर

धार्मिक त्योहार का दिन था
मन्दिर रोशनी में नहा रहा था
लोग चले जा रहे थे मन्दिर की ओर
दीप-दान के लिए
उसे अपने दरवाजे पर चुपचाप खड़ा देख
पड़ोसी सेठ ने पूछा
मन्दिर नहीं चलना है?
आऊँगा-आऊँगा आप चलें
सेठ चले गए
वह कुछ देर बाद निकला
और अँधेरे में डूबे एक घर की देहरी पर
चुपचाप एक दीप रख आया।

आर.पी. शर्मा 'महरिष' की तीन ग़ज़लें

1.

सिर्फ हम रस्म निभाएं न निभाने की तरह
क्यों न आपस में मिलें मिलने-मिलाने की तरह

हो अगर साथ में इसरार तो कुछ बात भी हो
वरना ये कोई बुलाना है बुलाने की तरह

तुम ठहरने को जो कहते तो ठहर जाते हम
हम तो जाने को उठे ही थे न जाने की तरह

गर्मजोशी की तपिश भी तो कुछ उसमें होती
हाथ जो मुझसे मिलाते वो मिलाने की तरह

कोई आँचल भी तो हो उनको सुखाने के लिए
अश्क तब कोई बहाए भी, बहाने की तरह

टीस कहती है वहीं उठके तड़पती सी गजल
दिल को जब कोई दुखाता है, दुखाने की तरह

आके रखते हैं कलाई की घड़ी पे ही नजर
उनका आना भी तो 'महरिष' है न आने की तरह

2.

जो सच था उसे कह दिया आपने
इस जमाने में ये क्या किया आपने

चुप रहे किसलिए अपनी तौहीन पर
जहर का घूँट क्यों पिया आपने

दूसरों के लिए जिंदगी होम दी
एक पल भी न सुख से जिया आपने

मरते-पचते हैं सबके लिए आप क्यों
सारी दुनिया का ठेका लिया आपने

कुछ न माँगा किसी से, न कुछ भी लिया
बस सभी को दिया ही दिया आपने

आपका काम उसने बिगाड़ा, मगर
फिर भी उसका किया शुक्रिया आपने

लोग कुछ भी कहें, कहते 'महरिष' यही
एक आदर्श जीवन जिया आपने

3.

गुजर जाएं न हद से सोचते हैं
ये कैसे नफरतों के सिलसिले हैं

कहीं जाले लगे जेहनो पर
तो आंखों पर कहीं पर्दे पड़े हैं

नहीं कुछ देखते धृतराष्ट्र हैं वो
दु:शासन चीर हरने पर तुले हैं

उन्हें क्या फिक्र महंगाई की होगी
जो गोदामों को भरने में लगे हैं

बराबर से मिले सबको तो कैसे
कि बंदरबांट के चर्चे बड़े हैं

गरज कोई तो जरदारों को होगी
गरीबों से गले लग कर मिले हैं

ये भ्रष्टाचार की लानत है 'महरिष'
गरीबी के जो बढ़ते आंकड़े हैं

आराधना सिंह बुंदेला की कविताएँ

हरी चूड़ियाँ

हरी थी चूड़ी, हरी थी धरती,
गाँव का उसके वो खेत भी तो था हरा,
हरी खनखनाती पहने थी वो चूड़ियाँ,
लेकर चली मन में ससुराल का सपना भी हरा।

नव वधू के कुछ दिन तो खुशियों में निकल गये,
उन हरी चूड़ियों की खनक से गूँज गये,
पर ससुराल का सावन वैसा अल्हड़ ना था,
वो मायके के आँगन जैसा मदमस्त ना था।

उसमें माँ बाबा के प्यार की झिड़की ना थी,
मेहँदी भी अबकी बार रंग चढ़ी ना थी,
पिया की फीकी बातों जैसी ही थी,
सासु माँ के तानों से जैसे रंग उसका उड़ गया था।

रंग उड़ कर अब फिर वैसा नहीं चढ़ेगा,
मन की गाँठों के अंदर ही कहीं छुपा होगा शायद,
दहेज़ की आग में कहीं हरियाली खो गई,
जलती देह में कई ज़ख्म उगा गई।

बोली, बाबा अब ना फिर मैं हरी चूड़ियों को पहनूँगी,
कमज़ोर मन और तन में अब ज्वाला भर लूँगी,
मुझे कोई दहेज के लिए अब जला ना सकेगा,
लाख कोशिश करे ज़माना, ये मुझे अब दबा ना सकेगा।

(दहेज पीड़ित लाखों बालिकाओं को समर्पित कविता)

बारिश

बारिश आज भी मेरे गाँव में,
झूम के बरसती है,
दिल हो कितना भी उदास,
वो बड़ी खुशनुमा सी बातें करती है।

कल-कल करती वो पहाड़ी नदियाँ,
जैसे खेली अल्हड़ सी गुड़ियाँ,
वो गाएँ गीत शांत और सुन्दर,
भर दें जीवन में एहसासों का समंदर।

हाँ! बारिश आज भी मेरे गाँव में,
झूम के बरसती है,
आज भी वो बचपन का मन,
उस बरसात में भीगता है हर सावन।

ये बड़े शहरों की बारिश भी,
जैसे बड़ी खबर की तरह फूटती है,
तन तो भिगोती पर मन को छू ना पाती है,
सुंदर एहसास की जगह अफ़रातफ़री मचाती है।

और छोड़ जाती है बस एक उदासी।
हाँ! ये बड़े शहर की खोखली बारिश,
ठंडक ना दे और तपाये है तन-मन,
उमस के साथ जैसे धरती दिखाए अपनी तड़पन।

साथ में लाती है फिर वही अकेलापन,
जहाँ ना दोस्त हैं ना सुकून की चाय-पकौड़ों की सुगंध।
अरे मेरे गाँव की बारिश में है जो सौंधापन,
वैसा कहाँ मिलेगा प्यारा माटी का अपनापन।

पुनश्च

'देवयानी' उपन्यास केंद्रित

राजेश्वर वशिष्ठ

भूमिका के पन्नों से ही, पाठक मन को अपनी गिरफ्त में लेता हुआ, यह उपन्यास, एक बेहद ललित, तिलिस्मी और निर्मल सी शब्दावली से और उतनी ही असरदार और तिलिस्मी अभिव्यक्ति से, दिलो-दिमाग को सहज ही मोहता हुआ, अपना ऐसा प्रभाव रचता जाता है कि पाठक उतरोत्तर जिज्ञासा से भरा हुआ, अन्त तक उसके सम्मोहन से निकल नहीं पाता।

उपन्यास की प्रमुख पात्र देवयानी अनवरत उपन्यास के केन्द्र में बनी रहती है।

देवयानी हर अध्याय से, कहीं अपने परिवार की धुरी के रूप में, तो कहीं जीवन के उतार-चढ़ाव और अप्रत्याशित घटनाओं की वज़ह से, तो कहीं कहानी लेखन, तो सामाजिक सरोकारों से युक्त विषय पर साक्षात्कार से, जुड़ी हुई है। इन सब घटनाचक्रों के चलते परिवार और बच्चों के साथ, उसका भावुक और संवेदनशील रूप, तो विश्वविद्यालय में उसका प्रबुद्ध रूप और मनु के साथ सहनशील, क्षमाशील और सघन प्रेमल रूप सामने आता है और पाठक को अभिभूत करता है। मुझ जैसे पाठक को? तो पुरनूर और पुरनम व्यक्तित्व वाली देवयानी इतना मोहती है कि मैं उसे इस ठण्डी, रूखी और बेगानी दुनिया में खोजना चाहता हूँ, उससे मिलना चाहता हूँ, लेकिन मुझे पता है कि सूरज की किरण सी उजली और ऊष्मा भरी शख़्सियत इस युग में मिलनी मुश्किल है।

वह घर के कामों में लगी, परिवार के हर सदस्य का ध्यान रखती है 'सिवाय अपने'। अपने अन्दर चलते तूफ़ान को झेलती, दबाती, ऊपर से अपने को शान्त और सहज बनाए रखती है। पति मनुज की दिन-पर-दिन बढ़ती बेरुखी और अपने परिवार की ओर उसकी बेपरवाही, देवयानी को दिन-रात विचलित करती है। अन्दर-ही-अन्दर हर पल, हर रोज़ चटकते-दरकते हुए, ऊपर से साबुत बने रहना, कितना कठिन होता है, यह देवयानी के साथ उपन्यास कथा में आगे बढ़ता हुआ पाठक भी बख़ूबी महसूस करता है।

किसी फिल्म को देखने या किसी उपन्यास को पढ़ने के बाद, मेरे साथ अकसर ऐसा होता है कि मैं कई दिनों तक उस कथायात्रा के प्रभाव से बाहर नहीं निकल पाता हूँ। वह मेरा हिस्सा बन जाता है। दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के कारण फिल्में तो फिर भी कल्पना का अधिक अवसर नहीं देतीं, पर उपन्यास अपने किसी पात्र, परिवेश या अन्य घटना-क्रम के कारण लम्बे समय तक मेरा साथ नहीं छोड़ता। पुस्तक समाप्त हो जाती है लेकिन कथा समाप्त नहीं होती।

मैं उसके साथ चलते हुए ही अपना जीवन जीने लगता हूँ। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई एक पात्र कथा से बाहर निकल कर, किसी मित्र की तरह मेरा सहयात्री बन जाता है और मैं उसका प्रशंसक और अनुगामी बन जाता हूँ।

सोचने लगता हूँ, कि दुनिया में इस पात्र जैसे बहुत सारे लोग होते तो कितना अच्छा होता?

मेरे साथ ऐसा क्यों होता है...? ऐसा होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि मैंने अपने किशोर जीवन का एकाकी और बड़ा हिस्सा, निर्मल वर्मा के उपन्यासों के पात्रों के साथ, उठते-बैठते, सोते-जागते हुए गुज़ारा है। परिवेश की समानता के कारण उन पात्रों के साथ मेरा एकात्म होना संभव था। पर अब हैरानी इस बात पर है कि 'देवयानी' मेरा पीछा क्यों नहीं छोड़ रही है? वह तो एक स्त्री

है, मुझे उसका बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न चुम्बकीय व्यक्तित्व, उसका जीवन दर्शन, आचार व्यवहार क्यों मोहक और अभीष्ट लग रहा है? इसे मुझे समझना होगा।

दीप्ति जी के उपन्यास 'देवयानी' में देवयानी एक ऐसी केंद्रीय स्त्री पात्र है जिसे आप जितना समझते चलते हैं आप एक 'सम्पूर्ण स्त्री' की परिकल्पना को साकार होते हुए देखने लगते हैं। वह मेरे आस-पास उपस्थित स्त्रियों जैसी होते हुए भी, अपनी चारित्रिक खूबियों, सौम्य व्यवहार और संवेदनशील औदार्य के कारण भास्वित प्रतीत होती है। मैं इस उपन्यास की पूरी कहानी का खुलासा न करके, संकेतात्मक शैली में उन सारे अहम तत्वों, सूत्रों, पात्रों और तथ्यों की चर्चा करूँगा, जो उपन्यास की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं और अलग-अलग क्षितिज पर, वर्तुल पर प्रमुख केन्द्रीय पात्र देवयानी से जुड़े हैं। इस उपन्यास में सात अध्याय हैं। उपन्यास का पहला अध्याय है 'रूह से रूह के मरासिम'। इस अध्याय में मेरठ शहर का एक कुलीन परिवार है, जो पुश्तैनी लहीमशहीम कोठी में रहता है। परिवार के मुखिया मेजर डॉक्टर गोयल अवकाश प्राप्त फ़ौजी अफसर हैं। देवयानी उनके बेटे मनुज की पत्नी है। देवयानी और मनुज के एक बेटी और एक बेटा है। देवयानी की ममतामयी सास है, जिनसे उसका सलोना माँ-बेटी सा रिश्ता है। कहने को देवयानी दूसरे घर की है, जो पच्चीस वर्ष पहले इस घर में पुत्रवधू बन कर आई थी, लेकिन अन्य सदस्यों की तुलना में सबसे ज्यादा वह ही इस परिवार के हर व्यक्ति से दिल और आत्मा से जुडी हुई है। कहने की ज़रूरत नहीं कि पूरा घर-परिवार भी उससे बड़ी सघनता से एकात्म है। वह जैसे सबकी ज़रूरत बन गई है। मतलब कि देवयानी रूह से रूह के मरासिम' का एक अनूठा जीता-जागता उदाहरण है, जिसका सदस्य तो सदस्य, घर की जड़ चीजों, झरोखों, दरो-दीवार, पेड़-पौधों, बाग-बगीचे आदि सबसे गहरा आत्मीय लगाव है। इतना ही नहीं, परिवार के अन्य सदस्यों का भी एक-दूसरे से अटूट आत्मिक नाता है। हालांकि वे समाज के अन्य लोगों की तरह सामान्य पात्र हैं, सबकी अपनी निजता, अपने स्वभाव, अपनी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, खामियाँ-खूबियाँ, कमजोरियाँ है। उनमें मनमुटाव भी होते हैं, अबोला भी होता है, लेकिन वे इस सबके बावजूद, रूहानी तौर पर जुड़े रहते हैं। शायद इसीलिए इस अध्याय को लेखिका ने 'रूह से रूह के मरासिम' यह खूबसूरत नाम दिया है। आपने एनी फ्रेंक का नाम अवश्य सुना होगा। स्त्री जीवन के संवेदनात्मक पक्ष को ठीक से समझने के लिए उसकी डायरी एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। उसने यहूदी होने के कारण नाज़ियों के उत्पीड़न का शिकार होते हुए इसे दो वर्षों के अंतराल में लिखा था। पंद्रह वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई थी। उसने लिखा था I can shake off everything as I write; my sorrows disappear, my courage is reborn —Anne Frank (जब मैं लिखती हूँ तो सब कुछ भूल जाती हूँ, मेरे दुःख अदृश्य हो जाते हैं, साहस फिर से जीवित हो उठता है।) दीप्ति जी का उपन्यास 'देवयानी' हमें कुछ ऐसे ही रूप का दर्शन कराता है।

देवयानी जब अपने जीवन की परतें खोलती है, तो दुःख को मुट्ठी से रेत की तरह बिखेर देती है और फिर से एक नई दुनिया का सृजन कर देती है। उपन्यास का आरम्भ देवयानी के बच्चों के साथ चल रहे एक वार्तालाप से होता है, जैसा वार्तालाप प्रायः हम सबके घरों में होता है। यहाँ देवयानी एक स्नेहिल और संवेदनशील माँ और ज़िम्मेदार गृहिणी के रूप में सामने आती है, जो विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य की प्रोफैसर है। वह अपने बेटे और बेटी के साथ मित्रवत् संबंधों का निर्वहन करने में विश्वास रखती है।

बच्चों के दादा, रिटायर्ड मेजर डॉक्टर से देवयानी अक्सर, बहुत रुचि से उनके बीते फ़ौजी दिनों के अनुभव और किस्से सुनती है। वे भी भारतीय सेना के गठन से लेकर 1947 और बाद के संगठनात्मक परिवर्तनों और तमाम गतिविधियों के बारे में, देवयानी को बड़े विस्तार से और

बीते दिनों में डूबकर बताते हैं। वार्तालाप आधारित, यह वर्णन इतना ज्ञानवर्धक और रोचक है कि कोई भी पाठक भारतीय सेना के जन्म और विकास की जानकारी हासिल करना चाहे, तो वह उपन्यास के इस हिस्से को एकाधिक बार पढ़ना चाहेगा। उदाहरण के लिए बताता हूँ भारतीय सेना का उदय 1857 की क्रांति के परिणाम स्वरूप हुआ था। 1858 में ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से भारत पर शासन करने का अधिकार ले लिया था और सेना को भी अपने अधीन कर लिया था। सेना की जिस टुकड़ी में भारतीय मूल के जवान होते थे वह इंडियन आर्मी कहलाती थी और जिसमें ब्रिटिश लोग होते थे, वह आर्मी ऑफ इंडिया कहलाती थी। आर्मी ऑफ इंडिया के ब्रिटिश सैनिकों को बहुत अधिक वेतन मिलता था और वे ठंडे पहाड़ी ठिकानों पर शान से रहते थे। भारतीय सेना में भारत के नौजवान स्वेच्छा से भरती होते थे, इसके लिए अंग्रेज़ों ने कभी कोई बल प्रयोग नहीं किया। बस, वेतन ही प्रलोभन था। द्वितीय विश्व युद्ध यानी 1939 के आस पास भारतीय सेना में प्रायः दो लाख सैनिक थे और बाद में यह संख्या बढ़कर पच्चीस लाख हो गई। ऐसी ही बहुत सारी जानकारी इस उपन्यास के आरम्भिक अध्याय में बिखरी पड़ी है, जिन्हें मैंने बहुत पसंद किया।

देवयानी की सास महाराष्ट्र से आती हैं। प्रेम में पड़ कर मेजर डॉक्टर गोयल से विवाह कर लेती हैं और महाराष्ट्र छोड़ कर उत्तर प्रदेश के मेरठ शहर में आकर बस जाती हैं। उसकी सास एक संस्कारी, सरल, सुशिक्षित-प्रगतिशील महिला हैं, जिन्हें रूढ़िमुक्त जीवन जीने में परिवार का सहयोग मिलता है।

यहाँ एक दुर्घटना भी होती है जब देवयानी के श्वसुर के जीवन में एक अन्य डॉक्टर स्त्री आ जाती है। 1948 में वे उस स्त्री से कोर्ट मैरिज भी कर लेते हैं। इन कठिन परिस्थितियों में देवयानी की सास को उनकी सास सांत्वना और सम्मान देती हैं। इसके बाद देवयानी बहुत विस्तार में अपनी सास के गुणों को रेखांकित करती जाती हैं। वह अपनी सास के भावनात्मक आघात और एकाकीपन को लेकर बहुत विचारशील और संवेदनशील है! उनके प्रति अगाध सम्मान और प्रेम से भरी है यानी दोनों का एक बहुत ही मृदुल रिश्ता है। देवयानी की सास अपने जीवन की कितनी ही कहानियाँ देवयानी के साथ बांटती रहती हैं। इन चर्चाओं में इस उपन्यास का एक अपशकुन जैसा प्रसंग भी आता है जो देवयानी की सास उसे सुनाती हैय आश्चर्य यह है कि यह अपशकुन अंत तक पूरे परिवार का पीछा नहीं छोड़ता। उसके बारे में पाठक जब स्वयं ही उसे पढ़ेंगे, तो जानेंगे कि जीवन में समझ न आने वाले कैसे अचरज भरे पड़े हैं! पहले के साधु संतों में वाकई एक दैवी अंतर्दृष्टि होती थी। वे आज के साधुओं की तरह ढोंगी और संसारी सुखों के भोगी नहीं होते थे।

उपन्यास का एक उज्ज्वल चरित्र है 'हरिया काका', जो किशोरावस्था से इस घर का सेवक रहा है और बड़ी ज़िम्मेदारी से पूरे घर के काम-काज करता है। उसने देवयानी और मनुज के बच्चों को ही नहीं, बल्कि मनुज को भी गोद खिलाया है। दोनों बच्चे उसके आगे-पीछे घूमते हैं, उसे अपना दोस्त समझते हैं। वह भी बच्चों से इतना लगाव रखता है कि कई बार बच्चों को घरवालों की डांट से बचाने के लिए उनके दोष अपने ऊपर ले लेता है। हरिया काका घर भर का ऐसा चहेता सेवक है, ऐसा स्तंभ है, जिसके बिना सब आधा-अधूरा महसूस करते हैं। नौकर-मालिक का यह अनूठा स्नेह और सम्मान भरा रिश्ता भी 'रूह से रूह के मरासिम' का ही प्रतिबिम्ब है।

उपन्यास का दूसरा अध्याय है 'आशंकाओं की दस्तक'। यहाँ प्रकाशवृत्त में देवयानी का विवाहित जीवन है। उसका पति मनुज है, जिसकी अनुपस्थिति में देवयानी की जीवन कथा हमारे समक्ष अनावृत्त होती है। मनुज का घर से लम्बे-लम्बे समय तक अनुपस्थित रहना, देवयानी के साथ-साथ दोनों बच्चों को भी कचोटता है। बेटी केतकी पिता से गहराई

से जुड़ी है, बहुत भावुक और अंतर्मुखी है, इसलिए पिता की अनुपस्थिति से अधिक प्रभावित होती है। बेटा कनु है, बहिर्मुखी है, वाचाल है, पढ़ाई के अलावा, संगीत और खेलकूद में समय बिताता है, इसलिए वह उतना प्रभावित नहीं है। भावुक क्षणों में देवयानी अक्सर अपने अतीत में डूब जाती है और अपने विवाह की घटना फ्लैशबैक में पाठकों के सामने के सामने आती है कि मनुज किस कदर देवयानी के प्रेम में दीवाना हो गया था और अंततः उससे विवाह करके ही माना था।

देवयानी जीवन के उतार-चढ़ाव से, जब भी निराश और उदास होती है, और अकेला महसूस करती है, तब उसके ज़हन में पाश्चात्य कवि पी.बी. शैली की यह प्रेरक पंक्ति If Winter comes, can Spring be far behind उभर-उभर आती है और वो अच्छे दिनों के प्रति आशान्वित हो, अपने को कामों में उलझा लेती है। इस अध्याय में एक फक्कड़ और निर्मल से पात्र 'तोषी' की भी अंतर्कथा है, जो इस पूरे परिवार का शुभ-चिन्तक मित्र है। वह मानो अपनी बूढ़ी माँ और दो छोटे भाइयों के लिए ही जीता है। छोटे भाइयों की वजह से वह इस डर से शादी नहीं करता कि पता नहीं कैसी पत्नी मिले जो भाइयों के साथ सौतेला व्यवहार करे और उनकी अवहेलना करें। फिर भी उसके न चाहने पर भी किस तरह उसकी शादी होती है और फिर क्या-क्या घटता है, उस मनोविज्ञान का लेखिका ने बहुत ही सहज और सुन्दर चित्रण किया है। उसके सूने से वैवाहिक जीवन को देखकर, अक्सर देवयानी के मन में आशंका जागती है कि कहीं उसका और मनुज का विवाह बंधन भी तो नहीं टूट जाएगा? 'तोषी' की शेष कहानी को पाठक स्वयं पढ़ेंगे, तो वे इस महत्वपूर्ण अंतर्कथा को बेहतर समझ सकेंगे।

उपन्यास का तीसरा अध्याय है 'वज्रपात'। जैसा कि शीर्षक से ही ज़ाहिर है, इस अध्याय में देवयानी पर जो कठोर वज्रपात होता है, उससे मानो उसकी जान पर ही बन आती है। बेहद प्यार करने वाले प्रेमीपति मनु के पिछले कुछ वर्षों से बदले-बदले से तेवर और बेरुखी से वह पहले ही आशंकित व भ्रमित हुई, गहरी चिन्ता के भंवर में फँसी, वेदना से गुज़र रही थी और अब 'अपने मनु' के बारे में वो सब जानकर, जिसकी देवयानी ने सपने में भी न सोची थी, वह मौत के से एहसास से गुज़र रही थी। उसके जीवन में वेदना और पीड़ा का जानलेवा सैलाब उमड़ आया था।

ताज़ी-गहरी चोट से मिले दर्द को घण्टों आँसुओं में बहाकर, देवयानी शाम तक उस दर्द के बोझ से थोड़ी मुक्त होती है, तो उसे अपने मासूम बच्चों का ख़्याल आता है। एक बार फिर उसकी आँखें डबडबा आती हैं, पर वह तुरंत अपने से जंग लड़ते हुए, खुद को सम्हाल लेती है और अन्ततः बहादुरी से अपनी वेदना को मन के किसी तहखाने में धकेलकर उठ खड़ी होती है। प्रेमल प्रेमिका पत्नी तो वह थी ही जो, आज अधमरी होकर, प्राण तज देना चाहती थी, पर जीभर कर रो लेने पर, उसके अधमरे अस्तित्व पर अब, माँ हावी हो गई थी। नारी का अस्तित्व आजीवन कितनी भूमिकाओं, कितने हिस्सों में बंटा रहता है और उसके ये ही विविध हिस्से ज़रूरत के समय, उसका मज़बूत सहारा बन, उसे साहस से भर देते हैं, शायद, अगली जंग के लिए, अगले तूफ़ान को बहादुरी से झेलने और जीतने के लिए।

इस अध्याय में देवयानी पर दुखों का पहाड़ तब टूटता है, जब, मनुज का मित्र केतन उसे सूचना देता है कि मनुज के जीवन में एक विदेशी स्त्री है और वह देवयानी को छल रहा है। केतन के समझाने पर भी मनु उस दूसरी स्त्री से सम्बन्ध तोड़ने को तैयार नहीं था और केतन निर्दोष भाभी देवयानी के साथ, यह धोखा होते, देख नहीं पा रहा था। सो मनु के न मानने पर, केतन के पास एक ही विकल्प था कि देवयानी को इस बात की जानकारी देना और उसने ऐसा ही किया।

यहाँ दीप्ति जी ने जिस तरह से अपनी नायिका को उस कष्टदायक स्थिति से संघर्ष करते हुए ही नहीं, बल्कि स्वयं

को नियंत्रित और मार्गदर्शित करते हुए दिखाया है, यह वर्णन अनूठा है। पाठक करुणा और संवेदन से भर जाता है। देवयानी उस पल, छल को अपने कंठ में गरल की तरह संजो लेती है। लेखिका का इस संदर्भ में अपनी सहेली सुमन से यह कथन मन को भिगो देता है।

'सुमन, परिवार की प्रमुख धुरी को बहुत कष्ट और तीखा झेलना पड़ता है! व्यक्ति ज़िम्मेदारियों और कर्तव्यों को निबाहने की जितनी ऊँचाई पर होता है, उसे उतनी ही जहरीली कड़वाहट पीनी पड़ती है। महादेव शिव ने पूरी सृष्टि को बचाने के लिए विष पीया! उसी तरह मैंने दोनों बच्चों कनु व केतकी और उनकी देखभाल करने वाली, उन्हें उज्ज्वल भविष्य देने का कर्तव्य निबाहने वाली उनकी माँ यानी 'देवयानी की सृष्टि' बचाने के लिए, अलगाव का ज़हर पीना बेहतर समझा और मैंने शान्ति से मनुज को तलाक दे दिया! अपने वैवाहिक जीवन की रोज-रोज घटने वाली वर्तमान और भावी अप्रिय स्थितियों और मनुज के अजनबी होते रुख से बच्चों को और अपने को बचाने के लिए, यह ज़रूरी था, सुमन!' उन अवसाद के क्षणों में देवयानी फ्लैशबैक में अपने किशोरावस्था के जीवन में उतर जाती है, उन क्षणों और घटनाओं को याद करती है जब मनुज ने दीवानगी की हद तक जाकर, उसे पा लिया था। वह विवाह के बाद के सुखद अनुभवों को स्मरण करती है, जब उसने अपनी शिक्षा पूरी की थी और मेरठ विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य की व्याख्याता बन गई थी। बीतते समय के साथ, वह दो प्यारे बच्चों की माँ भी बन गई थी और जीवन चैन से आगे बढ़ रहा था। देवयानी पुरुषों के जीवन में आई दूसरी स्त्री में कामायनी का वह रूपक देखती है जिसमें श्रद्धा मनु को क्षमा कर पुनः अपनाने को तैयार होती है। पर, देवयानी नहीं जानती उसके जीवन का क्या होगा? मनुज कभी लौटेगा या नहीं? उसने ही मनु को अपने वैवाहिक जीवन और देवयानी के प्रति उदासीन देखकर, सम्बन्ध-विच्छेद कर, मनु को मुक्त करने की पहल की थी! इस निर्णय में 'नारी-विमर्श' स्वतः प्रतिभासित हो उठा है! तलाक के एक वर्ष बाद ही, मनु ने विदेशी महिला ऐना से विवाह कर लिया था। केतन की बात सच साबित हुई थी। पाठक करुणा और संवेदन से भर जाता है।

देवयानी नहीं जानती थी कि मनु की उस दूसरी महिला से कब तक निभेगी? इन क्षणों में देवयानी के बच्चे उसके सलाहकार बन जाते हैं, यहाँ तक कि वे तर्क करते हुए कहते हैं कि जब पापा दूसरी शादी कर सकते हैं, तो देवयानी दूसरी शादी क्यों नहीं कर सकती है...? पर जवाब में देवयानी का यह कहना कि उसे पति तो ज़रूर मिल जाएगा, लेकिन बच्चों को प्यार ख्याल करने वाला पिता, मिलेगा कि नहीं, यह नहीं मालूम! यह पढ़कर मेरी आँखें छलक आईं। तलाक के बाद देवयानी मेरठ छोड़ कर, वहाँ की यादों से निकलने के लिए, नई नौकरी पाकर, दिल्ली चली आती है। जीवन फिर से सामान्य-सा होने लगता है। देवयानी के मन से मनु और श्रद्धा का रूपक पलभर के लिए भी अलग नहीं हुआ है। एक दिन उसे पता चलता है कि पाँच साल साथ रहने के बाद ऐना और मनुज के बीच बिखराव पसर जाता है। पर कोई संपर्क सूत्र न होने की वजह से, उसे अधिक कुछ पता नहीं चलता, न ही वह जानने में रूचि लेती है। देवयानी के दिल्ली विश्वविद्यालय में कार्यरत होने पर, उसके कार्यस्थल से जुड़ी गतिविधियों, घटनाओं और देवयानी का विभागीय साथियों के साथ खाली समय में सांख्य, दर्शन, एवं उपनिषदों तक पर अधिकार से चर्चा करने के वर्णन, एक दार्शनिक दृष्टि से युक्त है, जो अपनी संस्कृति का ज्ञानवर्द्धक माहौल रचते है।

उपन्यास के चौथे अध्याय का नाम है 'एवटाबाद हाउस'। समय फास्टफॉर्वर्ड हो जाता है। उच्च शिक्षा हासिल करने के बाद, बेटी केतकी का विवाह हो जाता है। कनु नौकरी के लिए पहले बैंगलोर और फिर जर्मनी चला जाता है। अब देवयानी अकेली है। कॉलेज के अवकाश के कारण वह अपने बचपन के शहर लैंसडाउन जाती है, जहाँ उसकी

माँ शिक्षण करती थी। यह अध्याय उस छोटे से शहर के पहाड़ी सौंदर्य को जीवित कर देता है। अंग्रेजों के ज़माने के उस 'एवटाबाद हाउस' नाम के बंगले व उसके चारों ओर पसरे प्राकृतिक सौंदर्य का लेखिका ने बेहद रमणीय और मनभावन चित्र खींचा है। पूरे शहर लैंसडाउन और उसके बारे में विस्तार से पढकर, पाठक देवयानी के साथ एक ट्रैवलॉग का आनंद लेता है। उस बंगले में कभी-कभी घटने वाली, अजीबोगरीब कुछ छुट-पुट घटनाएं एक गढ़वाली अफसर की आत्मा अपनी उपस्थिति का भान कराती थी, जिसका खुलासा एक दिन उस बंगले के मालिक, डॉक्टर शाह, वहाँ रहने वाली अध्यापिकाओं के सामने यह कहते हुए करते हैं—'ज़रा भी उस भली आत्मा से डरने की ज़रूरत नहीं। आपको तो बिन माँगे एक अदृश्य शक्तिशाली रक्षक मिला हुआ है।

इस प्रसंग के माध्यम से लेखिका ने अठ्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के चिन्तकों व दार्शनिकों द्वारा किए गहन अध्ययन के हवाले से, इस बात की पुष्टि की है कि प्रेतों और आत्माओं का अस्तित्व, उनसे जुड़े किस्से, कोई झूठ-फरेब या कपोल-कल्पित नहीं होते, अपितु आत्माओं का भी अपना एक संसार होता है! भारत सहित विश्व के अन्य देशों यूनान और रोम की प्राचीन पौराणिक गाथाओं, ईरान, ब्रिटेन, फ्रांस, ग्रीस, सर्बिया, जर्मनी आदि देशों में अनेक सच्चे और चौकाने वाले किस्से मिलते हैं। भारत में 'बैताल पचीसी' में संकलित कहानियाँ, 'कथासरित्सागर' में 'राजा विक्रमादित्य' की कथा इसके उदाहरण हैं। यहीं पर वह अपनी सहेली सुमन के साथ मनुज को लेकर भी चर्चा करती है, जो उसे समझाती है कि अगर मनु उसके जीवन में लौटना चाहता है, तो उसे पुनः मनुज से जुड़ जाना चाहिए और विलम्ब नहीं करना चाहिए। सुमन के साथ देवयानी की बातें बेहद मनभावन और मन मोहने वाली है। इस अध्याय में रामी नाम की स्त्री की रोचक और भावभीनी अंतर्कथा है। उपन्यास में लेखिका की कलम से एक से एक खूबसूरत और अभिभूत कर देने वाली अभिव्यक्तियाँ उपन्यास को दार्शनिक ऊँचाई तक ले जाने वाली हैं! जैसे 'सुमन, मैं उस सच्चे और रूहानी प्यार की बात कर रही हूँ, जो कृष्ण की बाँसुरी से संगीत बन कर बहा, जिसे सुन कर राधा, कान्हा में समा गई और कृष्णमय हो गई, उनकी 'शक्ति' बन गई...उसी प्रेम ने शिव को गौरा के प्रेम में अर्द्धनारीश्वर बना दिया और ये, वे प्रेमी जोड़े हैं, जो युगों से कभी अलग नही हुए! प्रेम में इक दूजे की ऊर्जा बन गए, प्रेरणा बन गए, दोनों का अस्तित्व एक हो गया! क्या इस प्रेम को, दुनिया के लोग समझते है, अपने जीवन में उतार पाते है? सुमन ऐसा प्रेम 'आँखों से छलकता' है! सच्चा प्रेम शिद्दत से चाहने वाले प्रेमी की पूरी देह को तज कर सिर्फ़ और सिर्फ़ उसकी आँखों में उतर आता है!''

उपन्यास के पाँचवें अध्याय का नाम है ज़िंदगी के आयाम। यहाँ देवयानी महिलाओं की एक गोष्ठी में कहानी पाठ के लिए आमंत्रित की जाती है। उसकी कहानी में पुरानी परिपाटी पर चलते हुए, पति, सास, ससुर आदि की दबिश में घुट-घुट कर जीने वाली एक सुशिक्षित बहू के तिल-तिल छीजते जीवन का यथार्थवादी मार्मिक चित्रण है।

इतने विकास के बाद भी, हमारे समाज में आज भी गाँवों, कस्बों और यहाँ तक कि बड़े शहरों में भी, घर की बहू को लेकर अनेक परिवार प्राचीन परम्पराओं से चिपके हुए हैं जो घर की बहू को सुबह से शाम तक बिना आराम किए, घर के कामों को निपटाने वाला यंत्र मान कर चलते हैं। इस कहानी को सुनकर, वहाँ उपस्थित अनेक भुक्तभोगी स्त्रियां भाव विह्वल हो जाती हैं। कहानी स्त्रियों को उनके अधिकारों के प्रति जगाकर बदलाव लाने के ध्येय से प्रस्तुत की जाती है, इसलिए इस मुद्दे पर चर्चा भी होती है।

इसके उपरान्त दीप्ति जी ने 'प्रोफैसर देवयानी' के जीवन के एक अन्य अहम आयाम, विश्वविद्यालय परिसर, वहाँ के परिवेश और विभागीय विविध गतिविधियों शिक्षण प्रणाली, पाठ्यक्रम, भारतीय दर्शन पर रोचक चर्चा व लिजलिजी राजनीति को उजागर किया है। देवयानी का ज्ञान अपरिमित

है। लेखिका ने इस सुघड़ता से विश्वविद्यालयी और विभागीय परिवेश पर कलम चलाई है कि समूचा वर्णन वहाँ का जीवन्त चित्र आँखों के आगे खडा कर देता है।

इसी अध्याय में देवयानी का आकाशवाणी के लिए फिल्म विधा पर ज्ञानवर्धक साक्षात्कार बहुत रोचक बन पड़ा है। जब लेखक किसी चरित्र से एकात्मता स्थापित कर लेता है, तो ऐसा ही मनभावन और सलोना चित्रण करता है।

उपन्यास के छठे अध्याय का शीर्षक है 'पारदर्शी' इस अध्याय में दीप्ति जी ने 'पूर्वाभास' जैसे महत्वपूर्ण विषय पर विचारणीय तथ्य प्रस्तुत किए हैं। सच में, देखा जाए तो, अपवाद को छोड़ कर हम सभी मनुष्यों में पूर्वाभास की सहज क्षमता होती है, पर वह अति भौतिकता के चलते और हमारे दीन-दुनिया में लिप्त होने की वज़ह से दबी रहती है। लेकिन जिन व्यक्तियों का सूक्ष्म आन्तरिक पक्ष सबल, पारदर्शी और मुखर होता है, उन्हें अक्सर ही सच्चे पूर्वाभास होते हुए देखे गए हैं। दुनिया और समाज में रहते हुए भी, अक्सर, दुनिया से दूर अपनी भावनात्मक और वैचारिक दुनिया में रहने वाले, अतिसंवेदनशील इंसान की अतीन्द्रिय शक्तियाँ अन्दर ही अन्दर इतनी सक्रिय हो जाती हों कि उसे पहले से ही भविष्य में होने वाली घटनाओं के आभास होने लगते हैं।

देवयानी भी एक सी ही पारदर्शी पात्र है। उसके मन में जब किसी के लिए, किसी ज़ोर-ज़बरदस्ती से सोचकर नहीं, वरन खुद-ब-खुद अकस्मात कोई बात आती है, तो वह उस व्यक्ति से सामान्य रूप से बता देती है। उसकी वह सामान्य रूप और साधारण ढंग से कही गई बात, जब सच होती दिखती है, तो देवयानी और उसके रिश्तेदार व मित्रगण महसूस करते हैं कि उसके मन में बेबात ही आया ख़्याल सत्य कैसे हो जाता है? लेखिका देवयानी के साथ होने वाले इस तरह के वाक़यों का एक सहज होनी के रूप में उल्लेख करती है और बताती है, कि दुनिया में देवयानी कोई एक अकेली इस तरह की अजूबा इंसान नहीं है, बल्कि एब्राहम लिंकन, नॉस्ट्रेडम, मार्क ट्वेन आदि अनेक प्रख्यात लोगों से लेकर आम लोगों तक को इस तरह के पूर्वाभास हुए और अच्छे और बुरे इस तरह के पूर्वाभासों से लोगों की जान बची और गई भी। इसे नियंत्रित करने के लिए देवयानी मनोचिकित्सक से मिलकर क्या समाधान पाती है, इसे जिज्ञासु पाठक स्वयं जानेंगे, तो उन्हें अधिक अच्छा लगेगा।

सबसे महत्वपूर्ण, सातवाँ और अन्तिम अध्याय है—प्रणय का मानसरोवर।

कई बार जीवन में देखा गया है कि कुछ लोग अलग होकर भी अलग नहीं होते। भौतिक स्तर पर भले ही विपरीत हालात के चलते दूरियाँ बन जाएँ किन्तु दूर होने वाले, एक-दूसरे के दिलोदिमाग में बने रहते हैं। मन से वे निकल ही नहीं पाते। उनसे जुड़ी स्मृतियाँ दिल में घर करके बैठ जाती हैं। ऐसा ही देवयानी और मनु के साथ होता है। दोनों का अलगाव किसी मनमुटाव, भयंकर बैर भाव, दहेज, पत्नी या पति के ख़राब न असहनीय स्वभाव के कारण तो हुआ नहीं था।

कारण था वो ही सदियों पुरानी 'पुरुष प्रवृत्ति' अपनी पत्नी से ऊब होना और परस्त्री में रुचि में जागना। नब्बे फ़ीसदी पुरुष इस आदत के शिकार होते हैं। अपनी पत्नी कितनी भी उवर्शी, मेनका हो, नरम और प्रेमल और हर तरह से निबाह करने वाली कुशल गृहिणी हो, पर दूसरी स्त्री बेहतर न होते हुए भी सुन्दरतम, श्रेष्ठतम, योग्यतम नज़र आती है और इतनी आराधनीय लगती है कि अन्ततः पत्नी का त्याग करने तक बात पहुँच जाती है। किन्तु, साथ रह कर वो सुन्दरतम और श्रेष्ठतम का नशा काफ़ूर हो जाता है। जैसे, मनु इस पुरुष प्रवृत्ति के चलते ही श्रद्धा की किसी ग़लती और अपराध के बिना एक अजब-सी अतृप्ति और खालीपन के तहत, उससे दूर चला जाता है और जब उसे इड़ा मिलती है, तो उस पर बलात् अधिकार जताता है। किन्तु अन्ततः श्रद्धा की ओर मुड़ता है। युगों से इस सृष्टि

की महती श्रेष्ठ रचना 'स्त्री और पुरुष' के मध्य ये ही मिलना-बिछुड़ना, फिर एक होना, घटता आ रहा है चाहे शकुन्तला दुष्यन्त हों या राम और सीता। कारण और हालात भले ही अलग-अलग रहे, पर, कष्टकार अलगाव घट कर रहा। लेखिका ने स्वयं भूमिका में बहुत ख़ूबसूरती से मृदुल शब्दों में इस दुखद सत्य का उल्लेख किया है। यह अध्याय सच में प्रणय का लहराता हुआ खूबसूरत मानसरोवर है।

देवयानी और मनु का विछोह के बाद मिलन, कोई मामूली मिलन नहीं है। वरन्, उसमें पहले दोनों के बीच, प्रेम, उदासी, सामान्य सोच-विचार, जीवन से जुड़े दार्शनिक चिंतन, पुनः साथ रहने की पुलक से भरे ख़तों का आदान-प्रदान होता है। तदनन्तर जब मनु लन्दन से पूरी तरह विदा लेकर, 'समग्रता' से, अपने-अपने रोम-रोम से पुनः अपनी देवयानी का हुआ उसके पास लौट आता है, तो वह इस धरती पर, वर्षों से देवयानी की मनपसंद जगह, एक रमणीय पर्वतीय स्थान 'मुन्सियारी' के अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य व सुख-सुकून भरे वातावरण में, मानो शिद्दत से अपनी अर्द्धांगिनी का अर्द्धनारीश्वर होने के लिए ले जाता है।

वह क़तरा-क़तरा पश्चाताप से भरा, एक लम्बे अरसे तक, अनचाहे ही देवयानी का गुनहगार बना, अब उसे ज़िन्दगी की हर छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी ख़ुशी देना चाहता है। देवयानी कभी विश्वास से भरी, तो कभी अविश्वास में, झूलती, उसकी भावनाओं और संवेदनाओं को समझते हुए भी, मानो कुछ समझ नहीं पाती। वह मनु से हुए विछोह से अन्दर से हिली हुई और मन ही मन डरी हुई सी रहती है। इसलिए बेतहाशा ख़ुशी के मिलने पर भी, वह बीच-बीच में असुरक्षा से भरी, मनु के जीवन में आने से मिली ख़ुशी को दिल के सबसे सुरक्षित कोने में समेट लेना चाहती है, जहाँ से वह फिर से फिसल न जाए।

दोनों, दर्शनीय स्थान हो या पहाड़ी फूलों का अद्भुत बगीचा या मन्दिर हो अथवा सूर्योदय और सूर्यास्त का दर्शन या फिर, होम स्टे का सुखद एकान्त, या साथ-साथ चाय पीना और खाना, खाना...हर पल को एक-दूसरे के साथ जीते हुए, एकात्मता के आनन्द में डूबे हुए एक देह, एक प्राण हो जाते हैं और इस तरह वे पिछला दुख-दर्द और गरल सी पीड़ा को भुलाकर, फिर से, दिल और रूह से जुड़े हुए, चाँद और उसकी रजत चाँदनी की तरह, फूल और उसमें समाई महक की तरह शिव और उनकी अनन्या गौरा की तरह सदा के लिए एक हो जाते हैं। देवयानी और मनु के इस प्रगाढ़ रूहानी मिलन से अभिभूत मैं, उपन्यास के समापन के बावजूद भी, बमुश्किल इस उपन्यास से बाहर निकल पाया। उपन्यास पाठक पर शुरू से अन्त तक अनेक बार जादू की तरह सवार होता है और उसे इस तरह अपना बनाकर छोड़ता है कि वह ताउम्र उसे याद करता रहे।

दीप्ति जी भाषा की धनी हैं। उनके पास उत्कृष्ट भाषा का एक ख़ज़ाना लगता है। उनकी भाषा की ख़ासियत है कि वह एक साथ साहित्यिक और आमफ़हम है और सीधे दिल में उतरती चली जाती है।

दीप्ति जी की भाषा के लिए सबसे उचित और सटीक शब्द हैं 'सम्मोहक', क्योंकि इस एक अकेले 'सम्मोहक' शब्द में, वे सभी गुण सिमट आते हैं जो एक प्रांजल, सुबोध, मृदुल, सरल, तरल, सलोनी, रुपहली, सुनहरी उजली, शाख सी लचीली, और साथ ही भावों में समंदर-सी गहरी, विचारों में गगन सी निस्सीम, चाँद-सी शीतल, सूरज-सी तेजस्वी, फूल-सी कोमल, संवेदनाओं से स्पन्दित, सलिल सम कल कल बहती, सहज ही पाठक को बड़ी आत्मीयता और अपनत्व से आपने जादू में बाँध लेती है। 'देवयानी' एक पठनीय ही नहीं ज्ञानवर्धक उपन्यास भी है, जो हमें हमारी संस्कृति, आदर्शों और मूल्यों से भी परिचित कराता है। ऐसे उपन्यास रोज़ नहीं लिखे जाते।

रामदरश मिश्र एक युग

डॉ. अनीता कपूर

साहित्य की कोई उम्र नहीं पर जो साहित्य एक युगपुरुष साहित्यकार के साथ चला हो, उनकी लेखनी से निकला हो वो एक इतिहास बन जाता है। वैसे तो प्रोफेसर रामदरश मिश्र जी ने कहानी, उपन्यास व और भी विधाओं में लेखन किया पर मैंने जब उनकी कविताओं को स्कूल कालेज में पढ़ाए तभी से उनकी कविताओं से इश्क कर बैठी और स्वयं भी कविताएँ लिखने लगी। रामदरश मिश्र जी साहित्य के बरगद के पेड़ हैं जिनकी छाँव तले मुझे पहली

बार 2 मार्च, 1993 में कविता पाठ करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। मैं अमेरिका में रहती हूँ और इस वर्ष दिल्ली प्रवास के दौरान ज्यों ही पता लगा कि, रामदरश मिश्र जी मेरी बिल्डिंग के सामने वाली बिल्डिंग में अपने सुपुत्र के पास रह रहें हैं तो, आदरणीय प्रो. रामदरश मिश्र जी एवं उनकी पत्नी आदरणीय सरस्वती मिश्र जी के घर उनसे मुलाकात करने के लिए पहुँच गई। वो शाम एक ऐसी यादगार और ऐतिहासिक रही जो हमेशा मुझे प्रेरणा देती रहेगी। उन्होंने मेरी रचनाएँ बहुत तन्मयता से सुनी और आशीर्वाद भी दिया। इस उम्र में भी इतनी बढ़िया दृष्टि, बिना चश्मे के। याददाश्त और चुस्ती ऐसी कि, स्वयं फुर्ती से उठकर दूसरे कमरे से अपना संकलन लाएँ और रचनाएँ सुनाई। मेरी पुस्तकों के लिए उन्होंने शुभकामनाएँ दीं। साहित्य मनीषी प्रो.रामदरश मिश्र जी के हाथों की छुअन पाकर मेरी पुस्तकें सम्मानित हो गईं, जिसके साक्षी कुछ चित्र रहे। उनकी एक कविता "दिल्ली में गाँव लिए" मेरे दिल के करीब है, जिसमे वे लिखते हैंः 'ख' सोचता है वह तो गाँव से दूर होकर और पास हो गया है गाँव के बिम्ब
और भी सघनता से आने लगे हैं
उसकी कविताओं में
वह कभी-कभी अपने पर हँसता है
अरे बावला
तेरा दोस्त तो गाँव को भूलकर

महानगरी फॉर्मूलों के सहारे
अंतरराष्ट्रीय हो गया
और तू अभी भी
दिल्ली में गाँव लिये बैठा हुआ है।

लगता है जैसे यह कविता मुझसे कुछ कहती है। जब-जब पढ़ी तो लगा कि, मैं अंतरराष्ट्रीय तो हो गई पर भारत के और पास हो गई। शताब्दी पुरुष कविवर रामदरश मिश्र का इस वर्ष शताब्दी समारोह भारत भर में साहित्यकारों ने मनाया। 100 वें वर्ष में प्रवेश कर चुके, हिंदी के एक बड़े कद के मूर्धन्य कवि रामदरश मिश्र ने सही अर्थ में कवि सिद्धता हासिल कर ली है। वे बेहद सीधे-सरल और सम्माननीय कवि हैं, जो कविताएं लिखते ही नहीं कविताएं जीते भी हैं। रामदरश जी की कविताएं केवल उनकी कविताएं नहीं, बल्कि एक पूरे युग की कविताएं हैं, समय की कविताएं हैं।

जिसकी उजास में साहित्य और संबंध बहुत पवित्र, बहुत अर्थवान लगने लगते हैं। लगता है कि हम साक्षात् साहित्य की विभिन्न विधाओं के सम्मुख बैठे हुए हैं। बिना किसी दिखावे के ही साहित्य उनसे झरता रहता है।

आदरणीय रामदरश मिश्र की साहित्यिक प्रतिभा बहुआयामी है। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना और निबंध जैसी प्रमुख विधाओं में तो लिखा ही है, आत्मकथा 'सहचर है समय' यात्रावृत्त तथा संस्मरण भी लिखे हैं। यात्राओं के अनुभव 'तना हुआ इन्द्रधनुष', 'भोर का सपना' तथा 'पड़ोस की खुशबू' में अभिव्यक्त हुए हैं। उन्होंने अपनी संस्मरण पुस्तक 'स्मृतियों के छन्द' में उन अनेक वरिष्ठ लेखकों, गुरुओं और मित्रों के संस्मरण दिये हैं जिनसे उन्हें अपनी जीवन यात्रा तथा साहित्य यात्रा में काफ़ी कुछ प्राप्त हुआ है। रामदरश मिश्र रचनाकर्म के साथ-साथ आलोचना कर्म से भी जुड़े रहे हैं। समय यात्रा में बदलता हुआ यथार्थ उनके अनुभव और दृष्टि में समाकर उनकी रचनाओं में उतरता रहा है। परिवर्तनशील समय का सत्य उनकी सर्जना को सतत् कथ्य की नयी आभा और शिल्प की सहज नवीनता प्रदान करना रहा है। मिश्र जी के पास अनुभवों, स्मृतियों का विशाल भंडार है। प्रेमचंद जी की तरह ही वे अपनी सादगी के सौंदर्य और संवेदना की कितनी गहरी थाप दिलों पर लगाते हैं।

उम्र के इस पड़ाव पर रामदरश मिश्र जी अभी भी सक्रिय हैं और साहित्य साधन में रात हैं। उनके लेखन के जरिए यह तो साबित हुआ है कि अच्छा साहित्य हमेशा सम्मान पाता है।

पुस्तक समीक्षा-1

'अहल्या' फनी मोहंती जी का मार्मिक काव्य संग्रह

समीक्षक : विजय कुमार तिवारी

काव्य सुख देता है, पीड़ा जनित होता है और काव्य में साहित्य के सारे रस पाये जाते हैं। कविता सुखानुभूति से अधिक पीड़ित मन से जुड़ती है तथा उसमें अभिव्यक्त हुई पीड़ा मुक्ति का मार्ग दिखाती है और जीने का सम्बल देती है। कविता प्रश्न करना सिखाती है, उत्तर की तलाश करवाती है और जीवन संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। स्त्री पीड़ा, स्त्री प्रताड़ना के हर स्वरूप को कविता पूरी जीवन्तता और गम्भीरता के साथ उठाती है। जीवन की समस्याओं का समाधान साहित्य में मिलता है इसीलिए हर कालखण्ड में साहित्यकारों ने दुनिया का मार्गदर्शन किया है। हर कालखण्ड में नारी मन का अन्तर्द्वन्द्व समाज के सामने चुनौती के रूप मे रहा है जिसे समझना कभी भी सहज नहीं रहा।

वह डरती रहती है, संकोच करती है और स्वयं को खतरों से घिरी पाती है। जिस स्त्री को सृष्टि में सृजन का दायित्व मिला है, वही कटघरे में खड़ी है, अनादृत और तिरस्कृत है। नारी अपने सम्पूर्ण औदार्य के साथ सृजन में लगी रहती है, जुड़े लोगों का संसार बसाती है और दुनिया को अपना श्रेष्ठ देती रहती है। बदले में वह कुछ भी नहीं चाहती, उसका स्वभाव ही है संतोष करना, करुणा-स्नेह देते रहना और सबको सुखद संसार देना।

भगवतशरण उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन सहित सभी साहित्यकारों ने नारी की विकास यात्रा को समझने की कोशिश की है। आदिम समय में, पाषाण काल या उससे भी पहले स्त्री ही सत्ता के शीर्ष पर हुआ करती थी, उसी का वर्चस्व होता था और उसे अपदस्थ कोई स्त्री ही करती थी।

प्रश्न यह है कि उसका बदलाव कैसे हुआ और क्रमशः वह कैसे कमजोर होती गई? हमारे सनातन या पौराणिक आख्यानों में प्रातः स्मरणीय पंच कन्याओं का बहुत आदर के साथ उल्लेख होता है। अहल्या, तारा, मंदोदरी का सम्बन्ध रामायण काल से है और कुंती, द्रौपदी महाभारत काल की हैं। इन्हें चिर कन्याओं के रूप में मान्यता मिली है।

फनी मोहंती उड़िया भाषा के वरिष्ठ और बहुचर्चित कवि हैं।

उन्हें उड़िया साहित्य अकादमी, केन्द्रीय साहित्य अकादमी सहित साहित्य के अनेकों पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। उनकी पुस्तकें विभिन्न भाषाओं में अनूदित हुई हैं। ऐसी ही हिन्दी में अनुदित काव्य पुस्तक 'अहल्या' मेरे सामने है। इसे उन्होंने दीर्घ कविता के रूप में लिखा है और इसका हिन्दी अनुवाद उड़िया हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार शंकरलाल पुरोहित जी ने किया है। ऋषि गौतम की पत्नी अहल्या ब्रह्मा की मानस पुत्री हैं, सर्व सुन्दरी हैं और इन्द्र सहित सभी देवता उनसे विवाह के लिए उत्सुक हैं। ब्रह्मा ने अहल्या की शादी गौतम ऋषि से कर दी और यही इन्द्र के क्रोध का कारण बना।

इन्द्र ने छल किया, गौतम ऋषि ने शाप देकर अहल्या को पत्थर बना दिया। राम के द्वारा अहल्या का उद्धार हुआ। यह कथा हम सबने सुनी है, यथा विह्वल होते हैं और आज भी साहित्यकार नाना तरीके से अहल्या के जीवन को लेकर चिन्तन-मनन करते हैं। फनी मोहंती ने अपने तरीके से अहल्या प्रसंग को इस पुस्तक में लिखा है और अपनी करुणा, संवेदना पाठकों तक पहुँचाने की कोशिश की है।

पुस्तक के शुरू में अपने अग्रलेख में मोहंती जी लिखते हैं 'लम्बी कविता न तो काव्य है या खण्ड काव्य और न ही गाथा कविता। जीवन बोध के अनन्य रहस्य में से इसकी सृष्टि हुई है। यह कवि की अखण्ड व्यक्ति सत्ता का एक खण्डित रूप है। एक केन्द्रीय रूपकल्प के आधार से इसका बलय संप्रसारित है। यह जीवन का भग्नांश नहीं बल्कि जीवन को समग्रता के साथ अनुभव करने का एक सारस्वत प्रयास है।' मोहंती जी ने अपने सनातन ग्रंथों भागवत, रामायण, महाभारत आदि का श्रवण, पठन-पाठन गाँव में

रहते हुए बचपन में किया है। वे लिखते हैं— "उसी जगह अहल्या को जानने का थोड़ा बहुत अवसर मुझे मिला। अहल्या के प्रति हुए अविचार के विरुद्ध मेरा बाल-मन जाने क्यों विद्रोह कर उठा था।" उन्होंने आगे लिखा है 'अहल्या सदियों से एक अवधारित सत्य बनी हुई है। अन्याय, अनीति और अविचार का शिकार होकर उस समय की अहल्या नामक नारी जो पीड़ा और यन्त्रणा भोग रही थीएआज भी उसका अंत नहीं है।'

अपने दीर्घ काव्य ग्रंथ को मोहंती जी ने कुल इक्कीस कविता खण्डों में विस्तार दिया है। अहल्या स्वयं अपनी व्यथा कथा सुना रही है, मेरे दुख का, परीक्षा का कोई आदि अंत नहीं है, पौष मास की भीषण ठंड में दुख के झूले पर झूलते रहना है। चित्रण देखिए पौष की ओस भीगी/यह रात, चारों ओर सांय-सांय/ सन्नाटा ही सन्नाटा/न शब्द न ध्वनि/निथर, सुनसान वन में। अहल्या की दैन्य स्थिति का मार्मिक चित्रण विचलित करने वाला है। आषाढ़ माह की मांगलिक मुहूर्त वेला में धूर्त, दुस्तर समय शैवाल बिखेरता जा रहा है, ऋषि आश्रम में कोलाहल है, चिन्तन-मनन, विचार-विमर्श हो रहा है। फनी मोहंती जी ने बिंबों के साथ, अद्भुत, सुरम्य, भाव पूर्ण वर्णन किया है, लिखते हैं घटी हुई घटना का/प्रतिकार के लिए/कोई उपाय नहीं/औद्धत्य और अहंकार का/ प्रतिहत के लिए यथार्थ/सामर्थ्य नहीं/उद्दंड शासक के पास/मानदंड का प्रश्न नहीं। अहल्या कहती है सहज, सरल निष्कपट मानव सी/मैं तो खूब खुश थी/पति और 'शत' को लेकर/छोटे संसार में, ऋषि आश्रम में। वह स्वयं अपनी स्थिति व्यथा का चित्रण करती है। यह ग्रंथ कवि मोहंती जी के काव्य कौशल का अनुपम उदाहरण है। उनके पास अद्भुत शब्द सामर्थ्य है, भाव चित्रण की प्रवणता है और जीवन्त चित्रांकन स्तब्ध करने वाला है। अहल्या कहती है, इतना सारा अघटन हो गया परन्तु किसी एक भी सत्यनिष्ठ, नीतिवान समर्थ पुरुष ने प्रतिवाद नहीं किया, मुनि, ऋषि, तपस्वी, आचार्य, अतिथि, ब्रह्मचारी सभी निवीर्य पुरुष से एक-एक कर चले गए। सबने कहा आश्रम की पवित्रता नष्ट हुई। अहल्या स्थिति बतलाती है असहाय नारी जाति के प्रति/घट रही घटना का/सत्यासत्य जानने कोई एक भी/आग्रही न था।

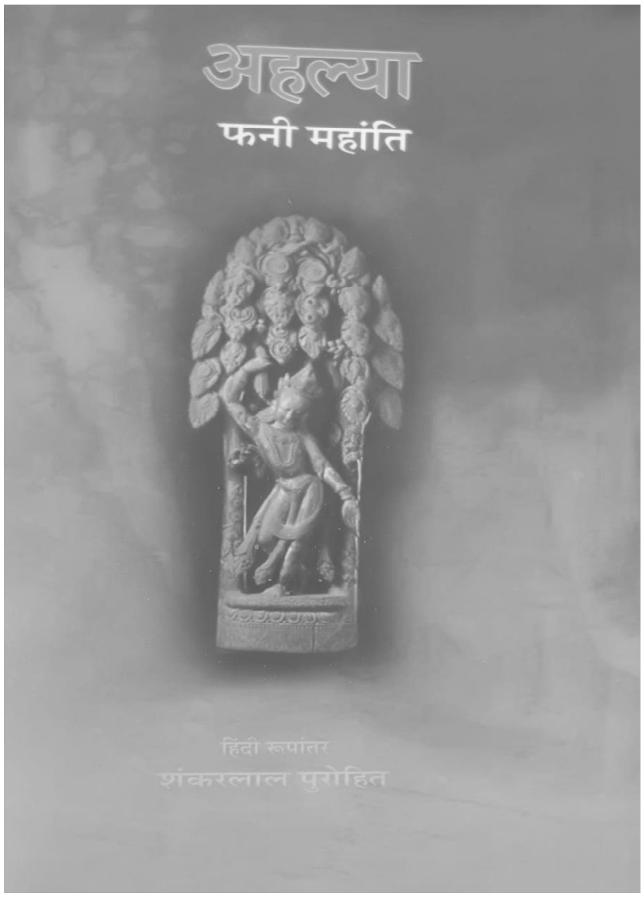

अहल्या कहती हैं किसी के पास मर्यादित उत्तर न था। वह परित्यक्त पड़ी हुई है किसी की प्रतीक्षा में। अहल्या जानती है कि प्रतीक्षा में वार्तालाप नहीं होता, केवल प्रतीक्षा होती है युग युग तक। मोहंती जी अहल्या के लिए विशेषण प्रयोग करते हैं समय की साधना संगिनी/हे महाभावमयी, अनाहता/सहज सुन्दरी! प्रतिशब्द के/प्रति अक्षर में तुम/अनुपमामयी नारी ही नारी। अहल्या के साथ घटी दुर्घटना के बाद आसमान टूट पड़ा, सारी दिशाएं अंधकारमय हो गईं और चारों ओर से विषाद के काले मेघ घिर आए। इन्द्र के छल काएअहल्या के

तत्क्षण की सम्पूर्ण स्थिति का कवि मोहंती जी ने विह्वल कर देने वाला प्रसंग लिखा है। ठगी गई अहल्या की भाव-संवेदनाओं को उन्होंने मार्मिक तरीके से चित्रित किया है। योगिनी वेश में बैठ वह प्रार्थना करती है, हे ईश्वर! अन्य किसी स्त्री के साथ ऐसा न हो।

वह जानती है मुक्ति नहीं सहज इस जीव दशा में। पश्चाताप की अग्नि में भस्म होना पड़ेगा। वह परम शान्ति से मरना चाहती है। कवि किंचित दार्शनिक भाव से विचार करता है और अहल्या की मनोदशा व विलाप का वर्णन करता है। अहल्या पूछती है मृत्यु केवल पीड़ित की, या/अत्याचारी की, पापात्मा की, या/स्मृति विजड़ित माटी घट जड़ शरीर की/या निरर्थक नीरवता की/काकुस्थ विकल समय की/मृत्यु स्थिर निश्चित, देवी-दत्त, ज्ञात-अज्ञात घटनावली की। वह जितना ही उस दुखद प्रसंग को भूलना चाहती है, वह दृश्य बार-बार उभर आता है।

भीतर-बाहर हर घड़ी

विद्रोह का भयावह कालात्मक रुप।

अहल्या कहती है मुझ पर अनुकंपा मत करो/मेरी दयनीय विकल स्थिति को लेकर/आँसुओं की स्याही से इतिहास लिखो मत/योगारूढ़ अवस्था में/अकेली मुझे रहने दो। मोहंती जी ऐसी परिस्थिति में नारी की मजबूरी चित्रित करते हैं, उसकी असहायता दिखाते हैं और अहल्या के भीतर चल रही भाव-संवेदनाओं को जीवन्तता प्रदान करते हैं। अहल्या की नींद किसी के मृदुल, कोमल स्पर्श से टूट गयी है।

कवि ने उस भावपूर्ण क्षण का अद्भुत चित्रण किया है। यहाँ बिंब हैं, प्रकृति के मनोरम दृश्य हैं, भाव-भंगिमाएँ हैं और प्रणय-मिलन के लिए सहज समर्पण है। अहल्या को लगा, चाँदनी रात में प्रियतम आये हैं, वह कहती है, तुम दबे पाँव आये, मेरे बालों को सहलाया, पल भर खड़े रहे, एड़ी से चोटी तक छूते गए और मैं तुम्हारे स्पर्श की मादकता में स्वयं को भूल गई।

अहल्या आगे कहती है तुम्हारी कोमल बातों की चातुरी में/मोहिनी अनुराधा रूप माधुरी में/अपनी स्थिति अचानक गँवा बैठी। मोहंती जी लिखते हैं, चिरकाल से अहल्या प्रभु राम की प्रतीक्षा कर रही है। वह कहती है हे मेरे हृदय बल्लभ अनुपम कांत!/मेरे कलंक को, कालिमा को/अपने आशीर्वाद की अभय मुद्रा में/परिछिन्न करो।

वह कहती है तुम ही मेरे मरण, मेरे जीवन। मुझे दया मत करो/तुम्हारे विपुल नेह में/मैं बँधी चिरकाल। वह पूर्ण संकल्पित मन के साथ कहती है चिरकाल बँधी रहूँगी/तुम्हारे प्रेम के मधुवन में/प्रेम जहाँ शोक न होगा/दुख और पछतावे का अस्थिर पवन/बहता न होगा /आशंका न होगी कि/उद्वेग न होगा, विग्रह व्यथा न होगी/दीर्घ साँस न होगी।

अहल्या कहती है तुम्हारे आते ही सब कुछ बदल जायेगा, आनंद की हिलोरें उठेंगी, मेरे हृदय में नूतन प्रेम का संचार होगा। कवि का भाव बोध देखिए मायामय नील मेघ/की तरह दुर्भाग्य के/आकाश में तुम आकर/पहुँचे स्व इच्छा से/निष्कपट अतिथि की तरह/अप्रत्याशित घड़ी में। अहल्या कहती है छटपटाती मछली-सी मुझको आपने उपदेश दिया और रूपांतरित हुई मेरे शरीर और मन की जड़ता। हे राम! तुम पधारे हो इस परित्यक्त आश्रम में, पवन आज मुखरित हो प्रवाहित हुआ है।

तुम पधारे हो, इसलिए आज हर कोष में नूतन जीवनी शक्ति संजीवित और हर प्राण में अननुभव नूतन उल्लास व्याप्त हुआ है। अंत में अहल्या कहती है– हे निर्मल शांत कांत सुन्दर!/मुझे निर्भय करो/निडर करो, निसंशय करो/अभय मुद्रा में, नूतन कल्प की/उज्ज्वल आलोक रश्मि में। आपके आगमन से मेरा जीवन/धन्य, परिपूर्ण।

डॉ. फनी मोहंती के इस दीर्घ काव्य "अहल्या'' का उड़िया भाषा से हिन्दी में अनुवाद उड़िया-हिन्दी के बहुचर्चित, प्रसिद्ध साहित्यकार श्री शंकरलाल पुरोहित ने किया है। उनके पास उड़िया और हिन्दी दोनों भाषाओं के शब्द हैं तथा काव्य की गहरी समझ है। उनके द्वारा अहल्या का हिन्दी अनुवाद हिन्दी के पाठकों के लिए उपहार है वरना हिन्दी के पाठक इस महत्वपूर्ण कृति का रसास्वादन नहीं कर पाते।

साहित्य समाचार-1

विज्ञप्ति

इंडिया नेटबुक्स एवं बीपीए फाउंडेशन सम्मान/पुरस्कार 2023

इंडिया नेटबुक्स, बीपीए फ़ाउंडेशन और अनुस्वार के संयुक्त तत्वावधान में प्रत्येक वर्ष पंडित भगवती प्रसाद अवस्थी की जयंती पर मार्च में चयनित रचनाकारों को सम्मानित किया जाता है। वर्ष 2023 के लिए निम्न सम्मान एवं पुरस्कारों हेतु प्रविष्टियाँ/अनुशंसाएँ आमंत्रित की जाती हैं—

शिखर सम्मान

(हिंदी के क्षेत्र में आजीवन विशेष योगदान एवं उपलब्धि के आधार पर)

1. वेदव्यास सम्मान
2. वागीश्वरी सम्मान

साहित्य विभूषण सम्मान

(विशिष्ट क्षेत्रों में प्रवीणता एवं आजीवन योगदान के लिये निम्न सम्मान)

1. आचार्य केशव देव शास्त्री साहित्य विभूषण सम्मान आजीवन साहित्यिक योगदान
2. मन्नू लाल अवस्थी साहित्य विभूषण (हिंदी शिक्षा एवं संगठन)
3. आनंदी देवी साहित्य विभूषण सम्मान (बहु विधागत श्रेष्ठता)
4. श्री भगवती प्रसाद अवस्थी साहित्य विभूषण सम्मान (बाल साहित्य, सृजन एवं प्रसार)
5. शिवप्यारी देवी साहित्य विभूषण सम्मान (हिंदी शोध एवं अनुसंधान)
6. पुष्पा देवी साहित्य विभूषण सम्मान (प्रवासी हिंदी साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान)
7. गोविंद प्रसाद अनल साहित्य विभूषण सम्मान (पत्रिका एवं पत्रकारिता)

साहित्य भूषण सम्मान

(विधागत प्रवीणता के आधार पर निम्न सम्मान)

1. सियाराम व्यंग्य भूषण सम्मान (व्यंग्य)
2. कालीचरण मिश्रा साहित्य भूषण सम्मान (कहानी एवं उपन्यास)
3. भागीरथी देवी साहित्य भूषण सम्मान (कथेतर)
4. जनक दुलारी मिश्रा साहित्य भूषण सम्मान (बहुविधा)
5. प्रेम शंकर शुक्ल साहित्य भूषण सम्मान (कविता)
6. राजीव अवस्थी प्रवासी साहित्य भूषण पुरस्कार

साहित्य रत्न सम्मान

(विधागत श्रेष्ठ रचनाकर्म के आधार पर निम्न श्रेणियों में)

युवा रत्न, बाल रत्न, कथा रत्न कहानी, कथा रत्न उपन्यास, काव्य रत्न, व्यंग्य रत्न, लोक कथा रत्न, लघुकथा रत्न, हिंदी कर्मी रत्न, आलोचना रत्न, अनुवाद रत्न, नाट्य कला रत्न, चित्र कला रत्न, चिकित्सा साहित्य रत्न, हिंदी शोध रत्न, विधि साहित्य रत्न, खेल साहित्य रत्न, बाल साहित्य रत्न, प्रवासी साहित्य रत्न, मंचीय काव्य रत्न, सिनेमा साहित्य रत्न, हिंदी पत्रिका रत्न, संपादक रत्न, पत्रकार रत्न, प्रकाशक रत्न, संचालक रत्न, क्षेत्रीय भाषा साहित्य रत्न, समाज रत्न सम्मान।

नियम

1. प्रविष्टि लेखक, प्रकाशक या अनुशंसक द्वारा भेजी जा सकती है। चयन समिति/आयोजन समिति स्वयं भी किसी नाम पर विचार कर सकती है।
2. एक से अधिक प्रविष्टि भेजने की छूट होगी, किंतु व्यक्ति को एक से अधिक पुरस्कार नहीं दिया

जाएगा।

3. जिन साहित्यकारों को पूर्व में सम्मानित किया जा चुका है उन पर तीन वर्ष बाद ही पुनः विचार किया जायेगा, लेकिन विशेष उपलब्धियों के आधार पर चयन/आयोजन समिति द्वारा पहले भी विचार किया जा सकता है।

4. प्रविष्टि में निम्नलिखित सूचनाएँ अनिवार्य हैं

पुरस्कार/सम्मान का नाम

प्रस्तावक का नाम और पता

प्रस्तावित व्यक्ति का नाम और पता (लेखक का मोबाइल नं. व ईमेल सहित)

प्रस्तावित व्यक्ति का योगदान (परिचय व फ़ोटो संलग्न करें)

प्रस्तावक का व्यक्ति से संबंध

प्रस्तावक के हस्ताक्षर

5. प्रविष्टि ईमेल inbawards@gmail.com पर ही स्वीकार की जाएगी। अन्य किसी माध्यम से भेजी गईं प्रविष्टि की कोई ज़िम्मेदारी नहीं होगी। पूछताछ इस नंबर पर की जा सकती है 91198106

6. प्रविष्टि ईमेल पर भेजने के बाद उसकी एक प्रति अपनी किसी प्रकाशित पुस्तक एवं संक्षिप्त परिचय के साथ निम्नलिखित पते पर भेजना अनिवार्य है इंडिया नेटबुक्स प्राइवेट लिमिटेड, सी-122, सेक्टर-19, नोयडा-201301

7. अधूरी प्रविष्टि पर विचार नहीं किया जाएगा।

8. चयन समिति/आयोजन समिति को किसी भी प्रविष्टि पर विचार न करने का अधिकार होगा।

9. चयन समिति/आयोजन समिति का निर्णय अंतिम और बाध्यकारी होगा।

10. पुरस्कार मार्च में दिल्ली में एक विशेष समारोह में वितरित किए जाएँगे।

11. प्रविष्टि भेजने की अंतिम तिथि 31-12-2023 है।

साहित्य समाचार-2

14 वां राष्ट्रीय बाल साहित्यकार सम्मेलन

रिपोर्ट : मधु माहेश्वरी

झीलों की नगरी उदयपुर की विश्वविख्यात धरा पर 'संस्कार निर्माण की पौधशाला है बाल साहित्य' विषय को लेकर एक दिवसीय 14वें राष्ट्रीय बाल साहित्यकार सम्मेलन का आगाज 10 दिसंबर, 2023 को राजस्थान कृषि महाविद्यालय के प्रसार शिक्षा निदेशालय सभागार में किया गया। सलिला संस्था ने अपने इस सम्मेलन को राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली और महाराणा प्रताप कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, उदयपुर के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित कर ऐतिहासिक बना दिया। प्रातः 9:30 बजे से पंजीकरण के साथ ही 10:30 बजे से प्रथम सत्र का शुभारंभ हुआ, जिसमें उद्घाटन, लोकार्पण, पुरस्कार, सम्मान एवं पुस्तक समीक्षा जैसी गतिविधियों को समाहित किया गया।

प्रथम सत्र : दीप प्रज्जवलन एवं स्वागत

संचालक डॉ. इंदु गुप्ता के आह्वान पर सभी अतिथियों ने मंच पर आसन ग्रहण किया। अध्यक्षता 'बच्चों का देश' पत्रिका के संपादक संचय जैन ने की। मुख्य अतिथि वरिष्ठ साहित्यकार एवं इंडिया नेटबुक्स, प्रा.लि., नोएडा के सीईओ डॉ. संजीव कुमार थे। विशिष्ट अतिथि महाराणा प्रताप कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, उदयपुर के पूर्व कुलपति प्रो. उमाशंकर शर्मा, पं. जवाहरलाल नेहरू बाल साहित्य अकादमी, जयपुर, राजस्थान के सचिव राजेन्द्र मोहन शर्मा, युगधारा के संस्थापक डॉ. ज्योतिपुंज, कृषि वैज्ञानिक डॉ. के. एल. कोठारी एवं बाल साहित्यकार डॉ. शील कौशिक थीं। मंचस्थ अतिथियों ने माँ शारदे को माल्यार्पण कर दीप प्रज्जवलित किया। सभी अतिथियों का तिलक, माला, उपरना, बैज द्वारा स्वागत किया गया। गीतकार शकुंतला सरूपरिया ने सुमधुर कंठ से माँ सरस्वती की वंदना प्रस्तुत की। गीतकार गंगाधर शर्मा ने हाड़ीरानी के बलिदान पर स्वरचित कविता का ओजस्वी वीररस से रसास्वादन कराया। प्रमिला व्यास शरद ने सलिला संस्था का गीत 'बहती रहे सलिला, साहित्य और सृजन की' प्रस्तुत कर सबका मन मोह लिया।

इस एक दिवसीय सम्मेलन की संयोजक डॉ. विमला भंडारी द्वारा स्वागत उद्बोधन एवं 'सलिला संस्था' के तीस वर्षीय सफर से अवगत कराया और 'सलिल प्रवाह' की यात्रा पर विश्लेषणात्मक विचार प्रस्तुत किए। मंचासीन अतिथियों का अभिनंदन करते हुए संक्षिप्त परिचय के साथ उनके कर्मक्षेत्र की जानकारी भी करायी। उन्होंने पं. जवाहरलाल नेहरू बाल साहित्य अकादमी, राजस्थान को स्थापित करने पर राजस्थान सरकार एवं संलग्न महानुभावों के योगदान से सभी को अवगत कराया।

डॉ. सतीश कुमार ने सम्मेलन के केंद्रीय विषय 'संस्कार निर्माण की पौधशाला है बाल साहित्य' पर बीज वक्तव्य देते हुए कहा कि बाल साहित्य वास्तव में बच्चों की पौधशाला ही है और बच्चा जो ग्रहण कर ले, सीख ले, वही सही मायने में सफल बाल साहित्य है। बच्चा देश का भावी नागरिक होता है अतः उसे बाल साहित्य के माध्यम से संस्कारी बनाने की वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

पुस्तक लोकार्पण

'सलिल प्रवाह' विशेषांक और 'दी ऑरबिट आई' पुस्तक का लोकार्पण गरिमामय मंच की उपस्थिति में हुआ। इससे पूर्व डॉ. संजीव कुमार का सम्मान मुख्य संपादक डॉ. विमला भंडारी, संपादक प्रकाश तातेड़, प्रबंध संपादक जगदीश भंडारी एवं सदस्य मनीला पोरवाल द्वारा मेवाड़ी पगड़ी, शॉल एवं उपरना ओढ़ाकर किया। तत्पश्चात प्रतियोगिताओं के संकलनों 'आत्मकथाओं का सागर' और 'जीवनियों की गुल्लक' का लोकार्पण पुरस्कार विजेताओं एवं निर्णायकों के सान्निध्य में हुआ।

सम्मान एवं पुरस्कार

पुरस्कार एवं सम्मान की कड़ी में सर्वप्रथम सलिला विशिष्ट साहित्यकार सम्मान डॉ. सतीश कुमार एवं सलिला

साहित्यरत्न सम्मान नीलम राकेश को दिया गया। जीवनी लेखन विधा के विजेताओं में उपस्थित प्रथम विजेता के रूप में डॉ. शील कौशिक एवं नमिता सिंह, द्वितीय विजेता के रूप में उपस्थित तरुण कुमार दाधीच, डॉ. इंदु गुप्ता एवं डॉ. लता अग्रवाल और श्रेष्ठ लेखन विजेता के रूप में नीरज शास्त्री एवं शिल्पी पांडे को पुरस्कृत किया गया। सभी को सम्मानस्वरूप माला, उपरना, शाल, मानधन और अभिनंदन-पत्र भेंट कर अलंकृत किया।

सम्मान की श्रृंखला में नया मोड़ आ गया जब डॉ. सतीश कुमार ने जयपुर के राष्ट्रीय स्तर के प्रतिष्ठित प्रकाशक 'साहित्यागार' के मुख्य प्रबंधक हिमांशु वर्मा द्वारा भेजा गया अभिनंदनपत्र पढ़कर सुनाया, जिसमें उल्लिखित है कि डॉ. विमला भंडारी द्वारा रचित एवं हमारे द्वारा प्रकाशित कृतियों को समय-समय पर पाठकों से राष्ट्रीय स्तर पर अतिशय प्रशंसा मिली है। उनकी तरफ से राजेन्द्र मोहन शर्मा ने डॉ. विमला भंडारी का उत्कृष्ट साहित्यकार के रूप में शाल और ओढ़ाकर और नववर्ष की डायरी भेंट कर सम्मान किया।

पुस्तक समीक्षा

संपादक प्रकाश तातेड़ द्वारा 'सलिल प्रवाह 2023' पर विचार व्यक्त किये गये। उन्होंने कहा कि 'सलिल प्रवाह' के प्रकाशन का कार्य बाल साहित्यकार सम्मेलन की यात्रा के साथ 2010 से निरंतर चल रहा है। सलिल प्रवाह के बाल साहित्यकारों पर केंद्रित विशेषांक जानकारी दी। विभिन्न स्तम्भ के माध्यम से संग्रहित सामग्री की महत्त्वपूर्ण उपादेयता, गतिविधियों की भी विस्तृत चर्चा की। मधु माहेश्वरी ने 'आत्मकथाओं का सागर' पुस्तक की सारगर्भित समीक्षा प्रस्तुत की।

अतिथियों द्वारा उद्बोधन

मुख्य अतिथि पद से सम्बोधित करते हुए डॉ. संजीव कुमार ने कहा कि प्रत्येक बाल साहित्यकार को बाल मनोविज्ञान को समझते हुए बाल साहित्य का सृजन करना चाहिए। उन्होंने जोर देकर कहा कि बच्चों को पुस्तक पठन की ओर प्रेरित करना वर्तमान समय की महती आवश्यकता है। भूत-प्रेत, जादू-टोना, अंधविश्वास आदि से संबंधित रचनाओं के सृजन से बचना चाहिए। बच्चों में पठन प्रवृत्ति का विकास हो इसके लिए अभिभावको को बच्चों के सामने कुछ ना कुछ पढ़ते रहना चाहिए। बच्चों को हिंदी और उनकी क्षेत्रीय भाषा का ज्ञान अनिवार्यतः कराया जाना चाहिए। उन्होंने उनकी संस्थागत गतिविधियों का परिचय कराते हुए सभी से सहभागिता करने का आह्वान भी किया। प्रो. उमाशंकर शर्मा ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि बाल साहित्य ऐसा साहित्य है जो बच्चों के मानसिक पोषण एवं सर्वांगीण विकास में सहयोग करता है। डॉ. के. एल. कोठारी का कहना था कि बच्चों में राष्ट्रभाषा का ज्ञान अतिआवश्यक है। डॉ. ज्योतिपुंज ने सभी मंचासीन अतिथियों की कर्मनिष्ठा का परिचय देते हुए सलिला संस्था की स्थापना, उसके नामकरण और इतिहास पर प्रकाश डाला। सलिला का विस्तार रूप 'सलूम्बर के लिखनेवालों का लालित्यपूर्ण लेखन' है। हाड़ीरानी के इतिहास को ख्यातनाम बनाने का श्रेय डॉ. विमला भंडारी को ही दिया। राजेन्द्र मोहन शर्मा ने बाल साहित्य की रचना करने एवं पाण्डुलिपियाँ तैयार कर अकादमी को भेजने का सभी बाल साहित्यकारों को आह्वान किया। डॉ. शील कौशिक ने सभी बाल रचनाकारो से अधिक से अधिक बाल साहित्य का सृजन करने, उसे बच्चों तक पहुँचाने और बच्चों के अनुरूप निर्माण करने का अनुरोध किया। संचय जैन ने अध्यक्षीय उद्बोधन में बाल साहित्य के सृजन को साहित्य जगत का सागर कहा। उन्होंने बताया कि डॉ. विमला भंडारी का बाल साहित्य सृजन कथनी और करनी में भेद नहीं दर्शाता है। बाल साहित्य वास्तव में बच्चों के संस्कार निर्माण में पौधशाला का कार्य करता है। जगदीश भंडारी ने सभी सम्मानित अतिथियों, साहित्यकारों, समाज के प्रतिष्ठित महानुभावों और परिवारजन के प्रति हार्दिक आभार प्रकट किया। पुत्र-पुत्रवधू (रुचिर भंडारी दीपमाला) की वेडिंग एनिवर्सरी एवं पौत्र (जोना) के जन्मदिन के उपलक्ष्य में केक काटकर समारोह में चार चाँद लगा दिए गए और यह समारोह के साथ नवाचार साबित हुआ।

द्वितीय सत्र : जीवनी विधा पर पैनल चर्चा

द्वितीय सत्र में राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली द्वारा "बाल साहित्य में जीवनी विधा लेखन" पर पैनल चर्चा आयोजित की गई, जिसकी अध्यक्षता वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. संजीव कुमार ने की। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास की ओर आये संयोजक द्विजेन्द्र कुमार ने मंच संचालन किया। विषय प्रवेश करते हुए उन्होंने प्रौढ़ साहित्य में लिखी जाने वाली और बाल साहित्य में लिखी जाने वाली जीवनी अंतर और उसकी उपयोगिता को रेखांकित करते हुए लेखन के विभिन्न कौशल पर अपनी बात रखी। विषय विशेषज्ञ डॉ. सतीश कुमार ने जीवनी लेखन विधा की विशेषताओं को इंगित करते हुए बताया कि लेखन ऐसा हो जो बच्चों की जिज्ञासाओं को शांत करे। उनकी उत्सुकता बढ़ानेवाला तथा उनके भविष्य निर्माण में सहायक सिद्ध हो। लेखन में संवाद की अधिकता रहे तथा भाषा सरल, सटीक और आयु वर्ग के स्तर को देखते हुए हो।

प्रकाश तातेड़ ने बाल जीवनी विधा का विस्तार से विश्लेषण करते हुए कहा कि जीवनी लेखन में उपयुक्त चरित्र का चयन किया जाना चाहिए। एक से अधिक जीवनी की पुस्तकों का स्वाध्याय कर फिर सृजन करें। स्त्रोत का चयन का उचित रूप से उपयोग किया जाना चाहिए। प्रस्तुतीकरण में प्रारंभ व अंत सही ढंग से हो। बाल जीवनी अधिक बड़ी ना हो। इसमें अनावश्यक बातें, जिसका वर्तमान समय में कोई औचित्य नहीं होना हो। शब्द सीमा और वर्तनी की शुद्धता पर भी ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। डॉ. संजीव कुमार ने कहा कि जीवनी का पहला पैराग्राफ जिज्ञासा बढ़ानेवाला हो। वह दृष्टांत आधारित हो। वह ऐतिहासिक तथ्यों पर अवलम्बित हो। कॉपीराइट का उल्लंघन ना हो इसका अवश्य ध्यान रखा जाए। बालिका पाखी जैन ने अपनी स्वरचित कविता बड़े ही आत्मविश्वास के साथ सुनाई। इस प्रकार से वरिष्ठ साहित्यकारों के बीच बाल साहित्यकार को प्रोत्साहन दिया गया।

समीक्षक हरसन मेघवाल ने 'दी ऑरबिट आई' बाल उपन्यास पर समीक्षा प्रस्तुत की। यह उपन्यास बच्चों में नई सोच विकसित करने में बहुत सहायक है। डॉ. शील कौशिक ने 'जीवनियों की गुल्लक' पर समीक्षात्मक टिप्पणी करते हुए कहा कि यह पुस्तक जीवनियों की गागर में सागर है। डॉ. विमला भंडारी ने जीवनी विधा में लेखन में नवीन आयामों के रूप प्रस्तुत करते हुए कहा कि इसमें विविधता हो जो जोड़ने में सक्षम हो। लेखन ऐसा हो कि बच्चों को बांधे रखें। इसमें नाटकीयता, रहस्यमयता, गोपनीयता हो। जीवनी लेखन में सार्थकता का होना आवश्यक है।

मेजर शक्तिराज कौशिक और रेखा लोढ़ा ने जीवनी में अनछुए पहलुओं के चयन पर जोर दिया। लता अग्रवाल ने जीवनी में व्यक्ति के संपूर्ण जीवन के संघर्षों और उपलब्धियों को समाहित करने पर बल दिया। गंगाधर शर्मा ने कहा कि जीवनी सत्य घटनाओं पर आधारित होती है। यह बहुत कठिन विधा है। अतः इसकी सावधानीपूर्वक रचना की जानी चाहिए। कुसुम अग्रवाल ने जीवनी में रोचकता को महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहा कि इसकी शुरुआत किसी घटना से हो। डॉ. सत्यनारायण 'सत्य', नंदकिशोर निर्झर, बनवारी लाल पारीक, अनीता गंगाधर, शकुंतला पालीवाल, सरोज शर्मा, डॉ. पंकज वीरवाल, मुकेश राव, डॉ. गोपाल 'राजगोपाल, श्याम मठपाल, दीपा पं. मंगल कुमार जैन, पाखी जैन, माधव नागदा, नगेन्द्र मेहता, प्रमोद सनाढ्य, जगदीश तिवारी, वीना गौड, डॉ. कमल प्रकाश तलेसरा, प्रो. निर्मला गर्ग, शकुंतला पालीवाल, गरिमा शर्मा, डॉ. मंजू चतुर्वेदी, डॉ. इंदिरा जैन, डॉ. अनीता जैन, किरण बाला जीनगर, रीना मेनारिया, डॉ. निर्मला शर्मा आदि साहित्यकारों की गरिमामय सहभागिता रही। सत्यनारायण चौखड़ा, बृजगोपाल माहेश्वरी, पुरुषोत्तम मंडोर, रामनारायण कोठारी, सत्यनारायण माहेश्वरी, पुरुषोत्तम शास्त्री, डॉ. प्रकाश नेभानानी, विष्णु भंडारी, लक्ष्मीनारायण भंडारी, डॉ. दिवाकर दाधीच, मनमोहन पोरवाल आदि गणमान्य नागरिकों की उपस्थिति ने समारोह को गरिमा प्रदान की। अंत में समारोह का समापन समवेत स्वर में राष्ट्रीय गान के साथ हुआ।

अंततः

किसी दल की बैसाखी नहीं थामने वाले मेरे रामदरश मिश्र

प्रेम जनमेजय

रामदरश मिश्र ने मुझे कभी अनुगामी नहीं माना, कभी बस्ते में अपनी महिमा ढोने के लिए नहीं कहा और न ही मेरे माथे पर अपनी महिमा का बलात् चंदन लगाया। उन्होंने तो मुझे अपना सहयात्री माना है, कनिष्ठ सहयात्री। केवल माना ही नहीं है, अपितु लिखा भी है। 1999 में उन्होंने मुझ पर एक संस्मरण भी लिखा था- मेरा कनिष्ठ साहित्य सहयात्री। 1999 से पूर्व मैंने रामदरश मिश्र जी पर कुछ नहीं लिखा था, पर रामदरश मिश्र ने बिना अपने वरिष्ठ होने का अंहकार पाले अपने कनिष्ठ साहित्य सहयात्री पर बहुत कुछ लिख दिया।

चावल के दाने से कुछ कण प्रस्तुत हैं- हम लोगों को शिष्य बहुत मिलते हैं, किन्तु अच्छे शिष्यों का मिलना हमारे लिए भी उपलब्धि होता है और अच्छे शिष्यों में रचनाशील शिष्य मिले तो क्या कहने। रचनाशील शिष्य में भी ऐसे शिष्य मिल जाये तो शिष्य और गुरू के बीच बने संबंध को न पूरे मन से निभाते रहे बल्कि उतरोरत्तर सघनता बढ़ाते रहे तो फिर क्या कहने। प्रेम जनमेजय भी ऐसे ही शिष्यों में हैं। मैं उसे अपना कनिष्ठ साहित्यकार सहयात्री मानता हूं।'' वे बड़े होने के मद में युवाओं की भीड़ नहीं जुटाते हैं जो चारण-भांटों की तरह उनकी विरुदावली गाये और चरणों को कमल करती रहे। इसलिए रामदरश जी मेरे केवल अग्रज रचनाकार और अध्यापक नहीं हैं।

वे संबंधों को संबंधों की तरह जीने वाले हैं जो आपको भी स्पेस देता है।

मैं उनसे कितना कनिष्ठ हूँ, बताऊं? रामदरश जी का पहला संग्रह 1951 में आया था। मेरा जन्म 1949 का है। 1951में तो दो बरस का मैं, इलाहबाद के पैलेस सिनेमा के पीछे किसी घर में ठीक से चल भी नहीं पा रहा था। 1969 में जब मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय की आर्ट्स फैक्ल्टी में पांव रखे थे और साहित्य में घुटनों-घुटनों चल रहा था तब उसे आंगन में डॉ. नगेद्र, डॉ. स्नातक, डॉ. निर्मला जैन जैसे अन्य गुरुओं के साथ मिश्र जी जैसे गुरु भी मिले। ऐसे मिले कि उन्हीं के शब्दो में कहूँ :

''लोग यों तो रोज ही आते रहे, आते रहे आज लेकिन आप आये पास तो अच्छा लगा।'

यह अच्छा लगना निरंतर है। क्यों है? रामदरश मिश्र जी अपने से बाद की पीढ़ी को न केवल गंभीरता से लेते हैं अपितु उनके माध्यम से स्वयं को अद्यतन करते हैं। युवा पीढ़ी को लेकर उनकी सोच अमेरिकी कवि फिलिप लेविन जैसी है। अमेरीकी कवि और कैलिफोर्निया स्टेट यूनिवर्सिटी फ्रैंसो में अग्रेजी विभाग में प्रोफेसर रहे कवि फिलिप लेविन ने, युवा स्वर को सुनने और जानने की आवश्यकता को लेकर कभी कहा था,'' Listen to these young poets and you'll discover the voice of the present and hear the voice of the future before the future is even here.

रामदरश मिश्र जी का जन्म देश की स्वतंत्रता से पूर्व हुआ है पर उनका जन्मदिन भारत की स्वतंत्रता का जन्मदिन है। यह दिन रामदरश मिश्र जी के यहां साहित्यिक उत्सव का दिन भी होता है। पिछले अनेक

वर्षों से, एकाध वर्ष को छोड़कर, उनके निवास पर, मुझ जैसे उनके अनेक शुभचिंतक एकत्रित होते हैं। यह मिलन उन्हीं की तरह सादगी और आत्मीयता से भरा रहता है। इस विशेष दिन के लिए कोई विशेष निमंत्रण नहीं होता, जाकि रही भावना जैसा कुछ होता है। लगभग हर वर्ष रामदरश मिश्र जी की कोई कृति आती है और उसका लोकार्पण भी होता है।

वैसे तो लोकार्पण किसी वरिष्ठ-गरिष्ठ साहित्यकार द्वारा कराने का साहित्यिक प्रोटोकाल है, पर मिश्र जी के यहां की सादगी में हर तरह के प्रोटोकाल का प्रवेश निषिद्ध है। यही कारण है कि लोकार्पण स्वनामधन्य नहीं करता है अपितु उनका कनिष्ठ या कनिष्ठतम सहयात्री करता है। मुझे उनकी ऐसी कृति का लोकार्पण करने का गर्व प्राप्त है जिसे साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला।

अगस्त 2012 में उन्होंने मुझसे 'आग की हँसी' को लोकार्पण करवाया था। अपना अठ्ठासीवां जन्मदिन मनाने वाला वरिष्ठ साहित्यकार ने तरेसठ वर्ष के अपने शिष्य से, पुस्तक लोकार्पित करने को कहा था। मिश्र जी और मेरा लोकार्पणीय चित्र अगले दिन 'दैनिक हिंदुस्तान' में समाचार के साथ प्रकाशित भी हुआ था। इसी कृति पर उन्हें 2014 का साहित्य अकादमी सम्मान मिला था।

'आग की हँसी' जब साहित्य अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत हुई तो मुझे इसलिए भी अच्छा लगा कि मिश्र जी के लेखन माध्यम से व्यंग्य चेतना संपन्न कविता भी रेखांकित हो रही है। मिश्र जी में गजब की व्यंग्य चेतना है। यदि कोई रामदरश जी की व्यंग्य चेतना से साक्षात्कार करना चहता है तो उसे 'आग की हँसी' अवश्य पढ़नी चाहिए। मैं कहूंगा कि व्यंग्य की आग में जिस हॅंसी की हम बात करते हैं वह ऐसी ही हँसी होती है। व्यंग्य को हास्य का पर्याय मान नाक भौं मत सिकोड़ें, इस संग्रह की महत्वपूर्ण कविता 'विश्वग्राम' से एक अंश साझा कर रहा हूं-

''हमारे देश में भी
आर्थिक विकास का रथ शान से आगे बढ़ता जा रहा है
मदभरा कोलाहल करता हुआ
उस पर सवार है
राजनीति, धर्म, व्यवसाय, मीडिया, प्रशासन आदि के चमकीले चेहरे,
नीचे गिरे हुए तमाम लोग
उसे अचरच से देख रहे हैं एक-टक
और आपस में पूछ रहे हैं
यह किसका रथ है और कहां जा रहा है।''

कुछ और बानगियां साझा करने का मन है। देखें:

''डाक्टर हड़ताल पर हैं
और पुलिस ड्यूटी पर
देखिए, इस अस्पताल का क्या होता है!''

शायद यही कारण है कि 'व्यंग्य यात्रा' को उसके जन्म, 2004, से न केवल रामदरश मिश्र जी की शुभकामनाएं मिल रही हैं अपितु रचनात्मक सहयोग भी मिल रहा है। यही नहीं जब मैंने व्यंग्य यात्रा का अंक 4,'व्यंग्य कविता हाशिए पर क्यों जैसे सवाल पर केंद्रित किया तो उन्होंने बिना वरिष्ठ लेखकीय अहंकारी स्नॉब के, लगभग लौटती डाक से अपने हस्तलेख में , व्यंग्य चेतना संपन्न कविताएं -'इंतजार, मृत्युबोध, नया साल, देश, वसंत, सहचर्य की यातना, समय और युगधार्म भेज दीं। चावल के दाने के रूप में आपसे 'इंतजार' साझा करता हूं-

इंतज़ार
हर चौराहे पर
दुर्घटनाग्रस्त होकर तड़प रहा है
एक देश
और हम
डॉक्टर के बदले
पुलिस का इंतज़ार कर रहे हैं।''

अक्सर मुक्तिबोधीय सवाल किया जाता है,'तय करो किस ओर हो तुम?' यह सवाल रामदरश मिश्र की

रचनाओं से भी किया जाना चाहिए। हर सजग पाठक को अधिकार है कि वह जान सके कि उसका आदर्श रचनाधर्मी क्या सोच रखता है? वह समाज के किस तबके के साथ है। 'किसके साथ हैं को दो तरह से आंका जाता है। एक तो सीधा-साधा सवाल कि आप किस राजनीतिक दल के संरक्षण में पनप रहे 'साहित्यिक,सांस्कृतिक,कला आदि 'संघ' के सदस्य हैं?

मुझे वे सदा वंचितों के साथ दिखाई देते हैं। यही कारण है कि वे किसी दल की बैसाखी थाम छलांगें लगाने में विश्वास नहीं करते हैं। वे वंचित के साथ हैं। अपनी रचनाओं के द्वारा, इस सोच से वे अपने पाठक को निरंतर समृद्ध करते रहते हैं।

भ्रष्टाचारी से सवाल करो तो वह आपसे पलट सवाल करता है कि कौन भ्रष्टाचारी नहीं है? यहाँ तक की सब्जीवाला, कामवाली बाई, रिक्शेवाला, सब। हर झोपड़ी में टीवी, फ्रिज कैसे आया। कुछ ऐसे ही सवाल उनकी कहानी 'चिकित्सक' में उठत है तो मिश्र जी लिखते हैं, ''वाह माँ, तुम तो कवि हो गयी हो। लेकिन आज कविता से काम नहीं चलता । और जिन्हें तुम गरीब कह रही हो, उनकी झुग्गियों में जाकर देखो, वहाँ क्या नहीं है । देखा है–

''झुग्गियों में जाकर तो नहीं देखा है, लेकिन स्कूल में झुग्गियों की व्यथा-कथा रोज देखती हूँ। और बेटे, इतनी स्थूल दृष्टि से दुनिया को मत देखो। तुमने कुछ झुग्गियों में रेडियो, टी.वी. आदि देख लिये तो समझने लगे कि वे बहुत अमीर हो गये। अरे, ये जो जिन्दगी जीते हैं, उसका जहर कुछ कम करने के लिए ये चीजें साधन हैं, ऐसा क्यों नहीं समझते? क्या उनके इतने छोटे से सुख से ऊँचे लोगों को जलन होने लगी और वे समझने लगे कि उनकी सारी समस्याएँ हल हो गयीं? तुम मेरे पुत्र हो और मैं चाहती हूँ कि तुम बीमारों को केवल डॉक्टर की दृष्टि से मत देखो, मनुष्य की भी दृष्टि से देखो।''

कभी मैंने 'अपने' रामदरश मिश्र पर लिखा था,''वे गंवई गुलाब हैं पर वैसे नहीं जिसके बारे में बिहारी ने चिंता व्यक्त की थी कि जिसका कोई आदर नहीं और जिसकी नियति फूल्यो अनफूल्यो भली वाली है। वे निराला के शहरी गुलाब भी नहीं हैं जो खाद का खून चूसने वाला अशिष्ट है डाल पर इतराते कैपिटिलिस्ट ने कितनो को गुलाम बना लिया है। वे भवानी प्रसाद मिश्र का भी गुलाब नहीं हैं जो राजनीतिक गुलाब है और केवल शांतिवन में खिलता है। रामदरश मिश्र का विविध मुखी साहित्य गुलाब की एक-एक पंखुड़ी है जो अकेले और समूह में एक जैसी गंध देती है। ये वह गुलाब है जिसके बारे में शेक्सपियर ने कभी रोमियो जूलियट में कहा था कि गुलाब को किसी नाम से पुकारें वे वैसा ही मधुर और सुगंधित होगा जैसा वह है। रामदरश मिश्र नामक इस गंवई गुलाब में उनके जैसे सहज लोगों के लिए मधुरता है तो मानवीय मूल्यों के विरोधियों के लिए कांटे भी हैं।

चाल ढाल भी मामूली है
रहन सहन भी है देहाती
नहीं घूमता महफिल महफिल
ताने नजर फुलाए छाती
लोगों में ही गुम होकर
लोगों सा ही हँसता जाता है
कोई नहीं राह में कहता--
वह देखो लेखक जाता है।

फार्म-5

समाचार पत्र के स्वामित्व एवं अन्य विवरणों सम्बन्धी उद्घोषणा, जिसे प्रत्येक वर्ष के प्रथम अंक में फरवरी के अन्तिम दिवस के बाद प्रकाशित किया जाना है।

1. **प्रकाशन का स्थान :** सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301, गौतमबुद्ध नगर, (दिल्ली एनसीआर)

2. **प्रकाशन का समय काल :** त्रैमासिक

3. **मुद्रक का नाम :** बालाजी ऑफसेट,
राष्ट्रीयता : भारतीय
एड्रेस : (न्यू-एम-28), 1/11844, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

4. **प्रकाशक का नाम** : डॉ. संजीव कुमार
राष्ट्रीयता : भारतीय
एड्रेस : सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301, गौतमबुद्ध नगर, (दिल्ली एनसीआर)

5. **सम्पादक का नाम :** डॉ. संजीव कुमार
राष्ट्रीयता : भारतीय
एड्रेस : सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301, गौतमबुद्ध नगर, (दिल्ली एनसीआर)

6. समाचार पत्र का स्वामित्व रखने वाले व्यक्ति ओर साझेदार या अंशधारक जो कुल पूंजी का 1 प्रतिशत से अधिक धारित करते हों, का नाम और पता (100 प्रतिशत), डॉ. संजीव कुमार

मैं डॉ. संजीव कुमार, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरे संज्ञान एवं विश्वास में सत्य है।